

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु
चरन्ति ॥ १२ ॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त एवं धनञ्जय- ये दस तरह के वायु इन समस्त नाडी-संस्थानों में विचरण करते रहते हैं ॥ १२ ॥

आस्यनासिकाकण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यथश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति । श्रोत्राक्षि-
कटिगुल्फघ्राणगलस्फगदेशेषु व्यानः संचरति । गुदमेद्रोरुजानूदरवृष्णिकटिजङ्घानाभिगु-
दागन्यगरेष्वपानः संचरति । सर्वसंधिस्थ उदानः । पादहस्तयोरपि सर्वगत्रेषु सर्वव्यापी समानः ।
भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन्द्विसप्तिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु चरन्समानवायुरग्निना
सह साङ्घोपाङ्घकलेवरं व्याप्नोति । नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसंभवाः । तुन्दस्थं जलमन्त्रं
च रसादिषु समीरितं तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात् । अग्रेऽपरि जलं स्थाप्य जलोपर्य-
न्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम् । वायुना
पालितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति । ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलमत्यु-
ष्णामकरोत् । जलोपरि समर्पितव्यञ्जनसंयुक्तमन्त्रं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्षमकरोत् । तेन
स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात् । समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु
रसं व्यापयञ्छ्वासरूपेण देहे वायुश्चरति । नवभिव्योमरन्धैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति
विष्मूत्रादिविसर्जनम् । निश्चासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मच्यते । विष्मूत्रादिविसर्जनमपानवा-
युकर्म । हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म । देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म । शरीरपोषणादिकं
समानकर्म । उद्धारादि नागकर्म । निमीलनादि कूर्मकर्म । क्षुत्करणं कृकरकर्म । तन्द्रा देवदत्त-
कर्म । श्रेष्ठादि धनञ्जयकर्म ॥ १३ ॥

मुख, नासिका, गला, नाभि, पैर के दोनों आँगूठे तथा कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊर्ध्व के भागों में प्राणतत्त्व विचरण करता रहता है । कर्णेन्द्रिय, नेत्र, कमर, गुल्फ, नासिका, गला एवं कूलहे के क्षेत्रों में व्यान भ्रमण करता रहता है । गुदा, लिंग, जानु, पेट, वृष्ण, कटि प्रदेश, नाभि और अग्निसंस्थान में अपान संव्यास रहता है । समस्त संधि अर्थात् जोड़ के संस्थानों में उदान सतत विचरण करता रहता है । पैर, हाथ एवं अन्य सभी अंग-अवयवों में समान संव्यास रहता है । खाये हुए अन्न के रस को शरीर की अग्नि के साथ संव्यास करके समान वायु बहतर हजार नाड़ियों के मार्ग में विचरण करता रहता है एवं अग्नि के साथ सांगोपांग शरीर में विद्यमान रहता है । नाग आदि पाँच प्रकार की वायु त्वचा, अस्थि आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं । उदर में रहने वाले जल तथा अन्न को रस आदि के रूप में ले जाकर पेट में रहने वाला प्राण-वायु पृथक्-पृथक् करता है । आग के ऊपर जल रखकर तथा जल के ऊपर अन्न आदि प्रतिष्ठित कर स्वयं अपान के पास पहुँचकर वायु तत्त्व इसी अपान के साथ शरीर में स्थित अग्नि की ओर गमन करता है । अपान वायु से रक्षित अग्नि शरीर के मध्य में मन्द-मन्द प्रज्वलित रहता है । यह अग्नि अपनी ज्वाला एवं प्राण-वायु के द्वारा कोठे के मध्य में स्थित रहने वाले जल को खूब गर्म करता है और उस पानी के ऊपर रखे शाक-दाल के सहित अन्न को प्राणवायु, अग्नियुक्त जल के द्वारा पकाता अर्थात् पचाता है तथा उसी में से पसीना, मूत्र, खून, वीर्य, रस, विष्ठा (मल) आदि को पृथक्-पृथक् करता है । तदनन्तर समान वायु के साथ-साथ समस्त नाड़ियों में रस को प्रसारित करता हुआ प्राण-वायु श्वास के रूप में

शरीर में विचरण करता रहता है। शरीर के नौ व्योमरन्ध्रों (घटाकाश के छिद्रों) के द्वारा वायु, मल, मूत्र आदि को बाहर निष्कासित करता है। श्वासोच्छ्वास तथा खाँसी यह दोनों ही प्राण तत्त्व के कर्म कहलाते हैं। मल-मूत्र का बहिर्गमन कराना अपान वायु का कार्य कहलाता है। त्याग करना एवं स्वीकार करना आदि चेष्टाएँ व्यान का कार्य कहलाती हैं, शरीर का उन्नयन उदान का कार्य कहलाता है। शरीर को पोषण प्रदान करना समान का कार्य कहलाता है। डकार आदि नाग का कार्य है। पलक झपकाना कूर्म का कार्य है, भूख लगना कृकर का कार्य है। आलस्य देवदत्त का कार्य है तथा कफ आदि का उत्पन्न करना धनञ्जय का कार्य कहलाता है॥१३॥

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात् ॥ १४ ॥

इस तरह से नाड़ी-संस्थान, वायु-संस्थान एवं उन सभी के कार्यों को ठीक तरह से जान-समझ कर नाड़ी को शुद्ध करना चाहिए॥ १४॥

॥ पंचमः खण्डः ॥

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसम्भविवर्जितः कृतविद्याः सत्यधर्मरतो जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचारविद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मधोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिङ्गं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन्योगं समारभेत् ॥ १ ॥

जिस पुरुष ने विद्या का अभ्यास किया हो, उसको यम-नियम से युक्त होकर सभी तरह की संगति का परित्याग करके सत्य रूपी धर्म में आरूढ़ होना चाहिए। क्रोध की वश में रखना, गुरु की सेवा शुश्रूषा में सतत लगे रहना, माता-पिता के आश्रित (संरक्षण में) रहना तथा पुनः अपने आश्रम में बताये गये श्रेष्ठ आचरण को समझने वाले के समीप में शिक्षा पाकर के फल, मूल तथा जलयुक्त तपोवन में जाना चाहिए। वहाँ जाकर सुरम्य प्रदेश में ब्रह्मधोष से युक्त, अपने धर्म में परायण ब्रह्मवेत्ताओं के सानिध्य में तथा फल-मूल, पुष्प एवं जल आदि से परिपूर्ण किसी भी देव-स्थल में या नदी के तट पर किसी गाँव या शहर में अनुपम श्रेष्ठ मठ बनाना चाहिए। वह स्थान न तो बहुत ऊँचा हो और न ही अत्यन्त नीचा ही हो, न तो बहुत लम्बा तथा न ही अति चौड़ा ही हो। छोटे दरवाजे वाला, गोमय आदि से लीपा हुआ एवं पूर्णरूपेण सुरक्षित होना चाहिए। वहाँ वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरुष को निरन्तर योगाभ्यास आदि आरम्भ कर देना चाहिए॥ १ ॥

आदौ विनायकं संपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राइमुख उद्इमुखो वापि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान्समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भूमध्ये शशभृद्विष्वं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत् । द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत्पिङ्गलया । पुनः पिङ्गलयाऽपूर्य कुम्भत्वा रेचयेदिडया ॥ २ ॥

देवों में प्रथम पूज्य गणपति का पूजन करने के पश्चात् अपने इष्टदेव को नमन-वंदन करके पूर्व में कहे गये आसन पर बैठना चाहिए। उस समय पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख रखना और सुकोमल आसन पर आसीन होकर के आसन को जय (सिद्ध) करना चाहिए। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को गर्दन और मस्तक को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। दोनों भौंहों के मध्य चन्द्रमण्डल को देखना तथा दोनों नेत्रों से अमृत तत्त्व का पान करना चाहिए। इसके बाद बारह मात्राओं से इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु

खींचकर उसे पेट के अन्दर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त, रेफ और बिन्दु सहित अग्नि मण्डल से संयुक्त करने का ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए तथा इसके बाद पिंगला नाड़ी द्वारा अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए। तदनन्तर पिंगला से वायु भरकर अन्तःकुम्भक करके इड़ा नाड़ी से उसे बाहर निकालना चाहिए ॥ २ ॥

त्रिचतुस्त्रिचतुःसप्तर्णं त्रिसंधिषु तदन्तरालेषु च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशु-द्विर्भवति । ततः शरीरे लघुदीमिवहिवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्भवति ॥ ३-४ ॥

इस तरह से ४३ दिन (त्रिचतुः=४३), तीन, चार या सात मास (त्रि चतुः सप्त) अथवा एक वर्ष (त्रिचतुः $3 \times 4 = 12$ मास) पर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या के साथ तीन-तीन अथवा चार-चार बार तथा उनके मध्य में छः बार तक अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से नाड़ी की शुद्धि हो जाती है। तदनन्तर इस अभ्यास से शरीर में हल्कापन, चेहरे में चमक (कान्ति), अग्नि की अभिवृद्धि तथा नाद श्रवण होने लगता है ॥ ३-४ ॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति । रेचकपूरककुम्भकभेदेन स त्रिविधः । ते वर्णात्मकाः । तस्मात्प्रणव एव प्राणायामः ॥ १-२ ॥

प्राण तथा अपान को एकत्रित कर देना ही प्राणायाम होता है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। वे रेचक, पूरक, कुम्भक (प्राणायाम) वर्ण के स्वरूप से युक्त हैं इस कारण प्रणव ही प्राणायाम कहलाता है ॥ १-२ ॥

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रे शशभृद्विम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंस-वाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति । उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी ताक्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति । मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति ॥ ३ ॥ अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परञ्ज्योतिः प्रणवं भवतीति ॥ ४ ॥

पदम आदि किसी भी आसन पर आसीन होकर पुरुष को ध्यान करना चाहिए- ‘नासिका’ के अग्रभाग पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से आवृत, लाल रंग के अंगवाली, हंस पर आसीन, अपने हाथ में दण्ड को धारण किये हुए, बालरूप, ‘अ’ कार मूर्ति से युक्त ‘गायत्री’ हैं। ‘उ’ कार मूर्ति सावित्री श्वेत-शुभ्र अंग से युक्त, गरुड़ के आसन पर प्रतिष्ठित युवावस्था से युक्त, अपने हाथ में चक्र धारण किये हुए हैं। इसी तरह से ‘म’ कार मूर्ति सरस्वती कृष्णांगी, वृषभ पर आसीन, वृद्धावस्था को प्राप्त, अपने हाथ में त्रिशूल को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार ‘अ’ कार आदि तीनों वर्णों का सम्मिलित रूप ‘ॐ’ है तथा वह सम्पूर्ण का कारण एकाक्षर स्वरूप परम ज्योति है। ऐसा चिन्तन करना चाहिए ॥ ३-४ ॥

ध्यायेत् इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन्पूरितं वायुं चतुःषष्ठिमात्राभिः कुम्भयित्वोकारं ध्यायन्पूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकारमूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः-पुनः कुर्यात् ॥ ५ ॥

इस ध्यान के पश्चात् पुनः इड़ा नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु सोलह मात्रा में खींचे तथा उस समय ‘अ’ कार का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद इसी वायु को चौंसठ मात्रा में अन्तःकुम्भक करे तथा उस समय ‘उ’ कार का ध्यान करना चाहिए तथा उसके पश्चात् पिंगला नाड़ी के द्वारा बत्तीस मात्राओं से संयुक्त उस अन्दर भरी हुई वायु को बाहर निष्कासित करे। उस समय ‘म’ कार मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार से यह क्रिया निरन्तर बार-बार करते रहना चाहिए ॥ ५ ॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचचित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेतया संपूर्य धारयेत् । तदेते श्लोका भवन्तिप्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धवा त्यजेद्वामया । सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १ ॥

इसके पश्चात् आसन के दृढ़ हो जाने पर योगी अपनी इन्द्रियों को वश में करके, दूसरों का हित चाहते हुए, स्वल्पाहार पर रहते हुए, सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल को शुष्क करने के लिए निरन्तर योगाभ्यास करता रहे । उस समय बद्धपद्मासन पर आरूढ़ हो, चन्द्र नाड़ी के द्वारा वायु को भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद सूर्य नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए । तदनन्तर सूर्यनाड़ी से पूरक करके कुम्भक करे तथा चन्द्र नाड़ी से रेचक करना चाहिए । इस प्रकार जिस नाड़ी के द्वारा रेचक करे, उसी नाड़ी से पुनः पूरक करने के बाद कुम्भक करना चाहिए । इस भाव को प्रकट करने वाले निम्न प्रकार के श्लोक वर्णित किये गये हैं— “सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी के द्वारा प्राण को अन्दर भरकर कुम्भक करे तथा दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करे । तत्पश्चात् पुनः पिंगला से पूरक करके कुम्भक करते हुए इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए । इस प्रक्रिया से सूर्य और चन्द्र नाड़ी के द्वारा प्राणायाम का प्रतिदिन निरन्तर अभ्यास करने से योगी की सभी नाड़ियाँ तीन मास में ही पूर्ण शुद्ध हो जाती हैं ॥ १ ॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान् । शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वर्णं समभ्यसेत् ॥ २ ॥

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में इसी तरह से चार बार मन्द-मन्द गति से अस्सी मात्राओं तक कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए ॥ २ ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे । उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत् ॥ ३ ॥

कनिष्ठ प्राणायाम के करते समय शरीर में पसीना आ जाता है, मध्यम स्तर का प्राणायाम करने में शरीर में कॅंप-कॅंपी छूटती है और श्रेष्ठ प्राणायाम में पद्मासन में अवस्थित योगी अपने आसन से उठ जाता है ॥ ३ ॥ जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् । दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते ॥ ४ ॥

प्राणायाम करते समय श्रम के कारण शरीर में से जो पसीना निकल आता है, उस पसीने को शरीर में मसल लेना चाहिए, क्योंकि इससे योगी का शरीर अत्यधिक मजबूत और हल्का हो जाता है ॥ ४ ॥

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराञ्ज्यभोजनम् । ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः ॥५॥

प्राणायाम का अभ्यास करते समय प्रारम्भिक अवस्था में दुआध एवं घृत के भोजन को ही अत्यधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है । तत्पश्चात् जब अभ्यास स्थिर हो जाता है, तब किसी नियम की आवश्यकता नहीं रहती ॥ ५ ॥ यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः । तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार शनैः-शनैः सिंह, गज और व्याघ्र आदि को वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार वायु भी प्राणायाम के अभ्यास से धीरे-धीरे वश में आ जाती है; लेकिन इसके विपरीत नियम से चलने पर यानी जल्दबाजी करने से वायु योगी का विनाश कर देती है ॥ ६ ॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत् । युक्तंयुक्तं च बधीयादेवं सिद्धिमवाप्न्यात् ॥ ७ ॥

अतः जिस प्रकार से ठीक बने, वैसे ही रेचक करना चाहिए, जैसे ठीक लगे, वैसे ही पूरक करना तथा ठीक लगने तक ही कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥७ यथेष्टुधारणाद्वायोरनलस्य प्रदीपनम् । नादाभिव्यक्तिरागेण जायते नाडिशोधनात् ॥ ८ ॥

यथेष्ट शक्ति के अनुसार कुम्भक करने से अग्रि प्रज्वलित होती है तथा नाडियों के शुद्ध होने से नाद-श्रवण होता है और शरीर रोगरहित हो जाता है ॥ ८ ॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते । सुषुप्तावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ९ ॥

विधि-विधान पूर्वक प्राणायाम करने से योगी के समस्त नाड़ी-समूह शुद्ध हो जाते हैं। तब सुषुप्ता नाड़ी का मुख भेदन करके वायु सुखपूर्वक उसमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते । यो मनः सुस्थिरो भावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ १० ॥

वायु जब बीच में सञ्चरित होती है, तब मन सुस्थिर होता है और जब मन की ठीक तरह से स्थिरता हो जाती है, तब उसी स्थिरता को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है ॥ १० ॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः । कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूडुयाणकः ॥ ११ ॥

साधक को पूरक के अन्त में (कुम्भक के समय) जालन्धर नामक बन्ध करना चाहिए तथा कुम्भक के अन्त एवं रेचक के प्रारंभ में उड़डियान नामक बन्ध करना चाहिए ॥ ११ ॥

अथस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते । मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ १२ ॥

नीचे की ओर मूलरन्ध्र का संकोचन करने में कण्ठ का संकोचन होता है और बीच के भाग को पश्चिम (पीछे) की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में निरन्तर गतिमान् होती रहती है ॥ १२ ॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन् । योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत् ॥ १३ ॥

अपान वायु को ऊर्ध्व की तरफ ले जाकर तथा प्राणवायु को कण्ठ से नीचे की ओर लाकर के योगी साधक वृद्धावस्था से रहित होकर सोलह वर्ष की आयु वाला हो जाता है ॥ १३ ॥

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिःस्थं पवनं समाकृष्ट्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत् । तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगसर्वविनाशनं भवति ॥ १३-१ ॥

योगी सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु को अन्दर की ओर खींचकर सिर के बालों से लेकर पैर के नख की नोंक तक में वायु को रोक कर अर्थात् कुम्भक करके बायीं नाड़ी के द्वारा वायु को बाहर निकाले अर्थात् रेचक करे। ऐसी क्रिया करने से कपाल की शुद्धि होती है और नाडियों में रहने वाले समस्त रोगों का पूर्णतया विनाश ही हो जाता है ॥ १३-१ ॥

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्ट्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छस्तिष्ठन्कुर्यात् । तेन श्लेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति ॥ १३-२ ॥

हृदय से लेकर कण्ठ पर्यन्त शब्द के साथ दोनों नासिका छिद्रों के द्वारा धीरे-धीरे वायु को खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। यह क्रिया चलते हुए तथा खड़े हुए भी करते ही रहना चाहिए, क्योंकि इस क्रिया से कफ का शमन और जठराग्नि की वृद्धि होती है ॥ १३-२ ॥

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायन्ते ॥ १३-३ ॥

मुख के द्वारा सीत्कार अर्थात् सी-सी करते हुए वायु अन्दर भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक की क्रिया करनी चाहिए। इससे भूख-प्यास, आलस्य अथवा निद्रा का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ १३-३ ॥

जिह्वा वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत् । तेन गुल्मप्लीहज्ज्वरपित्त-क्षुधादीनि नश्यन्ति ॥ १३-४ ॥

जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करके दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक करना चाहिए। इससे गुल्म (गोला), तिली, ज्वर, पित्त और भूख आदि रोगों का शमन हो जाता है ॥ १३-४ ॥

अथ कुम्भकः । स द्विविधः सहितः केवलश्वेति । रेचकपूरकयुक्तः सहितः । तद्विवर्जितः केवलः । केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमध्यसेत् । केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति । केवलकुम्भकात्कुण्डलिनीबोधो जायते ॥ १३-५ ॥

अब कुम्भक के सन्दर्भ में कहते हैं, उसके दो भेद हैं- (१) सहित और (२) केवल। रेचक तथा पूरक से जो संयुक्त हो, उसे सहित और उनसे जो रहित हो, वह केवल है। इसमें से केवल जब तक सिद्ध न हो, तब तक सहित का अभ्यास करते रहना चाहिए और जब 'केवल' कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक के द्वारा ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है ॥ १३-५ ॥

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्टवग्निर्भवति ॥ १३-६ ॥

इस सिद्धि के पश्चात् योगी-साधक कृश शरीर से युक्त, प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्रों से सम्पन्न, नाद श्रवण करने वाला, समस्त रोगों से रहित, बिन्दु को जय करने वाला (ब्रह्मचर्यसिद्ध) तथा प्रज्वलित जठराग्नि से युक्त हो जाता है ॥ १३-६ ॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता । एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥ १४ ॥

अन्तःकरण में लक्ष्य निहित हो तथा बाह्य की दृष्टि निमेष-उन्मेष अर्थात् पलक झपकने से विहीन हो, यही वैष्णवी मुद्रा है तथा इसे ही समस्त तन्त्र-शास्त्रों में गुप्त रहस्य के रूप में मान्यता प्राप्त है ॥ १४ ॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि । मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी ॥ १५ ॥

अन्तर्लक्ष्य में जिस योगी का चित्त और पवन विलय को प्राप्त हो गया हो, वह योगी साधक सतत निश्चल नेत्रों द्वारा बाहर की ओर नीचे की तरफ देखता हो, किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ न देखता हो, यही खेचरी मुद्रा है। यह केवल लक्ष्य में ही एकतान एवं मङ्गलमयी होने के कारण वैष्णवी मुद्रा भी कही जाती है। उसमें शून्य एवं अशून्य रहित परमतत्त्व अविनाशी पद रूप में प्रकाशित होता रहता है ॥ १५ ॥

अर्थोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणश्चन्द्रार्काविपि लीनतामुपनयन्निष्पन्द-भावोत्तरम् । ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाणिडल्प्यविद्धीह तत् ॥ १६ ॥

अर्थ उन्मीलित नेत्रों से युक्त, एकाग्र मनवाला तथा नासिका के अग्रभाग पर स्थित दृष्टि से सम्पन्न योगी

अचल भाव को पाने के पश्चात् सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी को भी विलय करा देता है। इस समय ज्योति रूप समस्त बाहरी विषयों से विहीन एवं दीसिमान् जो तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वही परम वस्तु के रूप में उसका विषय होता है। हे शाण्डिल्य! इस प्रकार तुम्हें जानना चाहिए॥ १६॥

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भृवौ । पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ १७ ॥ तस्मात्खेचरीमुद्रामभ्यसेत् । तत उन्मनी भवति । ततो योगनिद्रा भवति । लब्ध्ययोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति । ॥ १७.१ ॥

योगी साधक दोनों नेत्रों की पुतलियों को ज्योति से जोड़कर दोनों भौंहों को कुछ ऊँचा रखता है। यह साधक के प्रारम्भिक अभ्यास का मार्ग है और इससे क्षणमात्र में ही 'उन्मनी' स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसलिए साधक को खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए, उससे वह उन्मनी दशा को प्राप्त करता है, फिर उसे योग-निद्रा की प्राप्ति हो जाती है। जिस साधक को योग-निद्रा की प्राप्ति हो, वह योगी फिर काल के वश में नहीं होता॥ १७-१७.१ ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।

मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ॥ १८ ॥

इस कारण हे शाण्डिल्य! शक्ति के बीच में मन को केन्द्रित करो। शक्ति को मन के अन्दर गतिशील रखकर तुम मन के द्वारा मन को ही देखो तथा सुखी-समुत्तम जीवन व्यतीत करो॥ १८॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु । सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय ॥

ऐसे ही (चैतन्य) आकाश के बीच में आत्मा को स्थित करके तथा आत्मा के मध्य में (चैतन्य) आकाश को प्रतिष्ठित देखना चाहिए। इसके पश्चात् सभी को (चैतन्य) आकाशमय करके, ऐसा ध्यान करें कि इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं॥ १९॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका । सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव ॥ २० ॥

योगी को बाह्यजगत् की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार अपने भीतर की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस तरह समस्त प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करके मात्र चैतन्य स्वरूप हो जाना चाहिए॥ २०॥ कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले यथा । तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ २१ ॥

जिस तरह से कपूर अग्नि में तथा नमक जल में विलीन हो जाता है, उसी तरह से ध्यानस्थ हुए योगी का मन परम तत्त्व में विलीन हो जाता है॥ २१॥

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ २२ ॥

जो भी कुछ जानने योग्य है और जो प्रतीत होता है, उसका जो ज्ञान है, उसे ही मन कहते हैं। ज्ञान एवं ज्ञेय सभी कुछ एक ही साथ विनष्ट हो गया है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पथ नहीं है॥ २२॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् । मानसे विलयं याते कैवल्यमविश्वायते ॥ २३ ॥

ज्ञेय वस्तु का परित्याग कर देने से मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है और जब मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है, तब कैवल्य ही कैवल्य शेष रह जाता है॥ २३॥

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर । योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ २४ ॥

हे मुनीश्वर! चित्त को विनष्ट करने के दो प्रमुख मार्ग हैं- १. योग और २. ज्ञान। योग अर्थात् चित्त की वृत्तियों का शमन करना तथा ज्ञान अर्थात् वस्तु के तत्त्व को यथार्थ रूप में देखना॥ २४॥

तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत् । मनः स्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ॥ २५ ॥

मन को जब अपने वश में कर लिया जाता है, तब वह निश्चित ही शान्त हो जाता है। मन की चंचलता के शान्त होते ही इस संसार का विलय हो जाता है ॥ २५ ॥

सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा । शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ॥ २६ ॥

जिस प्रकार सूर्य की गति (आलोक) शान्त हो जाने पर संसार का व्यवहार शान्त हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों एवं सज्जनों की संगति से वैराग्य के अभ्यास का योग हो जाने से भी संसार शान्त हो जाता है ॥ २६ ॥

अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु । यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात् ॥ २७ ॥

एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते । पूरकाद्यनिलायामाददृढाभ्यासादखेदजात् ॥ २८ ॥

एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुद्ध्यते । ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् ।

सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ २९ ॥

सर्वप्रथम सांसारिक वृत्तियों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए, तत्पश्चात् लम्बे समय तक ध्यान एवं एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास हो जाने से प्राण का स्पन्दन बन्द हो जाता है अर्थात् प्राणवायु को अपने वश में कर लिया जाता है। इसी प्रकार बिना श्रम के अधिक देर तक श्वास खींचते हुए पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास तथा एकान्त चिन्तन करने से मन की गति पूर्णतया बन्द हो जाती है (मन वश में हो जाता है)। तदनन्तर ॐकार के उच्चारण के बाद शब्द तत्त्व की अनुभूति होने से सद्ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप जान लिया जाता है, तब प्राण की गति रुक जाती है अर्थात् प्राण तत्त्व को अपने वश में कर लिया जाता है ॥ २७-२९ ॥

तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टकाम् । ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥

तालु के मूल में स्थित रहने वाली ग्रन्थि को जब सतर्कतापूर्वक जिह्वा द्वारा दबाया जाता है, तब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में आ जाता है और तभी प्राणगति अवरुद्ध (अपने वश में) हो जाती है ॥ ३० ॥

प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे । अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३१ ॥

तालु से ऊर्ध्व की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण गलित (चेष्टा-शून्य) हो जाता है, तब अभ्यास मात्र से ही ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध किया जाता है ॥ ३१ ॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे । संविददृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३२ ॥

नासिका के अग्रभाग के सामने द्वादश अंगुल की दूरी पर पवित्र आकाश में ज्ञान-दृष्टि जब अत्यन्त शान्त हो जाती है, तभी प्राणों का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है ॥ ३२ ॥

भूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते । चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३३ ॥

भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शान्ति के मिल जाने से जगत् व्यापार बन्द होने लगते हैं तथा मानसिक संकल्प विराम लेते हैं, तभी प्राणगति अवरुद्ध हो जाती है ॥ ३३ ॥

ओमित्येव यदुद्धूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम् । असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३४ ॥

केवल प्रणव के स्वरूप में ही प्रादुर्भूत जो ज्ञानज्ञेय रूप तथा मंगलमय बनकर प्रकट होता है तथा जिसमें विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तभी प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है ॥ ३४ ॥

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने । अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ ३५ ॥

हे मुने! चिरकाल तक हृदय प्रदेश में एकान्त आकाश की अनुभूति होने से वासना विहीन मन ध्यान-मग्न होने लगता है। इससे प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है ॥ ३५ ॥

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः । नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥३६

इस प्रकार क्रमानुसार अन्य अनेक गुरुओं के अमृत वचनों-उपदेशों का अनुसरण करके भाँति-भाँति के संकल्पों की कल्पना के माध्यम से प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है ॥ ३६-क ॥

आकुञ्जनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ ३६-ख ॥

योगी साधक कुण्डलिनी को संकुचित करके (ऊपर खींचकर) किवाड़ को खोलकर मुक्ति का द्वार प्रशस्त करे ॥ ३६-ख ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता ।

कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति ॥ ३६-ग ॥

जिस मार्ग से गमन करना होता है, उसी मार्ग का द्वार मुख से आच्छादित करके कुण्डलिनी शयन करती है । वह तिर्यक् स्वरूप वाली सर्प की भाँति लिपटी हुई है ॥ ३६-ग ॥

सा शक्तिर्येन चालिता स्वात्म तु मुक्तो भवति । सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति । बन्धनायाधो मूढानाम् ॥ ३६-घ ॥

इस कुण्डलिनी महाशक्ति को जो योगी निरन्तर संचालित करता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है । वह कुण्डलिनी साधक के कण्ठ में ऊर्ध्व भाग की तरफ यदि शयन करती हुई हो, तो वह योगियों को मुक्ति प्रदान कर देने वाली होती है, किन्तु यदि वह कण्ठ के नीचे शयन करती हो, तो ज्ञानरहित साधकों के लिए बन्धनकारी सिद्ध होती है ॥ ३६-घ ॥

इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुप्तामार्गेणागच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ३६-ङ ॥

इडा आदि दोनों मार्गों का परित्याग करके सुषुप्ता के रास्ते उसका आगमन होता है, क्योंकि वही विष्णु का परम पद है ॥ ३६-ङ ॥

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् । इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ ३७ ॥

वायु (प्राणायाम) का संपूर्ण अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए । इस अवसर पर ज्ञानी पुरुष को मन की वृत्ति को अन्यत्र संयुक्त नहीं होने देना चाहिए ॥ ३७ ॥

दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत् । सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत् ॥ ३८ ॥

यहाँ पर यह बात नहीं है कि अमुक दिन विष्णु का पूजन नहीं करना चाहिए अथवा अमुक रात्रि को विष्णु को न पूजना चाहिए, बल्कि सदा ही विष्णु की पूजा करते रहना चाहिए । केवल रात्रि में अथवा दिन में ही न पूजना चाहिए ॥ ३८ ॥

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्त्रोतः समन्वितः । तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥ ३९

हे शाण्डिल्य ! पाँच इन्द्रियों के प्रवाह वाला हृदय रूप रिक्त (आकाश) स्थान ज्ञान को प्रादुर्भूत करने वाला है तथा वहीं खेचरी मुद्रा स्थित रहती है । अतः आप उसी का सेवन करें ॥ ३९ ॥

सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः । तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४०

बायों एवं दाहिनी नाड़ी में स्थित होकर मध्य में वायु का संचरण होता रहता है तथा उस स्थान में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित रहती है, इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है ॥ ४० ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् । तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ४१ ॥

इडा एवं पिंगला के मध्य में शून्य भाग स्थित है। वहाँ वह वायु को ग्रस लेता है, खेचरी मुद्रा भी वहीं पर प्रतिष्ठित रहती है एवं वहीं सत्य भी स्थित रहता है ॥ ४१ ॥

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः । संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी ॥ ४२क

चन्द्रमा एवं सूर्य की दोनों नाड़ियों के बीच में आधार-रहित धरातल स्थित है, वहीं व्योम मण्डल में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित है ॥ ४२-क ॥

छेदनचालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टि भूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते । जिह्वा चित्तं च खे चरति तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति ॥ ४२-ख ॥

छेदन, चालन एवं दोहन के द्वारा जिह्वा को ज्यादा से ज्यादा नुकीला बनाकर, भृकुटि के बीच में दृष्टि स्थिर करके, कपाल के छिद्र में जब जिह्वा विपरीत (उल्टी) होकर गमन करने लगती है, तभी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। जिह्वा एवं चित्त दोनों ही कपाल के छिद्र रूपी आकाश में विचरण करते हैं, तभी ऊर्ध्व की ओर गई हुई जिह्वा वाला पुरुष अमरता को प्राप्त कर लेता है ॥ ४२-ख ॥

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत् । तेन सर्वक्लेशहानिः । ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते । क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥ ४२ग

बायें पैर की एड़ी से मूलरन्ध्र को दबाकर दाहिना पैर आगे की तरफ फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ना तथा इसके पश्चात् नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को भर कर कण्ठबन्ध (जालन्धर बन्ध) लगाना एवं ऊपर की ओर उठी हुई वायु को स्थिर करना चाहिए। इस क्रिया से समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है। इसके बाद विष भी अमृत के सदृश पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त एवं त्वचा के असाध्य एवं पुराने रोग विनष्ट हो जाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय मृत्यु को पूर्णरूप से विनष्ट करने वाला है ॥ ४२-ग ॥

वामपादपार्षियोनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरुपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्ज्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत् । तेनापरोक्षसिद्धिः ॥

बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान के साथ संयुक्त करके, दाहिना पैर बायें पैर पर रखे तथा वायु को अन्दर भरकर, दुड़ी को हृदय की तरफ दबाकर योनि स्थान को संकुचित कर मन के मध्य अपनी आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस क्रिया से अपरोक्ष सिद्धि की प्राप्ति होती है ॥ ४२-घ ॥

बाह्यात्माणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् । नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्तः ॥ ४३ ॥ धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा । सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः ॥ ४४क ॥

बाहर से प्राणवायु को अन्दर की ओर आकृष्ट करके उदर में प्रतिष्ठित करे और वहाँ से उसे नाभि के मध्य में, नाक के अग्रभाग में तथा पैर के अँगूठे में मन द्वारा प्रयासपूर्वक धारण करे। इस तरह से सन्ध्याकाल में यह क्रिया सदैव करने वाला योगी साधक समस्त रोगों से मुक्ति पाकर श्रम-रहित हो जाता है ॥ ४३-४४-क ॥

नासाग्रे वायुविजयं भवति । नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः ।

पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति ॥ ४४-ख ॥

नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित करने से वायु को वश में किया जा सकता है, नाभि के मध्य में स्थिर करने से सभी रोगों का नाश होता है तथा पैर के अँगूठे में स्थिर करने से शरीर हल्का हो जाता है ॥ ४४ख

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः । श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा ॥ ४५ ॥

जो मनुष्य जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर सतत पान किया करता है, उसे श्रम या दाह नहीं होता तथा उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ ४५ ॥

सन्ध्ययोद्ब्रह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत् । त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती ॥ ४६ ॥

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकाल में वायु को अपनी ओर आकृष्ट करके उसको पीता रहता है, उसकी वाणी में तीन मास में ही कल्याण स्वरूपा माँ सरस्वती प्रकट हो जाती है ॥ ४६ ॥

एवं षण्मासाभ्यासात्सर्वरोगनिवृत्तिः । जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् । यः पिबेदमृतं विद्वान्स्मकलं भद्रमश्रुते ॥ ४७ ॥

इसी तरह से छः मास पर्यन्त अभ्यास करने से समस्त प्रकार के रोगों का शमन हो जाता है । जो विद्वान् पुरुष जिह्वा द्वारा वायु को ग्रहण करके जिह्वा के मूल में उसे अवरुद्ध करता है, वह अमृत का पान करता है तथा उसका सब प्रकार से कल्याण ही होता है ॥ ४७ ॥

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे । विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते ॥

इड़ा नाड़ी के द्वारा दोनों भौंहों के मध्य में आत्मा (मन) को धारण कर लेने से पुरुष देवों के आहार का भेदन करता है, इस क्रिया को सम्पन्न करते समय यदि वह रोगी भी होता है, तो समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः । घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते ॥

(इड़ा एवं पिंगला) दोनों नाड़ियों के द्वारा वायु को नाभि तक खींचकर पेट के दोनों भागों में जो मनुष्य एक घड़ी तक चलाता रहता है, वह सभी रोगों से छूट जाता है ॥ ४९ ॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम् । विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥ ५० ॥

जो मनुष्य एक मास तक तीनों (प्रातः, मध्याह्न, सायं) काल में जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर आकृष्ट करके उदर के मध्य भाग में अवरुद्ध करता है, वह भी देवताओं के आहार का भेदन करने वाला हो जाता है ॥ ५० ॥

[मनुष्य का आहार तब पचता है जब उसके पाचक रस खाये हुए पदार्थों का भेदन करने में समर्थ होते हैं । देवताओं के सूक्ष्म आहार मनुष्य के प्रभाव क्षेत्र में रहते हैं, लेकिन सामान्य लोग उसका उपयोग नहीं कर पाते । योगी अपनी चेतना से उसका भेदन करके उसका लाभ प्राप्त करने की स्थिति में पहुँच जाता है ।]

ज्वराः सर्वेऽपि नश्यन्ति विषाणि विविधानि च । मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह । सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम् ॥ ५१ ॥

जो पुरुष नित्य मुहूर्त भर के लिए मन के साथ वायु को नासिका के अग्रभाग पर धारण करता है, उसके सभी तरह के ज्वर विनष्ट हो जाते हैं । विभिन्न प्रकार के विषों का शमन हो जाता है । उसके सैकड़ों जन्म के पाप पूर्णरूप से छूट जाते हैं ॥ ५१ ॥

तारसंयमात्सकलविषयज्ञानं भवति । नासाग्रे चित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम् । तदधश्चित्त-संयमादग्निलोकज्ञानम् । चक्षुषि चित्तसंयमात्सर्वलोकज्ञानम् । श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोक-ज्ञानम् । तत्पार्श्वं संयमात्रिरूपतिलोकज्ञानम् । पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम् । वामकर्णे संय-माद्वायुलोकज्ञानम् । कण्ठे संयमात्सोमलोकज्ञानम् । वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम् ।

मूर्धि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम् । पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम् । पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम् । पादसन्धौ संयमान्नितललोकज्ञानम् । जड़े संयमात्सुतललोकज्ञानम् । जानौ संयमान्महातललोकज्ञानम् । ऊरौ चित्तसंयमाद्रसातललोकज्ञानम् । कटौ चित्तसंयमात्तलातललोकज्ञानम् । नाभौ चित्तसंयमाद्वूलोकज्ञानम् । कुक्षौ संयमाद्वूवर्लोकज्ञानम् । हृदि चित्तस्य संयमात्स्वर्लोकज्ञानम् । हृदयोर्धर्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम् । कण्ठे चित्तसंयमाज्जनोलोकज्ञानम् । भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्पोलोकज्ञानम् । मूर्धि चित्तसंयमात्सत्यलोकज्ञानम् । धर्माधर्मसंयमादतीतानागतज्ञानम् । तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात्सर्वजन्तुरुतज्ञानम् । संचितकर्मणि चित्तसंयमात्पूर्वजातिज्ञानम् । परचित्ते चित्तसंयमात्परचित्तज्ञानम् । कायरूपे चित्तसंयमादन्यादृश्यरूपम् । बले चित्तसंयमाद्वनुमदादिबलम् । सूर्ये चित्तसंयमाद्वृवनज्ञानम् । चन्द्रे चित्तसंयमात्ताराव्यूहज्ञानम् । ध्रुवे तद्रतिदर्शनम् । स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् । नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् । कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः । कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् । तारे सिद्धदर्शनम् । कायाकाशसंयमादकाशगमनम् । तत्तत्स्थाने संयमात्तत्सिद्धयो भवन्ति ॥ ५२ ॥

आँख की पुतली पर संयम करने से सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, नासिका के अग्रभाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। नेत्र में चित्त का संयम करने से सभी लोकों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्रोत्र में संयम करने से यम लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके बगल में चित्त का संयम करने से राक्षसों के लोक का ज्ञान होता है। पीठ के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है। बायें कान में चित्त का संयम करने पर वायु लोक का ज्ञान होता है। कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है। बाँयों आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है, पैर के नीचे (तलवे) में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है। पैर (पंजे) में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है। पैर के जोड़ (टखने) में चित्त का संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है। पैर की जंघा (पिंडली) में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है। जानु (घुटने) में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, ऊरु (जाँघ) में संयम करने से रसातल का ज्ञान होता है। कमर में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है, नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है। पेट में संयम करने से भुवः लोक का ज्ञान होता है। हृदय में चित्त का संयम रखने से स्वः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, हृदय के ऊर्ध्व भाग में चित्त का संयम करने से महः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। कण्ठ में संयम करने से जनः लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भौंहों के मध्य में संयम करने से तपःलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। धर्म तथा अधर्म में संयम करने से भूत-भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है। विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है। सज्जित कर्म में संयम करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। दूसरे लोगों के चित्त में संयम रखने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है। शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का-सा रूप हो जाता है, बल में संयम करने से हनुमान् आदि के जैसा बल प्राप्त हो जाता है। सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है। चन्द्र में संयम करने से समस्त तारामण्डलों का ज्ञान हो जाता है, ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है। स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। नाभिचक्र में संयम करने से शरीर व्यूह का ज्ञान होता है। कण्ठ कूप में संयम करने से भूख-प्यास समाप्त

हो जाती है। कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है। तारा में संयम करने से सिद्ध दर्शन होता है तथा शरीर के आकाश में संयम करने से मनुष्य आकाश में गमन कर सकता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से उस स्थान में स्थित विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥५२॥

[यहाँ संयम का अर्थ अपने चित्त के माध्यम से स्थान विशेष में स्थित दिव्य चेतन धारा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना। तादात्म्य की स्थिति में उस चेतना विशेष के साथ जुड़े सारे तथ्य चित्त की अनुभूति में सहज ही आने लगते हैं। योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि की एकत्र स्थिति को 'संयम' कहा जाता है।]

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अथ प्रत्याहारः । स पञ्चविधः विषयेषु विचरताभिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः ।
यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः । नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः ।
सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः । अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्वारणं प्रत्याहारः ॥ १ ॥

अब प्रत्याहार का वर्णन करते हैं। वह पाँच प्रकार का है। विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने (इन्द्रियाँ बाह्य भोगों में रस लेने की अभ्यस्त होती हैं, उन्हें बाह्य उपकरण में से हटाकर अन्तःकरण की रसानुभूति से जोड़ लेने) को प्रत्याहार कहा जाता है। जो-जो दिखाई देता है, वह सब आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए, (आँख, नाक, कान आदि विभिन्न अवयवों की अनुभूति वास्तव में आत्मा के ही कारण है। इसका बोध होना) यही प्रत्याहार है। नित्य किये गये कर्मों के फल का परित्याग (कर्म के फल में रस लेने की अपेक्षा कर्म करने में ही रस एवं सार्थकता की अनुभूति होने पर फल की कामना न रहना) ही प्रत्याहार है। समस्त प्रकार की विषय-वासनाओं से रहित होना (अन्तःस्थिति उच्च रसों की अनुभूति के आधार पर विषयों के रस की कामना न रहना), यह प्रत्याहार है। अद्वारह मर्म-स्थलों (आगे कहे गये) में क्रमशः धारणा करना (उन स्थानों पर स्थित चेतन दिव्य प्रवाहों के साथ चित्त का तादात्म्य स्थापित करके दिव्यानुभूति प्राप्त करना), यही प्रत्याहार है॥ १ ॥

पादाङ्गुल्फुल्फुजङ्घाजानूरुपायुमेद्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभूमध्यललाटमूर्धि
स्थानानि । तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत् ॥ २ ॥

पैर का अँगूठा, गुल्फ (टखने), जंघा (पिंडली), जानु (घुटने), ऊरु (जाँघ), गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नासिका, आँख, भौंहों के बीच का भाग, ललाट एवं सिर-इन सभी स्थलों में उतार-चढ़ाव के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए॥ २ ॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ धारणा । सा त्रिविधा आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशधारणं
पृथिव्यसेजोवाच्चाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति ॥ १ ॥

अब धारणा को स्पष्ट करते हैं। यह तीन प्रकार की होती है। अपनी अन्तरात्मा में मन की धारणा करना, दहरा (हृदय) आकाश में बाह्याकाश की धारणा करना तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा करनी चाहिए। ये ही तीन प्रकार हैं॥ १ ॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ ध्यानम् । तद्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति । सगुणं मूर्तिध्यानम् । निर्गुणमात्मया-
थात्म्यम् ॥ १ ॥

अब इसके बाद ध्यान को बतलाते हैं- यह दो प्रकार का होता है, प्रथम-निर्गुण एवं द्वितीय-सगुण । मूर्ति
का चिन्तन करना सगुण कहलाता है तथा आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना निर्गुण कहलाता है ॥ १ ॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ समाधिः । जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा
शुद्धचैतन्यात्मिका भवति ॥ १ ॥

अब इसके अनन्तर समाधि का वर्णन करते हैं । जीवात्मा एवं परमात्मा की ऐक्यावस्था, (ज्ञान, ज्ञेय तथा
ज्ञाता) की त्रिपुटीविहीन, परमानन्द के रूप से युक्त एवं शुद्ध चैतन्यमय अवस्था ही समाधि कहलाती है ॥ १ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ ह शाणिडल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं
भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्यामीति ॥ १ ॥

तदनन्तर ब्रह्मर्षि शाणिडल्य ने चारों वेदों में (चारों वेदों का अध्ययन करने पर भी) ब्रह्म विद्या को प्राप्त
न कर पाने से भगवन् अथर्वा की शरण में पहुँचकर प्रश्न किया- ‘हे भगवन्! आप हमें ब्रह्म विद्या का अध्ययन
कराएँ, जिससे कि मुझे कल्याण की प्राप्ति हो’ ॥ २ ॥

स होवाचार्थर्वा शाणिडल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म । ॥ २ ॥

तत्पश्चात् अथर्वा मुनि ने कहना प्रारम्भ किया “हे शाणिडल्य! ब्रह्म, सत्य, विज्ञान एवं अनन्त रूपों में
संव्याप्त है ॥ २ ॥

यस्मिन्निदिमोतं च प्रोतं च । यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं
भवति । तदपाणिपादमचक्षुः श्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम् ॥ ३ ॥

जिसमें यह सभी कुछ ओत-प्रोत है । जिसमें यह प्रादुर्भूत होता है तथा अस्त भी होता है, उसी तरह से
जिसको समझ लेने से यह सभी कुछ समझ लिया जाता है, वह हाथ-पैर से विहीन, नेत्रों से रहित, कार्य
विहीन, जिह्वा रहित, शरीर विहीन, स्वीकार न किये जाने योग्य तथा स्पष्ट रूप से बताये न जा सकने योग्य है ॥ ३ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । यत्केवलं ज्ञानगम्यम् । प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता
पुराणी । यदेकमद्वितीयम् । आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं
शिवं प्रशान्तममृतं तत्परं च ब्रह्म । तत्त्वमसि तज्जानेन हि विजानीहि ॥ ४ ॥

जिसे प्राप्त किये बिना वाणी एवं मन पीछे की ओर वापस हो जाते हैं । जो मात्र ज्ञान से ही पाया जा सकता
है, जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रचार-प्रसार हुआ है, जो अनुपम एवं अद्वितीय है, आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त
रहने वाले, अति सूक्ष्म, निरञ्जन, क्रियाविहीन, एकमात्र सत्य स्वरूप, चेतना से सम्पन्न, आनन्द स्वरूप,

एकरस से सम्पन्न, मंगलमय, अत्यन्त शांत एवं अमर है, वही परम अविनाशी ब्रह्म है। वही तुम हो। ज्ञान के द्वारा तुम उसे जानो॥ ४॥

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनियोगैकगम्यः । यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुइन्ते स आत्मा । आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि ॥ ५ ॥

जो एक ही देव आत्मा की शक्ति के रूप में प्रमुख, सब प्रकार से ज्ञान सम्पन्न, सर्वेश्वर, समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा, सभी प्राणियों में निवास करने वाले, सब प्राणियों में छिपे हुए, सभी प्राणियों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग के द्वारा ही जाने जा सकने योग्य है, जो विश्व की सृष्टि, पालन एवं विलय स्वयं करता है, वही आत्मा है। तुम आत्मा में ही उन सबको स्थित जानो॥ ५॥

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि ॥ ६ ॥

तुम शोक बिल्कुल न करो। आत्मा का विशिष्ट ज्ञान पाकर के तुम शोक का अन्त कर सकोगे॥ ६॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परंब्रह्म । तस्मात्कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिल्लीयते । तन्मे संशयं छेन्नुमर्हसीति ॥१॥

इस प्रकार अथर्वा मुनि से जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन्! जो परब्रह्म एकाक्षर, क्रिया विहीन, मङ्गलमय, सत्ता मात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे यह जगत् किस प्रकार से प्रादुर्भूत होता है? किस प्रकार वह प्रतिष्ठित होता है तथा किस तरह से उसमें विलीन हो जाता है? मेरी यह शंका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है॥ १॥

स होवाचार्थर्वा सत्यं शाण्डिल्यं परब्रह्मं निष्क्रियमक्षरमिति । अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति ॥२-३॥

ऐसा सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा- हे शाण्डिल्य! यह सत्य है कि परब्रह्म निष्क्रिय एवं अक्षर रूप है, तब भी इस अविनाशी परब्रह्म के तीन स्वरूप-सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल हैं॥ २-३॥

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्य-ममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम् ॥ ४ ॥

जो सत्यरूप, विज्ञानयुक्त, आनन्दस्वरूप, क्रियारहित, निरञ्जन, सर्वव्यापी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, चतुर्दिक् मुखवाला, अनिर्वचनीय और अमर है, यह ब्रह्म का निष्कल रूप है॥ ४॥

अथाप्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा । तया सहायवान् देवः कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे । तदिदमस्य सकलं रूपम् ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् अब इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या, मूल प्रकृति और माया शक्ति है, वह लाल, श्वेत एवं कृष्ण रंग से युक्त है। उस (माया) की सहायता प्राप्त करके यह देव कृष्ण एवं पीत रंग से युक्त होकर सभी का ईश्वर और नियन्ता होता है। यह इस ब्रह्म का 'सकल' रूप है॥ ५॥

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति । अथैतस्मात्प्यमा-
नात्सत्यकामात्रीण्यक्षराण्यजायन्त । तिस्रो व्याहृतयस्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो
वर्णास्त्रयोऽग्रयश्च जायन्ते । योऽसौ देवो भगवान्सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये
संनिविष्टो मायावी मायया क्रीडति स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि
भूतानि स एव पुरस्तात्स एव पश्चात्स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाधस्तात्स एवोप-
रिष्ठात्स एव सर्वम् । अथास्य देवस्यात्मशक्तेरात्मक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा
तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी । तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम् ॥६

तत्पश्चात् इस परब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्त कर इच्छा की कि “मैं विभिन्न रूपों में प्रकट (प्रादुर्भूत) हो जाऊँ ।” तदनन्तर तप प्रारम्भ किया । तभी समस्त कामनाओं से सम्पन्न तीन अक्षर प्रादुर्भूत हुए, वैसे ही तीन व्याहृतियाँ, तीन पदों वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण एवं तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं । जो यह देव भगवान् होकर समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सर्वत्र व्याप्त रहने वाला, समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाला, मायावी एवं माया के साथ क्रीडा- कल्पोल करता है, वही ब्रह्मा, वही विष्णु, वही रुद्र, वही इन्द्र, वही समस्त देवताओं एवं सभी भूत-प्राणियों के रूप में है । वही अग्रभाग में, वही पृष्ठभाग में, वही उत्तर की ओर, वही दक्षिण की ओर, वही नीचे की ओर तथा वही ऊर्ध्व की ओर प्रतिष्ठित है । इस तरह से वही सब कुछ है । यह देव अपनी शक्ति से क्रीडा करने वाला तथा अपने भक्तों के प्रति अनुकम्पा बनाये रखने वाला है । इसका शरीर दत्तात्रेय रूप, सुन्दर, वस्त्र रहित, कमल की पंखुड़ी के सदृश कोमल, चार भुजाओं से सम्पन्न, भयंकरता से रहित एवं पापरहित होकर प्रकाश से युक्त है । यही उसका ‘सकल-निष्कल’ रूप है ॥ ६ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाणिडल्यः पप्रच्छ भगवन्समात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं
ब्रह्मेति । स होवाचार्थर्वा यस्माच्च बृहति बृहत्यति च सर्वं तस्मादुच्यते परंब्रह्मेति ॥ १-२ ॥

इसके पश्चात् महर्षि शाणिडल्य ने अर्थर्वा मुनि से पुनः प्रश्न किया- “हे भगवन्! मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य युक्त एवं आनन्दस्वरूप एकरस सम्पन्न यह परब्रह्म क्यों कहा जाता है? ” तब अर्थर्वा मुनि ने उत्तर दिया- “हे शाणिडल्य! वह ब्रह्म स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है तथा अन्य दूसरों को वृद्धि प्रदान करता है, अतः इस कारण से वह अविनाशी शाश्वत ब्रह्म कहलाता है ॥ १-२ ॥

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति । यस्मात्सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते
आत्मेति ॥ ३-४ ॥

इसके अनन्तर ‘वह आत्मा क्यों कहा जाता है?’ (ऐसा पूछने पर अर्थर्वा मुनि ने कहा -) वह (ब्रह्म) सर्वत्र सभी में विद्यमान रहता है, सभी को स्वीकार करता है तथा सभी का भक्षण कर लेता है अर्थात् अपने में मिला लेता है, इस कारण वह आत्मा कहलाता है ॥ ३-४ ॥

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति । यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या च महत
ईशते तस्मादुच्यते महेश्वर इति ॥ ५-६ ॥

वह महेश्वर क्यों कहा जाता है? (अर्थर्वा मुनि ने कहा-) क्योंकि वह शब्द ध्वनि एवं आत्मशक्ति से बड़ों-बड़ों का नियंत्रण करता है तथा बड़ों-बड़ों का ईश्वर है, इसलिए वह महेश्वर कहलाता है ॥ ५-६ ॥

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति । यस्मात्सुदुश्वरं तपस्तथमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायामत्रेस्तनयोऽभवत्स्मादुच्यते दत्तात्रेय इति ॥

वह दत्तात्रेय क्यों कहा जाता है ? (अर्थात् मुनि ने उत्तर दिया-) क्योंकि अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने के उपरान्त अत्रि ऋषि ने पुत्र प्राप्ति की कामना की । तदनन्तर उनके ऊपर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए ज्योतिष्मान् भगवान् (शिव) ने स्वयं को ही उन अत्रि ऋषि को पुत्र रूप में प्रदत्त किया और वे स्वयं अत्रि एवं अनसूया के द्वारा प्रादुर्भूत हुए । इस प्रकार से वे दत्तात्रेय के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ७-८ ॥

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद । अथ यो ह वै विद्ययैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद्ववति ॥ ९-१० ॥

इन समस्त अर्थ सहित नामों को जो व्युत्पत्ति सहित समझता है, वह सभी कुछ जानने में समर्थ हो जाता है । इसके अनन्तर जो (इस आत्म) विद्या के द्वारा इस परमात्म तत्त्व की उपासना करता है, वह “मैं ही परमात्मा हूँ” इस प्रकार के भाव से ब्रह्म का वर्णन करने वाला (ब्रह्मवेत्ता) बन जाता है ॥ ९-१० ॥

अत्रैते श्रोका भवन्ति । दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम् । आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम् ॥ ११ ॥ भस्मोद्भूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम् । चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम् ॥ १२ ॥ ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम् । भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम् ॥ १३ ॥ एवं यः सततं ध्यायेद्वदेवं सनातनम् । स मुक्तः सर्पपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्न्यात् ॥ १४ ॥ इत्यों सत्यमित्युपनिषद् ॥ १५ ॥

यहाँ पर ये निम्न श्रोक कहे गये हैं— “मंगल स्वरूप वाले, शान्तरूप वाले, इन्द्रनीलमणि के समान श्याम, आत्ममाया के साथ रमण करने वाले, अवधूत, नग्न शरीर वाले, भस्म लगे हुए शरीर वाले, जटाजूट धारण किये हुए, सर्वत्र व्यास रहने वाले, चार भुजाओं से युक्त, उदार अंग वाले, प्रफुल्ल कमल के समान नेत्र वाले, ज्ञानयोग के भण्डार, सम्पूर्ण विश्व के गुरु, योगी जनों के प्रिय, अपने भक्तजनों पर दया करने वाले, सबके साक्षी एवं सिद्धजनों द्वारा सेवित प्रभु दत्तात्रेय देव शाश्वत, सनातन पुरुष हैं तथा देवों के भी देव अर्थात् आदिदेव हैं । इस तरह से जो पुरुष निरन्तर सदा ही उन (देवपुरुष) का ध्यान करता रहता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है । इति ॐ सत्यम् अर्थात् यही सत्य है । इस प्रकार से यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) पूर्ण हुई ॥ ११-१५ ॥”

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥

॥ इति शापिडल्योपनिषत्समाप्ता ॥



॥ शारीरकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २० मन्त्र हैं, जिसमें सृष्टि प्रक्रिया का विशद वर्णन है। सर्वप्रथम शरीर में विद्यमान पंचतत्त्वों का परिचय कराया गया है। इसके बाद पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं आदि का उत्पत्ति-क्रम वर्णित है। अन्तःकरण चतुष्टय तथा उनका शरीर में स्थान कहाँ है? इसका भी उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य अनेक तत्त्वों का क्रमशः उद्भव और विकास वर्णित है। आगे चल कर सत्, रज, तम्-तीनों गुणों का स्वरूप और विभाग का वर्णन किया गया है। अन्त में १७ तत्त्वों वाले सूक्ष्म शरीर, २४ तत्त्वों वाली प्रकृति तथा पुरुष को लेकर २५ तत्त्व वाले पूरे विश्वब्रह्मांड का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। तत्त्वबोध की दृष्टि से इस उपनिषद् का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

ॐ अथातः पृथिव्यादिमहाभूतानां समवायं शरीरम्। यत्कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं तदापो यदुष्णां तत्तेजो यत्संचरति स वायुर्यत्सुषिरं तदाकाशम् ॥ १ ॥

पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों का समुच्चय ही यह शरीर है। इस शरीर में जो ठोस पदार्थ हैं, वह पृथ्वी तत्त्व है। जो द्रव पदार्थ हैं, वह जल तत्त्व है। जो ऊष्मा है, वही अग्नि तत्त्व है। जो सतत गतिशील है, वह वायु तत्त्व है और जो सुपिर (पोला-छिद्रयुक्त) है, वह ही आकाश तत्त्व है ॥ १ ॥

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि । श्रोत्रमाकाशे वायौ त्वगग्नौ चक्षुरप्सु जिह्वा पृथिव्यां घाणमिति । एवमिन्द्रियाणां यथाक्रमेण शब्दस्पर्शस्तुपरसगन्धाश्वेति विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः ॥ २ ॥

श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाश तत्त्व में श्रोत्र, वायु तत्त्व में त्वचा, अग्नि (तेज) तत्त्व में नेत्र, जल तत्त्व में जिह्वा तथा पृथिवी तत्त्व में घ्राणेन्द्रिय विद्यमान है। इन सभी इन्द्रियों के विषय क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं, वे सभी पृथिवी आदि महाभूतों से प्रादुर्भूत हुए हैं ॥ २ ॥

वाक्याणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि । तेषां क्रमेण वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्रैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः ॥ ३ ॥

वाक्, हस्त, पाद, गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय)-कर्मेन्द्रियाँ कही गयी हैं। इन सभी इन्द्रियों के विषय क्रम से वचन, आदान-प्रदान, गमन, विसर्जन और आनन्द हैं, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से ही प्रकट होते हैं ॥

मनोबुद्धिरहं कारश्चित्तमित्यन्तःकरणचतुष्टयम् । तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्रैते विषयाः । मनःस्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदनमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति ॥ ४ ॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार- इन चारों को अन्तःकरण (चतुष्टय) कहा गया है। इनके विषय क्रमशः इस प्रकार हैं- १. संकल्प-विकल्प, २. निश्चय, ३. अवधारणा और ४. अभिमान। मन का क्षेत्र गले का अन्तिम भाग, बुद्धि का स्थान मुख, चित्त का क्षेत्र नाभि और अहंकार का क्षेत्र हृदय बताया गया है ॥ ४ ॥

अस्थिचर्मनाडीरोममांसाश्वेति पृथिव्यंशाः । मूत्रश्लेष्मरक्तशुक्रस्वेदा अबंशाः । क्षुत्तृष्णा-लस्यमोहमैथुनान्यग्रे: । प्रचारणविलेखनस्थूलाक्ष्युन्मेषनिमेषादि वायोः । कामक्रोधलोभमोह-भयान्याकाशस्य ॥ ५ ॥

अस्थि, त्वचा, नाड़ी, रोमकूप तथा मांस- ये सभी पृथिवी तत्त्व के अंश हैं। मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र तथा स्वेद (पसीना) — जल तत्त्व के अंश हैं। क्षुधा, पिपासा, आलस्य, मोह और मैथुन-अग्नि तत्त्व के अंश हैं। फैलाना, दौड़ना, गति करना (चलना), उड़ना, पलकों को संचालित करना आदि वायु तत्त्व के अंश हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि आकाश तत्त्व के अंश हैं ॥ ५ ॥

शब्दस्पर्शरूपरसगम्धाः पृथिवीगुणाः । शब्दस्पर्शरूपरसाश्रापां गुणाः । शब्दस्पर्शरूपा-णग्निगुणाः । शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ । शब्द एक आकाशस्य ॥ ६ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध- ये सभी पृथिवी तत्त्व के गुण कहे गये हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस- ये सभी जल तत्त्व के गुण बताए गये हैं। शब्द, स्पर्श और रूप- ये तीनों अग्नि तत्त्व के गुण कहे गये हैं। शब्द तथा स्पर्श वायु तत्त्व के गुण बताये गये हैं और आकाश तत्त्व का मात्र एक ही गुण शब्द कहा गया है ॥ ६ ॥

सात्त्विकराजसतामसलक्षणानि त्रयो गुणाः ॥ ७ ॥

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन लक्षणों से युक्त ये तीन गुण कहे गये हैं ॥ ७ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः । अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं संतोष आर्जवम् ॥ ८ ॥ अमानित्वमदम्भित्वमास्तिकत्वमहिंस्तता । एते सर्वे गुणाः ज्ञेयाः सात्त्विकस्य विशेषतः ॥ ९ ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना, शुचिता (पवित्रता), संतोष, सरलता, अमानिता का भाव, दम्भ न करना, आस्तिकता, हिंसा न करना आदि ये सभी गुण विशेषतया सात्त्विक स्वभाव वाले मनुष्यों के कहे गये हैं ॥ ८-९ ॥

अहं कर्ता॒स्म्यहं भोक्ता॒स्म्यहं वक्ता॒भिमानवान् । एते गुणा राजसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवित्तमैः ॥

मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला हूँ, मैं वक्ता (बोलने वाला) हूँ-इस तरह के अभिमान युक्त गुण, राजस स्वभाव वाले मनुष्यों के बताए गए हैं ॥ १० ॥

निद्रालस्ये मोहरागौ मैथुनं चौर्यमेव च । एते गुणास्तामसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥ ११ ॥

निद्रा, आलस्य, मोह, आसक्ति, मैथुन और चौर कृत्य- ये समस्त गुण तामस वृत्ति से युक्त मनुष्यों के कहे गये हैं ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वे सात्त्विको मध्ये राजसोऽधस्तामस इति ॥ १२ ॥

सर्वश्रेष्ठ ऊर्ध्व पद सात्त्विक गुण को कहा गया है, राजस गुण को मध्यम तथा तामस गुण को अधम बताया गया है ॥ १२ ॥

सत्यज्ञानं सात्त्विकम् । धर्मज्ञानं राजसम् । तिमिरान्धं तामसमिति ॥ १३ ॥

पूर्णसत्य (ब्रह्म) ज्ञान सात्त्विक है। धर्मज्ञान राजस है और अन्धकार से युक्त अर्थात् तिमिरान्ध (अर्धमूढ़ता) ही तामस है ॥ १३ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरीयमिति चतुर्विधा अवस्था: । ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत् । अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः । चित्तैककरणा सुषुप्तिः । केवलजीवयुक्तमेव तुरीयमिति ॥ १४ ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय- ये चार अवस्थाएँ हैं । जाग्रत् अवस्था में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तःकरण मिलकर के चौदह करण (सक्रिय) रहते हैं । स्वप्नावस्था में चार अन्तःकरण संयुक्त रूप से (सक्रिय) रहते हैं । सुषुप्ति अवस्था में केवल चित्त ही एक करण (सक्रिय) रहता है तथा तुरीयावस्था में केवल जीवात्मा ही रह जाता है ॥ १४ ॥

उन्मीलितनिमीलितमध्यस्थजीवपरमात्मनोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते ॥ १५ ॥

उन्मीलित (अर्थात् खुले हुए) तथा निमीलित (अर्थात् बन्द नेत्रों) की मध्य स्थिति में जीव और परमात्मा के बीच में जीवात्मा क्षेत्रज्ञ होता है ॥ १५ ॥

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकर्मनसा धिया । शरीरं सप्तदशभिः सुसूक्ष्मं लिङ्गमुच्यते ॥ १६ ॥

ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन एवं बुद्धि-इन सत्रह का सूक्ष्म स्वरूप लिङ्ग शरीर कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १६ ॥

मनो बुद्धिरहंकार खानिलाग्निजलानि भूः । एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः षोडशापरे ॥ १७ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये आठ प्रकृति के विकार कहे गये हैं । इनके अतिरिक्त सोलह विकार और बताये गये हैं ॥ १७ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पंचमम् । पायूपस्थौ करौ पादौ वाक्चैव दशमी मता ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च । त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानि प्रकृतानि तु ॥ १९ ॥

चतुर्विंशतिरव्यक्तं प्रधानं पुरुषः परः इत्युपनिषत् ॥ २० ॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणेन्द्रिय-ये पाँच विकार तथा गुदा, उपस्थ (जननेन्द्रिय), हाथ, पैर, तथा वाक्—ये पाँच और शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—ये पाँच, ये सभी तथा उपर्युक्त मन आदि अष्टविकार मिलकर प्रकृति के ($8+5+5+5 = 23$) तेर्इस तत्त्व हुए । चौबीसवाँ अव्यक्त प्रधान (प्रकृति) है, पुरुष उससे भी परे (कहा गया) है, (इस प्रकार कुल पच्चीस तत्त्वों के समुच्चय वाला यह विश्वब्रह्माण्ड है) यही (शारीरक) उपनिषद् है ॥ १८-२० ॥

ॐ सह नाववतु इति शान्तिः ॥

॥ इति शारीरकोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ संन्यासोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में संन्यास क्या है? कैसे ग्रहण किया जाता है? उसके लिए कैसा आचार-व्यवहार होना चाहिए आदि का विशद वर्णन है। दूसरा अध्याय काफी बड़ा है। इसकी शुरुआत साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व) से की गई है। संन्यास का अधिकारी कौन है? इसकी विस्तृत गवेषणा की गई है। संन्यासी का भेद बताते हुए १. वैराग्य संन्यासी २. ज्ञान संन्यासी ३. ज्ञान-वैराग्य संन्यासी और ४. कर्म संन्यासी की विस्तृत व्याख्या की गई है। आगे चलकर छः प्रकार के संन्यास का क्रम उल्लिखित हुआ है-कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। इसी क्रम में आत्मज्ञान की स्थिति और स्वरूप का भी वर्णन उपनिषद्कार ने कर दिया है। संन्यासी के लिए आचरण की पवित्रता और भिक्षा में मिले स्वल्प भोजन में ही संतुष्ट होने का विधान बताया गया है। उसे स्त्री, भोग आदि शारीरिक आनन्द प्राप्ति से दूर रहने का निर्देश है। इस प्रकार आहार-विहार का संयम बरतते हुए नित्य प्रति आत्म चिन्तन में तल्लीन रहना चाहिए। ॐकार का जप करते रहना चाहिए-इसी से उसके अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रकाश प्रकट होता है और वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातः संन्यासोपनिषदं व्याख्यास्यामो योऽनुक्रमेण संन्यस्यति संन्यस्तो भवति । कोऽयं संन्यास उच्यते । कथं संन्यस्तो भवति । य आत्मानं क्रियाभिर्गुम् करोति मातरं पितरं भार्या पुत्रान्बन्धूननुमोदयित्वा ये चास्यत्विर्जस्तान्सर्वाश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टि निर्वपेत्सर्वस्वं दद्याद्यजमानस्य गा ऋत्विजः सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहार्यपचने सभ्यावस्थयोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान्सर्वेषु समारोपयेत् । सशिखान्केशान्विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं दृष्ट्वा त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयेत् । यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेम ध्यात्वा-उनवेक्षमाणः प्राचीमुदीर्चीं वा दिशं प्रव्रजेच्च । चतुर्षु वर्णेषु भिक्षाचर्यं चरेत् । पाणिपात्रेणाशनं कुर्यात् औषधवदशनमाचरेत् । औषधवदशनं प्राश्रीयात् । यथालाभमश्रीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्जायते । कृशो भूत्वा ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रामे वा नगरे वापि वसेत् । पक्षा वै मासो इति द्वौ मासौ वा वसेत् । विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृहीयान्नान्यत्प्रतिगृहीयाद्यद्यशक्तो भवति क्लेशतस्तप्यते तप इति । यो वा एवं क्रमेण संन्यस्यति यो वा एवं पश्यति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं वास्योपस्पर्शनमिति । तं होवाचेदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानं विद्या शिखा नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्त्रुदरपात्रेण जलतीरे निकेतनम् । ब्रह्मवादिनो वदन्त्यस्तमित आदित्ये कथं वास्योपस्पर्शनमिति । तान्होवाच यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तं न दिवा तदप्येतदृषिणोक्तम् । सकृदिवा हैवास्मै भवति य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते ॥ १ ॥

अब संन्यास उपनिषद् का वर्णन करते हैं। क्रमानुसार नश्वर जगत् का परित्याग कर देने वाला विरक्त ही संन्यासी होता है। (प्रश्न) संन्यास किसे कहते हैं? संन्यासी किस तरह का होता है? (उत्तर) संन्यासी वह है, जो आत्मा के उत्थान हेतु माता-पिता, स्त्री-पुत्र, बान्धव आदि के द्वारा अनुमोदित पूर्व में कही क्रियाओं का परित्याग कर देता है; जो हमेशा की तरह ऋत्विजों को नमन-वंदन करने के पश्चात् वैश्वानर यज्ञ सम्पन्न करता है। इस पुनीत अवसर पर यजमान अपना सभी कुछ दान कर दे तथा ऋत्विज् सम्पूर्ण सामग्री को पात्रों समेत हवन कर दे। संन्यासी द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों तथा सध्य (वैदिक कालीन अग्नि) एवं आवस्थ्य (स्मृतिकालीन अग्नि) को प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान पाँचों वायुओं में आरोपित करना चाहिए। शिखा (चोटी) सहित सभी केशों का मुण्डन करा देना चाहिए। यज्ञोपवीत को त्याग दे एवं पुत्र को देखकर इस तरह कहे कि तुम यज्ञ रूप हो, सर्वस्वरूप हो। यदि पुत्र न हो, तो वह अपनी आत्मा को ही लक्ष्य करके उपदेश देकर पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर गमन कर जाए। चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) से भिक्षा स्वीकार करनी चाहिए। हाथ रूपी पात्र में भिक्षा ग्रहण कर भोजन करना चाहिए। भोजन को औषधि के समान ग्रहण करना चाहिए अर्थात् मात्र प्राण रक्षा की दृष्टि से आहार लेना चाहिए और जो कुछ प्राप्त हो जाए, वही ग्रहण करना चाहिए, जिससे चर्बी की वृद्धि न हो। इस प्रकार क्षीणकाय होकर गाँव में एक रात्रि एवं नगर में पाँच रात्रि तक निवास करना चाहिए। चातुर्मास (वर्षा के मास) में एक ही गाँव अथवा नगर में रुक्ष जाना चाहिए या फिर पक्ष (पखवारा) को ही मास समझकर दो महीने तक निवास करना चाहिए। फटे वस्त्र अथवा वल्कल वस्त्र ही धारण करना चाहिए, अन्य वस्त्रों को ग्रहण न करे। इस तरह क्लेश सहना ही तप-तितिक्षा है। जो इस क्रम से संन्यास धारण करता है, उसके लिए यज्ञोपवीत क्या है? शिखा क्या है? आचमन किस तरह का है? इन सभी का उत्तर इस प्रकार है— आत्मा का ध्यान ही संन्यासी का यज्ञोपवीत है। विद्या ही उसकी शिखा (चोटी) है। सर्वत्र स्थित जल के लिए उदर (पेट) ही संन्यासी का पात्र है तथा जलाशय का तट ही उसका आश्रय-स्थल है। इसी प्रकार का ब्रह्मवादी भी होता है। उसके लिए सूर्य के अस्ताचल की ओर गमन करने पर आचमन किस तरह का है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—उस (संन्यासी) के लिए रात्रि एवं दिन दोनों ही एक जैसे हैं। उसके लिए न रात्रि होती है, न दिन होता है। जो (संन्यासी अथवा साधक) अपनी आत्मा के अनुसंधान में सतत लगा रहता है, विद्वज्ञों के अनुसार उसके लिए सदैव दिन ही है॥ १॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेष्वाहंकारं दग्धवा साधनचतुष्यसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥ १ ॥

चालीस तरह के संस्कारों से सम्पन्न, सभी से पूर्ण रूप से विरक्त, चित् को परिष्कृत रखने वाला, आशा, असूया, ईर्ष्या, अहंकार को भस्मीभूत करके चारों साधनों (१) विवेक (नित्यानित्य वस्तु का ज्ञान), (२) वैराग्य (लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की इच्छा का न होना), (३) षड्सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा), (४) मुमुक्षुत्व (मोक्ष की प्रबल इच्छा) से सम्पन्न ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है॥ १॥

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः । स कुर्यात्कृच्छ्रमात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति ॥ २ ॥

जो (साधक) संन्यास का निश्चय कर ले और फिर उसे स्वीकार न करे, तो वह कृच्छ्र (कठोर-तप) व्रत करने पर ही दुबारा संन्यास धर्म ग्रहण कर सकता है ॥ २ ॥

संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत् यः । संन्यासविघ्कर्त्ता च त्रीनेतान्यति-तान्विदुः ॥ ३ ॥

जो (व्यक्ति) संन्यास से पतित (गिर) हो जाते हैं, जो पतित को संन्यास की दीक्षा प्रदान करते हैं अथवा जो संन्यास धर्म ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न करते हैं, वे तीनों ही (महा) पतित कहे गये हैं ॥ ३ ॥

अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्थको मूकः पाषण्डश्वक्री लिङ्गी कुष्ठी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको नास्तिको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासाहीः । संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशो नाधिकारिणः ॥ ४ ॥

नपुंसक, पतित, अङ्गहीन, स्त्रैण (नारी स्वभाव वाला), बधिर, बालक, वाचाल, पाखण्डी, चक्री (चक्र चिह्न से अंकित अपराधी या कुचक्र रचने वाला), कुष्ठी, वैखानस एवं ब्राह्मण पद से भ्रष्ट, वेतनभोगी अध्यापक, अजितेन्द्रिय, अग्निहोत्र से रहित, नास्तिक विरक्त होते हुए भी संन्यास-दीक्षा के उपयुक्त नहीं होते। यदि कहीं वे संन्यासी हो भी जाएँ, तब भी वे महावाक्य के उपदेश में पूर्ण सक्षम अधिकारी नहीं होते ॥ ४ ॥ आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः । क्षयीतथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हति ॥ ५ ॥

पतित की सन्तान, निकृष्ट नख से युक्त, मैले-दुर्गन्धयुक्त दाँत वाले, क्षयरोग ग्रस्त, विकलांग आदि संन्यास-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं होते ॥ ५ ॥

संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा । ब्रात्यानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥ ६ ॥

जिन्हें अकस्मात् वैराग्य हो गया हो, महापातकी, ब्रात्य (संस्कारहीन) एवं लोक में निंदित व्यक्तियों को संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए ॥ ६ ॥

व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम् । सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत् । एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥ ७ ॥

जो (मनुष्य) व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम और स्वाध्याय-रहित हैं, सत्य एवं शुचिता से विहीन हैं, उन्हें संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इस तरह के लोग चाहें तो 'आतुर संन्यासी' हो सकते हैं; किन्तु ऐसे लोग संन्यास के नियमानुसार अधिकारी नहीं हो सकते ॥ ७ ॥

३० भूः स्वाहेति शिखामुत्पाद्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् । यशो बलं ज्ञानं वैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छिन्ना ३० भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं च विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत् ॥ ८ ॥

'३० भूः स्वाहा' मन्त्र पढ़कर शिखा (चोटी) को दूर कर दे अर्थात् काट दे; किन्तु यज्ञोपवीत को रहने दे। 'हे यज्ञ! (आप हमें) बल, ज्ञान, वैराग्य एवं मेधा को प्रदान करें, इस प्रकार कहकर यज्ञोपवीत को छिन्न-भिन्न कर दे। '३० भूः स्वाहा' मन्त्र पढ़कर वस्त्र एवं कटि-सूत्र को जलाशय में विसर्जित करके 'संन्यस्तं मया' (मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया), इस मन्त्र का उच्चारण तीन बार करना चाहिए ॥ ८ ॥

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः । एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ९ ॥

संन्यासी एवं द्विज को देखकर भास्कर अपने स्थल से चलायमान होने लगता है कि कहीं यह हमारे मण्डल को भेद करके परब्रह्म में न समा जाए ॥ ९ ॥

षष्ठि कुलान्यतीतानि षष्ठिमागामिकानि च । कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥१०॥

जो ज्ञानी मनुष्य 'मैं संन्यासी हो गया' ऐसा स्वीकार वचन बोलता है, वह अपने जन्म के पूर्व की साठ पीढ़ियों तथा आगे आने वाली साठ पीढ़ियों को भवसागर से मुक्त कर देता है ॥ १० ॥

ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः । प्रैषाग्निर्निर्देहेत्सर्वास्तुषाग्निरिव काञ्छनम् ॥ ११ ॥

संन्यासी के जो पैतृक दोष हैं तथा जो स्वयं के अपने शारीरिक दोष हैं, उन सभी को वह उसी तरह से भस्म कर देता है, जिस तरह तुषाग्नि सुवर्ण की गन्दगी को जला डालती है ॥ ११ ॥

सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् ॥ १२ ॥

हे सखा! आप हमारी रक्षा करें, इस प्रकार कहकर दण्ड को धारण करना चाहिए ॥ १२ ॥

दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समर्पकम् । पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥ १३ ॥

अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थविराजितम् । नासादद्वं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद्यतिः ॥ १४ ॥

दण्ड उत्तम-श्रेष्ठ बाँस का सीधा, छाल सहित, समान (संख्या युक्त) गाँठ वाला होना चाहिए। उसका आविर्भाव श्रेष्ठ स्थान में हुआ हो, किसी भी तरह का दाग-धब्बा आदि न हो, जला हुआ भी न हो तथा कृमि-कीटक आदि के द्वारा खाया भी न गया हो पर्व ग्रन्थ-युक्त (गाँठ सहित) वह (दण्ड) लम्बाई में नासिका, शिखा (चोटी) अथवा भृकुटी तक का होना चाहिए ॥ १३-१४ ॥

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते । न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥ १५ ॥

दण्ड एवं आत्मा का संयोग सदा ही श्रेयस्कर है। इस कारण संन्यासी को दण्ड के अभाव में तीन बार बाण फेंकने की दूरी से बाहर न जाना चाहिए ॥ १५ ॥

जगञ्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति कमण्डलं परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथासुखं विहरेत् ॥ १६ ॥

हे सर्वसौम्य! आप जीवन के आधारभूत जल को धारण करने वाले हैं, मुझसे मन्त्रणा करते रहें— इस प्रकार से कहकर संन्यासी कमण्डलु को हाथ में ग्रहण कर योग पट्ट से सुशोभित होकर सुखानुभूतिपूर्वक यत्रत्र भ्रमण करे ॥ १६ ॥

त्यज धर्मधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥ १७ ॥

(संन्यासी को) सभी तरह के धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य दोनों का ही परित्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर जिसके द्वारा इस प्रकार सत्य-असत्य का परित्याग किया जाता है, उसका भी त्याग कर देना चाहिए ॥ १७ ॥

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी । कर्मसंन्यासीति चातुर्विध्यमुपागतः ॥ १८ ॥

संन्यासी के चार भेद बतलाये गये हैं— (१) वैराग्य संन्यासी (२) ज्ञान संन्यासी (३) ज्ञान-वैराग्य संन्यासी (४) कर्म संन्यासी ॥ १८ ॥

तद्यथेति । दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्यमेत्य । प्राक्पुण्यकर्मविशेषात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥

दृष्ट एवं आनुश्रविक विषयों के प्रति तृष्णारहित होकर तथा पूर्व-जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होने के कारण जिस मनुष्य ने संन्यास-धर्म ग्रहण किया है, वह 'वैराग्य संन्यासी' है ॥ १९ ॥

[सांख्य-योग की मान्यतानुसार 'दृष्ट' विषय वे हैं, जो इस लोक में 'दृष्टिगोचर' होते हैं, जैसे-रूप,रस, गन्ध आदि, धन-सम्पत्ति, स्त्री, राज-ऐश्वर्य इत्यादि। 'आनुश्रविक' विषय वे हैं, जो वेद और शास्त्रों द्वारा सुने गए हैं, ये भी

दो प्रकार के होते हैं—(क) देवलोक, स्वर्ग, विदेह और प्रकृतिलय का आनन्द (ख) दिव्य गन्ध-रस आदि, अणिमा-गरिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ। वैराग्य संन्यासी उक्त दोनों प्रकार के विषयों से विरक्त होता है।]

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देहवासनां शास्त्रवासनां
लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति
स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ २० ॥

शास्त्रों का ज्ञान पाकर, पाप-पुण्य और सांसारिक अनुभवों को सुनकर, प्रपञ्च से परे (उपराम) होकर, शरीर वासना (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लौकैषणा), शास्त्र वासना (शास्त्रों पर अत्यधिक निर्भर करना), लोक वासना (लौकिक व्यवहारों की प्रमुखता) का परित्याग करके, समस्त प्रकार की सांसारिक प्रवृत्तियों को वमन किये हुए अन्न की भाँति मान करके, साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न होकर जो संन्यास धर्म को स्वीकार करता है, 'उसे ज्ञान संन्यासी' कहा गया है ॥ २० ॥

क्रमेण सर्वमध्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः
संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥ २१ ॥

क्रमानुसार सभी का अभ्यास करके, सभी अनुभव लेकर, ज्ञान एवं वैराग्य के तत्त्व को अच्छी तरह से जान करके, देह मात्र अवशिष्ट मानकर जो संन्यास-धर्म को ग्रहण करता है, 'वह ज्ञान वैराग्य संन्यासी' कहलाता है ॥ २१ ॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्याभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः
संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥ २२ ॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ— इन तीनों आश्रमों का पालन करने के पश्चात् वैराग्य (की दृढ़ स्थिति) न होने पर भी नियमानुसार संन्यास ग्रहण करना चाहिए, यह लक्षण 'कर्म-संन्यासी' के कहे गये हैं ॥ २२ ॥
स संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंस । परमहेसतुरीयातीतावधूताश्वेति ॥ २३ ॥

इस संन्यास के छः भेद हैं— कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत ॥ २३ ॥

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वारा-
धनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमात्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥ २४ ॥

कुटीचक संन्यासी शिखा (चोटी) एवं यज्ञोपवीत को अपने शरीर में धारण किये रहता है। इसके अतिरिक्त वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन (लङ्गोटी), चादर, कंथा (कथरी) को ग्रहण करने वाला, माता-पिता तथा गुरु की आराधना करने वाला; बटलोई, कुदाली और छीका मात्र अपने पास रखने वाला तथा एक ही जगह पर भोजन करने वाला, ऊपर की ओर श्वेत त्रिपुण्ड्र मस्तक में धारण करने वाला और त्रिदण्ड भी धारण करने वाला होता है ॥ २४ ॥

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी । कुटीचकवत्सर्वसमोऽमधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥ २५

बहूदक संन्यासी शिखा आदि, कंथा (कथरी) त्रिपुण्ड्र को धारण करने वाला तथा सभी तरह से कुटी-
चक की भाँति मधुकरी (भिक्षा) की वृत्ति वाला होता है, वह केवल आठ ग्रास भोजन ग्रहण करता है ॥ २५ ॥
हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी । असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥ २६ ॥

'हंस' नामक संन्यासी जटाधारी (लम्बे केशों वाला,) त्रिपुण्ड्र एवं ऊर्ध्व पुण्ड्र को धारण करने वाला, अनजान स्थान पर माँगकर भोजन करने वाला तथा कौपीन (लङ्गोटी) मात्र धारण करने वाला होता है ॥ २६ ॥

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्री एककौपीनधारी ।

शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्भूलनपरः सर्वत्यागी ॥ २७ ॥

‘परमहंस’ संन्यासी शिखा-यज्ञोपवीत से विहीन पाँच घरों से हाथ रूपी पात्र में भिक्षा प्राप्त करने वाला, एक लंगोटी, एक चादर तथा एक बाँस का दण्ड अपने पास में रखने वाला होता है अथवा शरीर पर भस्म धारण कर एक चादर ही अपने पास रखता है और सभी कुछ का परित्याग कर देता है ॥ २७ ॥

तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी अन्नाहारी ।

चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टे दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ २८ ॥

‘तुरीयातीत’ संन्यासी सब कुछ त्याग देने वाला, गोमुख वृत्ति वाला, तीन गृहों से फल अथवा अन्न की भिक्षा लेने वाला, अपना शरीर नग्न रखने वाला अर्थात् बिना वस्त्रादि के शरीर को रखने वाला होता है । वह अपने शरीर को मरे हुए की भाँति जान करके किसी तरह जीवन निर्वाह करता है ॥ २८ ॥

अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपा-नुसंधानपरः ॥ २९ ॥ जगत्तावदिदं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम् । यद्वाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विभुः । कालेनात्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः ॥ ३० ॥

‘अवधूत’ नामक संन्यासी किसी भी तरह का नियम नहीं मानता । पतित और निन्दित के अतिरिक्त समस्त जातियों में अजगर वृत्ति से आहार प्राप्त करने वाला होता है । वह अपने स्वरूप की खोज में ही सतत लगा रहता है । यह जो वृक्ष, घास-पात, पर्वत आदि सम्पूर्ण विश्व है, वह मेरे से अलग है । जो कुछ बाह्य जगत् में दृष्टिगोचर हो रहा है, वह अत्यन्त जड़ है । मैं किस तरह उसमें स्थित रह सकता हूँ; क्योंकि मैं विराट् हूँ, काल के द्वारा कल्पित एवं जल्दी ही विलय होने वाला भी मैं नहीं हूँ ॥ २९-३० ॥

जडया कर्णशश्कुल्या कल्यमानक्षणस्थया । शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः ॥ ३१ ॥

मैं (संन्यासी) वह जड़ शब्द रूप नहीं हूँ; जो कि क्षण-मात्र ही ठहरता है । शून्य आकृति एवं स्वरूप से युक्त अचेतन भी मैं नहीं हूँ ॥ ३१ ॥

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा । चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार क्षण भर में नष्ट होने वाली एवं बनने-बिगड़ने वाली त्वचा भी मुझसे अलग है । मैं वह जड़ (अचेतन) स्पर्श नहीं हूँ, जो कि चैतन्यता के प्रभाव से आत्मानुभूति प्राप्त करता है ॥ ३२ ॥

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया । स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्टो रसो नाहमचेतनः ॥ ३३ ॥

चंचलता से युक्त मन एवं मन से युक्त जिह्वा द्वारा द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन शक्ति भी मैं नहीं हूँ ॥ ३३ ॥ दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः । केवले द्रष्टुरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः ॥ ३४ ॥

इसी तरह से दृश्य एवं दर्शन के विलीन हो जाने से विनष्ट हो जाने वाला अचेतन जड़ अनुभव भी मैं नहीं हूँ, मैं तो केवल द्रष्टा मात्र हूँ ॥ ३४ ॥

नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः । पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः ॥ ३५ ॥

गन्ध भी जड़ पदार्थ से युक्त तथा ग्राणेन्द्रिय के द्वारा परिकल्पित है, ऐसी तुच्छ जड़-गन्ध भी मैं नहीं हूँ ॥ निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः । शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ॥ ३६ ॥

मैं (संन्यासी) पञ्च इन्द्रियों के भ्रम से विहीन, मनन रहित, शान्त स्वरूप से युक्त तथा मलिनता रहित शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ ॥ ३६ ॥

चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहेषोऽवभासकः । सबाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलोऽहं निरङ्गनः ।
निर्विकल्पचिदाभास एक आत्मास्मि सर्वगः ॥ ३७ ॥

मैं (संन्यासी) चैतन्य से भी परे चिन्मात्र प्रकाश से युक्त हूँ। मैं बाह्य एवं अन्तः में संव्यास रहने वाला निष्कल (कलारहित), निरञ्जन, निर्विकल्प, चिदाभास एवं सर्वत्र व्यास रहने वाला आत्मतत्त्व हूँ ॥ ३७ ॥
मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः । सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा ॥ ३८ ॥

मुझ एक चैतन्य स्वरूप के द्वारा ही घट-पट आदि से लेकर सूर्य यर्यन्त सभी दीपक के सदृश तेजवान् विनिर्मित किये जाते हैं ॥ ३८ ॥

मयैवैता: स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियवृत्तयः । तेजसान्तः प्रकाशेन यथाग्निकणपद्मकयः ॥ ३९ ॥

ये सभी इन्द्रियों की विचित्र एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ (पंक्तियाँ) मेरे अन्तःकरण के प्रकाश से ही प्रादुर्भूत होती हैं। जैसे-अग्नि से चिनगारियाँ निःसृत होती हैं ॥ ३९ ॥

अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी । शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ॥ ४० ॥

यह पवित्र चिन्मय दृष्टि अन्तरहित, शाश्वत, आनन्द का उपभोग करने वाली एवं अत्यन्त शान्ति प्रदान करने वाली है। यह अन्य समस्त दृष्टियों पर विजय पाने वाली है ॥ ४० ॥

सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने । प्रत्यक्षैतन्यरूपाय महामेव नमो नमः ॥ ४१ ॥

यह मुक्तात्मा सभी तरह की भावनाओं में स्थायी रूप से स्थित रहता है, यह चैत्य अवस्था से भी मुक्त चिदात्मा है। इस प्रत्येक चैतन्य रूप वाले आत्मा को नमस्कार है ॥ ४१ ॥

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया । चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया ॥
कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्वैत्यबन्धनैः । चितश्वैत्यमुपेक्षित्र्याः समतैवावशिष्यते ॥ ४३ ॥

कला एवं कल्पनाविहीन चित्तशक्ति से ही इन विचित्र, स्वच्छ तथा समभाव सम्पन्न शक्तियों का प्राकट्य हुआ है। यह चित् शक्ति तीनों कालों में सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न, दृश्यजगत् के बन्धनों से मुक्त है ॥ ४२-४३ ॥
सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् । नैरात्मसिद्धात्मदशामुपयातैव शिष्यते ॥ ४४ ॥
ईहानीहामयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः । सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥ ४५ ॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः । धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥ ४६ ॥

यह वाणी से न जाने जा सकने वाली है। शाश्वत असत्ता तथा निरति आत्मा के सदृश वही शेष रहती है। जो चित्तशक्ति इच्छा एवं अनिच्छा में स्थित है, वह मलों से आच्छादित है तथा पाश से आबद्ध पक्षिणी की भाँति उड़ने में असमर्थ होती है। इच्छा एवं द्वेष से प्रादुर्भूत द्वन्द्वभाव के कारण ये मोहवश पृथिवीरूपी गड़े में पतित हुए कृमि-कीटकों के ही समान हैं ॥ ४४-४६ ॥

आत्मनेऽस्तु नमो महामविच्छिन्नचिदात्मने । परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम् ॥ ४७ ॥

मुझ अविच्छिन्न चिदरूप आत्मा को नमन-वंदन है। मैं सतत, परम प्रत्यक्ष, बुद्ध एवं उदित हूँ ॥ ४७ ॥
उद्धृतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु ते । तुभ्यं महामनन्ताय महां तुभ्यं चिदात्मने ॥

मैं उद्धृत हूँ, विकल्पों से परे हूँ, मैं जो हूँ, मैं ही सो हूँ, मुझे नमस्कार है। तुम और मैं अन्तरहित हैं। मैं एवं तुम दोनों ही चिदात्मा हैं। दोनों को नमस्कार है ॥ ४८ ॥

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो महां शिवाय च । तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति ॥
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४९ ॥

मुझ परम ईश्वर तथा शिव स्वरूप को नमस्कार है। यह (आत्मा) बैठता हुआ आसीन नहीं होता, जाते हुए भी नहीं जाता, शान्त रहते हुए भी व्यवहार में लगा रहता है, कार्य करता हुआ भी कभी आसक्त नहीं होता॥
सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञेयश्चासबन्धुवत् । शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥ ५० ॥

यह (आत्मा) सुलभ है, आस बन्धु के सदृश है एवं शरीर रूपी कमल पुष्प में भ्रमर की भाँति है॥५०॥
न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न मे भोगविसर्जने । यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत् ॥ ५१ ॥

न तो मुझ (आत्मा) को भोग करते रहने की इच्छा है और न ही भोग को त्यागने की, जो आता हो, वह आ जाए एवं जो जाना चाहता हो, वह चला जाये॥५१॥

मनसा मनसि च्छन्ने निरहंकारतां गते । भावेन गलिते भावे स्वस्थस्तिष्ठामि केवलः ॥ ५२ ॥

मन से मन के अलग हो जाने पर, अहंकार के विसर्जित हो जाने पर तथा भाव के विनष्ट हो जाने पर मैं (आत्मा) केवल स्वस्थ रूप में स्थित रहता हूँ॥५२॥

निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कमनीहितम् । केवलास्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः ॥ ५३ ॥

(मैं) भाव शून्य, अहंकारहित, मनः शून्य, चेष्टारहित, स्पन्द विहीन तथा केवल शुद्ध आत्मा स्वरूप हूँ। मेरा शत्रु कहाँ हो सकता है?॥५३॥

तृष्णारज्जुगणं छित्वा मच्छरीरकपञ्चरात् । न जाने क्व गतोद्गीय निरहंकारपक्षिणी ॥ ५४ ॥

मेरे शरीर रूपी पिंजड़े में निवास करने वाली निरहंकारिता रूपी पक्षिणी, तृष्णा रूपी रज्जु (रस्सी) को काटकर न जाने कहाँ उड़कर चली गई॥५४॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते । यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ॥ ५५ ॥

जिसमें अकर्तापन का भाव विद्यमान है, जिसकी बुद्धि में आसक्ति नहीं है, जो समस्त भूत-प्राणियों को समान भाव से देखता है, निश्चय ही उसी का जीवन शोभनीय है॥५५॥

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया । साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥ ५६ ॥

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शीतल है, जिसकी बुद्धि राग-द्वेष आदि से मुक्त हो चुकी है तथा जो साक्षी भाव से इस जगत् का अवलोकन करता है, ऐसे उस श्रेष्ठ संन्यासी का जीवन अत्यधिक शोभनीय है॥
येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्ज्ञता । चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥ ५७ ॥

जिसको पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त हो गया है, जिसने अच्छाई एवं बुराई के ध्यान का परित्याग कर दिया है तथा जिस (संन्यासी) ने चित्त को चित्त में ही संयुक्त कर दिया है, उसका ही जीवन अत्यन्त सुन्दर है॥५७॥
ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम् । स्थितिमध्यागता शान्तिर्मोक्षनामाभिधीयते ॥ ५८ ॥

ग्राह्य एवं ग्राहक का सम्बन्ध विनष्ट हो जाने के पश्चात् स्थिर शान्ति का उदय होता है, इस कारण शान्ति को ही मोक्ष कहा जाता है॥५८॥

भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्गुरविवर्जिता । हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार से भुना हुआ बीज अंकुर प्रकट करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार जो जीवन से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उन सभी के हृदय की वासना-आसक्ति प्रायः पवित्रता से युक्त हो जाती है॥५९॥

पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी । आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिस्थेव तिष्ठति ॥ ६० ॥

वह पतित-पावन, परम उदार, शुद्ध सत्य को आत्मसात् करने वाले, आत्मध्यान सम्पन्न एवं अपने-अपने नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं॥६०॥

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्षेतनमुच्यते । निर्मनस्कस्वभावत्वात् तत्र कलनामलम् ॥ ६१ ॥

जब चेतन तत्त्व-'चित्त-मुक्त' हो जाता है, तभी यह आत्मरूप चैतन्य तत्त्व कहा जाता है। जब स्वभाव-मन (इच्छा) रहित हो जाता है, तब उसमें किसी भी तरह के दोष प्रकट नहीं होते ॥ ६१ ॥

सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मिकी । सर्वज्ञता सा संतुमिन्नतु यत्र मनः क्षतम् ॥ ६२ ॥

वही सत्यता है, वही शिव स्वरूप है, उसमें ही परमात्मा अवस्थित है। वही सर्वज्ञता है, वही सम्पूर्ण तृप्ति है, न कि जहाँ मन क्षतिग्रस्त (मेरे-तेरे में बँटा हुआ) हो । ॥ ६२ ॥

प्रलपन्विसृजन्नृलृन्मिष्ट्रिमिष्ट्रिपि । निरस्तमननानन्दःद संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६३ ॥

यद्यपि मैं प्रलाप करता, परित्याग करता, स्वीकार करता, चक्षुओं को खोलता एवं बन्द करता रहता हूँ, फिर भी मैं मननशील, आनन्दस्वरूप, संवित् (ज्ञानरूप) आत्मा ही हूँ ॥ ६३ ॥

मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूलयन्परम् । आशापाशानलं छित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६४ ॥

संवेद्य रूपी मन को दूर करके तथा मन को निर्मूल अर्थात् बिना इच्छा किये हुए आशा रूपी फन्दे को काट करके मैं केवल संवित् रूप ही हूँ ॥ ६४ ॥

अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः । नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६५ ॥

शुभ एवं अशुभ संकल्पों से मुक्त तथा सम्यक् रूप से शान्त होकर मैं आरोग्य अवस्था में स्थित हूँ। इष्ट तथा अनिष्ट के भाव का परित्याग करके मैं केवल संवित् रूप ही हो गया हूँ ॥ ६५ ॥

आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगात्स्थितौ ।

वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरोऽस्म्यहम् ।

निर्मलायां निराशायां स्वसंवित्तौ स्थितोऽस्म्यहम् ॥ ६६ ॥

राग एवं द्वेष के भावों का परित्याग करके, विभागरहित, नश्वर जगत् में प्रतिष्ठित अत्यधिक विशेष रूप से दृढ़ आत्मारूपी साम्य के आश्रय में मैं पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हूँ। मैं अपनी निर्मल एवं आशारहित संवित् (आत्मिक दशा) में प्रतिष्ठित हूँ ॥ ६६ ॥

ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः । कदान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः ॥ ६७ ॥

चेष्टा और चेष्टारहित तथा हेय एवं उपादेय की भावना से मैंने मुक्ति को प्राप्त कर लिया है। मैं आत्मिक संतोष को कब प्राप्त करूँगा? स्वयं प्रकाश स्वरूप पद में कब प्रतिष्ठित होऊँगा ॥ ६७ ॥

कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे । समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना ॥ ६८ ॥

पर्वत-शृंखला की गुफा में आसन ग्रहण करके शांत भाव से कब चिन्तन-मनन करूँगा। मैं निर्विकल्प समाधि लगाकर शिला के समान कब चेष्टारहित हो जाऊँगा? ॥ ६८ ॥

निरंशध्यानविश्रान्तिमूकस्य मम मस्तके । कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ॥ ६९ ॥

मैं उस अंश-विहीन अविनाशी ब्रह्म के चिन्तन में इस तरह से कब निश्चल हो जाऊँगा कि कोयल पक्षी हमारे मस्तक पर घोंसला विनिर्मित कर लें ॥ ६९ ॥

संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् । विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ॥ ७० ॥

मैं संकल्प रूपी वृक्षों तथा तृष्णा रूपी लताओं को काटकर मन रूपी विशाल वन को पारकर विस्तृत भूमि (मैदान) में पहुँचकर आनन्द पूर्वक विचरण करता हूँ ॥ ७० ॥

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम् । निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः ॥ ७१ ॥ स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता । आनन्दितोपशमता सदा प्रमुदितोदिता । पूर्णतोदारता सत्या कान्तिसत्ता सदैकता ॥ ७२ ॥ इत्येवं चिन्तयन्धक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा । निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह ॥ ७३ ॥

मैं उस अविनाशी पद का स्वरूप हूँ, केवल हूँ, जय रूप हूँ, निर्वाण, निरीह (अहरहित), अंशरहित, निरीप्सित (इच्छारहित) स्वच्छ, वीर्यवान्, सत्ताशाली, सत्य एवं ज्ञान स्वरूप हो गया हूँ। आनन्द, उपशम, प्रसन्नता, पूर्णता, उदारता, सत्य, द्वैतरहित आदि की भावना करते हुए संन्यासी को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। निर्विकल्प स्वरूप का पूर्ण जानकार होकर, निर्विकल्प बन करके ही रहना चाहिए ॥ ७१-७३ ॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः । न शूद्रस्त्रीपतितोदक्या संभाषणम् । न यतेर्देवपूजनोत्सवदर्शनम् । तस्मान्न संन्यासिन एष लोकः । आतुरकुटीचकयोर्भूलोकभुवलोकौ । बहूदकस्य स्वर्गलोकः । हंसस्य तपोलोकः । परमहंसस्य सत्यलोकः । तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥ ७४ ॥

आतुर संन्यासी यदि संन्यास लेने की इच्छा से जीवित रहे, तभी उसे क्रम-संन्यास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शूद्र, स्त्री, पद-भ्रष्ट तथा रजस्वला से कभी भी सम्भाषण नहीं करना चाहिए। किसी भी देवता के पूजनोत्सव को देखने के लिए संन्यासी को कभी नहीं जाना चाहिए। वे लौकिक कार्य संन्यासी के लिए नहीं हैं। आतुर और कुटीचक का भूः एवं भुवः लोक होता है, बहूदक का स्वर्गलोक होता है, हंस का तपोलोक एवं परमहंस का स्थान सत्यलोक होता है। तुरीयातीत तथा अवधूत श्रेणी के लोग भ्रमर-कीट के सदृश अपने स्वरूप का अन्वेषण करते हुए कैवल्य (केवल आत्मतत्त्व) रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं ॥ ७४ ॥

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उद्धकुङ्कुमभारवद्व्यर्थः । न योगशास्त्र प्रवृत्तिः । न सांख्यशास्त्राभ्यासः । न मन्त्रतन्त्रव्यापारः । नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति । अस्ति चेच्छवालंकारवत्कर्माचारविद्यादूरः । न परिव्राणनामसंकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति । एरण्डतैलफेनवत्सर्वं परित्यजेत् । न देवताप्रसादग्रहणम् । न बाह्यदेवाभ्यर्चनं कुर्यात् ॥ ७५ ॥

संन्यासी के लिए अपने स्वरूप के अनुसंधान के अलावा अन्य विभिन्न शास्त्रों का निरन्तर अभ्यास करना, ऊँट के ऊपर केशर लादने के सदृश बेकार है। संन्यासी के लिए योग की प्रवृत्ति अथवा सांख्य शास्त्र का मंत्र-तंत्र का व्यापार आदि तथा किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति वर्जनीय है। यदि कोई संन्यासी ऐसा करता है, तो वह मृतक शव के ऊपर आभूषणों के समान है तथा संन्यासी के कर्म एवं विद्या के अनुकूल नहीं है। संन्यासी को किसी भी देवता के नाम तथा कीर्तन आदि में भाग नहीं लेना चाहिए। कारण यह है कि कोई भी कार्य करने के बाद उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिए एरण्ड (रेडी) तेल के फेन के सदृश सभी का परित्याग कर देना चाहिए। संन्यासी को न तो किसी देवी-देवता का प्रसाद ग्रहण करना चाहिए और न ही किसी बाह्य देवता आदि की पूजा ही करनी चाहिए ॥ ७५ ॥

स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कशीभूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत् । माधुकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा कालं नयेत् । आत्मसंमितमाहारमाहरेदात्मवान्यतिः ॥ ७६ ॥

संन्यासी को चाहिए कि वह अपने अतिरिक्त सभी का त्याग करके अपने हाथ रूपी पात्र से मधुकरी

वृत्ति पर जीवनयापन करे। जिससे कि उसके शरीर में चर्बी की वृद्धि न हो तथा उसको सतत विचरण करते रहना चाहिए। वह हाथ रूपी पात्र के द्वारा या मुख रूपी पात्र के द्वारा भिक्षा ग्रहण करते हुए जीवन व्यतीत करे॥ आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च। वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥ ७७॥

संन्यासी को पेट के चार भागों में से दो भाग में आहार (भोजन) ग्रहण करना चाहिए। एक भाग में जल तथा एक भाग वायु-संचरण के लिए रिक्त रखना चाहिए॥ ७७॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्षचित्। निरीक्षन्ते त्वनुद्विग्नास्तदगृहं यत्नतो व्रजेत्॥ ७८॥

(संन्यासी) सतत भिक्षावृत्ति पर ही आश्रित रहे। हमेशा एक ही घर से भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। जो शान्त-भाव से उसकी राह देखते हों, उन्हीं के यहाँ प्रयासपूर्वक भोजन के लिए जाना चाहिए॥ ७८॥

पञ्चसमग्रहाणां तु भिक्षामिच्छेत्क्रियावताम्। गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्निष्क्रान्तो न पुनर्वर्जेत्॥ ७९॥

संन्यासी को श्रेष्ठ आचरण वाले पाँच या सात घरों में भिक्षा के लिए जाना चाहिए तथा गौ के दोहन में जितना समय लगता है, उतनी ही देर तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। वह यहाँ से एक बार भिक्षा ग्रहण कर ले, वहाँ पुनः नहीं जाना चाहिए॥ ७९॥

नक्ताद्वूरश्चोपवास उपवासादयाचितः। अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्मात्भैक्षेण वर्तयेत्॥ ८०॥

रात्रि के आहार (भोजन) से उपवास अधिक श्रेष्ठ है, उपवास की अपेक्षा अयाचित अर्थात् बिना माँगी हुई भिक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अयाचित भिक्षा की अपेक्षा माँगकर खाना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अतः यथा सम्भव भिक्षा का ही आश्रय लेना चाहिए॥ ८०॥

नैव सव्यापसव्येन भिक्षाकाले विशेदगृहान्। नातिक्रामेदगृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते॥ ८१॥

भिक्षा काल में सव्य-अपसव्य (दायें-बायें) मार्ग से घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए। जिस घर में किसी तरह का दोष न हो, उसे भूल या मोह से भी नहीं छोड़ा जाना चाहिए (वहाँ भिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए)॥ श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतम्। व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेच्छद्वाभक्तिपुरस्कृते॥ ८२॥

यदि श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ श्रद्धा-भक्ति से विहीन हो, तो उसके यहाँ भिक्षा नहीं स्वीकार करनी चाहिए तथा जो संस्कार विहीन (व्रात्य) भी यदि श्रद्धा-भक्ति रखता हो, तो उसके यहाँ भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए॥ माधूकरमसंक्लृतं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम्॥ ८३॥

(संन्यासियों की) भिक्षा पाँच तरह की कही गयी है- असंकल्पित माधूकर, प्राक्प्रणीत, अयाचित, तात्कालिक तथा उपपन्न॥ ८३॥

मनः संकल्परहितांस्त्रीनगृहान्यच्च सप्त वा। मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम्॥ ८४॥

मन में किसी भी तरह का संकल्प किये बिना किन्हीं तीन, पाँच अथवा सात घरों में से मधुमक्खी के सदृश थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करना असंकल्पित माधूकर है॥ ८४॥

प्रातःकाले च पूर्वेद्युर्यद्दर्शैः प्रार्थितं मुहुः। तद्देशं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि वा॥ ८५॥

प्रातःकाल अथवा पिछले दिन कोई भी मनुष्य भक्तिपूर्वक भिक्षा के लिए निवेदन करे, तो उसके यहाँ जो भिक्षा ग्रहण की जाती है, उसे प्राक्प्रणीत भिक्षा कहते हैं॥ ८५॥

भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम्। अयाचितं तु तद्देशं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः॥ ८६॥

भिक्षा के लिए विचरण करते समय संन्यासी को यदि कोई (व्यक्ति) निमंत्रित करे, तो उस (व्यक्ति) के यहाँ (अयाचित) भिक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए॥ ८६॥

उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत् । तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिः सदा ॥
सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति । उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्गक्षणः ॥ ८८ ॥

भिक्षा के लिए निकलते समय (संन्यासी को) यदि कोई ब्राह्मण उसके समीप में आकर भोजन करने को कहे, तो उस 'तात्कालिक' भिक्षा को सदा ही स्वीकार कर सकता है। यदि कोई ब्राह्मण मठ (आश्रम) में सिद्ध (तैयार) करके भोजन ले आये, तो उसे साधु 'उपपन्न' भिक्षा कहते हैं ॥ ८७-८८ ॥

चरेन्माधुकरं भैक्षं यतिम्लेच्छकुलादपि । एकान्नं नतु भुज्ञीत बृहस्पतिसमादपि । याचितायाचि-
ताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत्स्थितम् ॥ ८९ ॥

यदि संन्यासी को भिक्षा की विशेष आवश्यकता पड़ जाये, तो उसे म्लेच्छ के यहाँ से भी भिक्षा माँग लेनी चाहिए; परन्तु कभी भी एक ही स्थान से आहार स्वीकार नहीं करना चाहिए। चाहे वह बृहस्पति के सदृश पूज्य का ही घर क्यों न हो? संन्यासी को सर्वदा 'याचित' अथवा 'अयाचित' भिक्षा के द्वारा निर्वाह करना सर्वथा उचित है ॥ ८९ ॥

न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा । नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी ॥ ९० ॥

वायु हर किसी को स्पर्श करता है, अग्नि सभी को जलाता है, जल में सभी तरह के मल-मूत्रादि डाल दिये जाते हैं, फिर भी ये सभी इन दोषों के स्पर्श से प्रदूषित नहीं होते। इसी तरह संन्यासी भी किन्हीं अन्य दोषों से दूषित नहीं होता ॥ ९० ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने । कालेऽपराह्णे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत् ॥ ९१ ॥

अग्नि-धूम एवं मूसल के शब्द से रहित, जिस जगह पर अग्नि बुझकर समाप्त हो चुकी हो तथा उपस्थित सभी लोग भोजन कर चुके हों, वहाँ पर ही योगी को मध्याह्न काल के पश्चात् भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥ ९१ ॥
अभिशास्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम् । वर्जयित्वा चरेद्दैक्षं सर्ववर्णेषु चापदि ॥ ९२ ॥

आपत्ति कालीन स्थिति में संन्यासी निन्दनीय परिवार, पतित एवं पाखण्डी-पदच्युत का परित्याग करके समस्त वर्ण-जातियों के यहाँ से भिक्षा प्राप्त कर सकता है ॥ ९२ ॥

**घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात्सुरया समम् । तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुनसंमितम् ॥
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः ॥ ९३-९४ ॥**

संन्यासी के लिए घृत कुते के मूत्र के सदृश है, शहद मदिरा पान के समान है, तेल शूकर के मूत्र के समतुल्य है, लहसुन युक्त पदार्थ एवं उड़द, अपूप (मालपुआ) आदि के पदार्थ गोमांस के सदृश हैं, दूध मूत्र के सदृश है, अतः संन्यासी को सर्वदा घृत आदि से विहीन भिक्षा ही प्रयत्नपूर्वक स्वीकार करनी चाहिए ॥

**घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन । पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्यं स्थितिं नयेत् ।
पाणिपात्रश्वरन्योगी नासकद्वैक्षमाचरेत् ॥ ९५ ॥ आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः । तदा
समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९६ ॥**

घृत एवं सूपादि (चटनी, मिर्च-मसाला आदि) से युक्त पकवान को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। संन्यासी के लिए उसका हाथ भोजन ग्रहण करने का पात्र है। उस हाथ रूपी पात्र में सर्वदा भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को दिन में एक ही बार भोजन ग्रहण करना चाहिए। दो बार भोजन कदापि न करे। जो मुनि गौ की भाँति केवल मुख से आहार ग्रहण करता है, (संचित नहीं करता) वह सभी में समभाव प्राप्त करके अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ९५-९६ ॥

आन्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव
वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राहादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं
चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राज-
धानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देवतार्चनम्। प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो
भवेत्॥ १७॥

घृत (आज्य) को रुधिर के समान तथा इकट्ठा किये हुए अत्र को मांस की भाँति त्याग देना चाहिए। गन्ध एवं लेपन को गन्दी वस्तु के समान, नमक को अन्त्यज के समान, वस्त्र को जूँठे पात्र के सदृश, तेल मालिश को स्त्री प्रसंग की भाँति, मित्रों की हँसी-मजाक को मूत्र के समान, घण्ड को गौ-मांस के समान, परिचित-मित्रों के घर की भिक्षा को चण्डाल के सदृश, स्त्री को सर्पिणी के समान, सुवर्ण (सोने) को कालकूट के समान, सभा आदि को श्मशानवत्, राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान, एक ही घर के भोजन को मृतक-पिण्ड के समान जानकर इनका परित्याग कर देना चाहिए। देवताओं का पूजन-अर्चन कभी न करे। सांसारिक प्रपञ्चों को त्यागकर उसे जीवन्मुक्त बनना चाहिए॥ १७॥

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः । दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट् ॥ १८ ॥

आसन, पात्रलोप (बर्तन की चाह), सञ्चय, शिष्य बनाना, दिन में शयन करना तथा बेकार की बातें करना इत्यादि ये छः प्रकार के कार्य संन्यासी को बन्धन में डालने वाले हैं॥ १८॥

वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम् । उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह संग्रहः ॥ १९ ॥

यते: संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते । गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥ १०० ॥

वर्षा (पानी) के अलावा जो स्थान है, उसे आसन कहा जाता है। कहे हुए पात्रों के संग्रह में से एक ही तुम्बी आदि पात्र को ग्रहण करना चाहिए। संन्यासी के व्यवहार के लिए जो तुम्बी आदि पात्र कहे गये हैं, उनके खो जाने पर दूसरे के पात्रों को ले लेना ही पात्र-लोप है। अपना दण्ड खो जाने पर दूसरे का दण्ड ग्रहण कर लेना ही परिग्रह है॥ १९-१००॥

कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तिः । शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥ १०१ ॥

कालान्तर (भविष्य) में भोगार्थ के लिए संग्रह करके रखना ही सञ्चय कहा जाता है। शुश्रूषा लाभ, पूजा एवं यश के लिए चेष्टा करना भी परिग्रह है॥ १०१॥

शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः । विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ॥ १०२ ॥

(जो शिष्य) आत्मकल्याण के लिए करुणा से युक्त होकर आये, उसे ही शिष्य बनाये। उसके अतिरिक्त अन्य किसी को शिष्य बनाना ही शिष्य संग्रह कहा जाता है। संन्यास में विद्या को दिन और अविद्या को रात्रि जाना जाता है॥ १०२॥

विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते । आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्ता विना तथा । अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥ १०३ ॥

इस कारण से विद्या के अभ्यास में प्रमाद बरतना दिन में शयन करना कहा जाता है। आध्यात्मिक कथा को छोड़कर भिक्षा की बात, अनुग्रह-परिप्रश्न (का उत्तर देने) के अतिरिक्त और जो बात की जाये, वह बेकार का बोला जाना समझा जाता है॥ १०३॥

एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम् । ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङ्क्षा रसायनम् ॥
१०४ ॥ कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम् । क्रिया कर्मविवादश्च गुरुवाक्य-
विलङ्घनम् ॥ १०५ ॥ संधिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम् । शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो
भिक्षाधारस्तु तैजसम् ॥ १०६ ॥ विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्षण्यं च मैथुनम् । त्यक्तं संन्यासयोगेन
गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥ १०७ ॥ गोत्रादिचरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम् । प्रतिषिद्धानि चैतानि
सेवमानो व्रजेदधः ॥ १०८ ॥

एकान्न, घमण्ड और मत्सरता, गन्ध, पुष्प, आभूषण, पान खाना, तेल लगाना, क्रीड़ा, भोग की
आकांक्षा, रसायन, खुशामद करना, निन्दा, कुशल, प्रश्र, खरीदने-बेचने की बातें, क्रियाकर्म, वाद-विवाद,
गुरु के वाक्य का उल्लंघन, सन्धि विग्रह की बातें, पलङ्ग, सफेद वस्त्र, वीर्य त्याग, दिन में शयन करना, भिक्षा
पात्र, स्वर्ण, विष, शस्त्र, जीव, हिंसा, क्रोध तथा मैथुन-इन सभी का संन्यासी पूर्णरूप से परित्याग कर दे । जो
गृहस्थियों के धर्म, व्रत, गोत्रादि के आचरण, पिता तथा माता के कुल की सम्पत्ति आदि निषिद्ध कहे गये हैं,
इन सभी का सेवन करने से नीच गति की प्राप्ति होती है ॥ १०४-१०८ ॥

सुजीर्णोऽपि सुजीर्णसु विद्वांस्त्रीषु न विश्वसेत् । सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णम्बरम् ॥ १०९
स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम् । षडेतानि न गृहीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥ ११० ॥

वृद्धावस्था को प्राप्त विद्वान् संन्यासी को वृद्धा स्त्री पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए; क्योंकि पुरानी
गुदड़ी (कथरी) में पुराना वस्त्र ही लगाया जाता है । स्थावर (जङ्ग), जंगम, बीज, सुवर्ण, विष, आयुध आदि
इन छः वस्तुओं को संन्यासी मूत्र एवं विषा के समतुल्य त्याज्य समझ करके कभी ग्रहण न करे ॥ १०९-११०
नैवादीत पाथेयं यतिः किंचिदनापदि । पक्षमापत्सु गृहीयाद्यावदन्नं न लभ्यते ॥ १११ ॥

आपत्ति कालीन समय के अतिरिक्त रास्ते के लिए संन्यासी को अपने पास कुछ भी नहीं रखना
चाहिए । कुयोग वश यदि अन्न न प्राप्त हो, तो पक्षम (पका हुआ अन्न) प्राप्त कर लेना चाहिए ॥ १११ ॥

नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नविसथे वसेत् । परार्थं न प्रतिग्राहाणं न दद्याच्च कथंचन ॥ ११२ ॥

स्वस्थ तथा युवावस्था को प्राप्त हुए संन्यासी को कभी भी किसी के घर में नहीं रुकना चाहिए । दूसरे
किसी की कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए और न ही किसी को अपनी वस्तु देनी चाहिए ॥ ११२ ॥

दैन्यभावात् भूतानां सौभग्याय यतिश्वरेत् । पक्षं वा यदि वाऽपक्षं याचमानो व्रजेदधः ॥ ११३ ॥

संन्यासी को दूसरे अन्य भूत-प्राणियों के कल्पाण हेतु दीनता (दया)का आचरण करना चाहिए । पका
हुआ या फिर बिना पका हुआ अन्न माँगने से संन्यासी निम्न गति को प्राप्त करता है ॥ ११३ ॥

अन्नपानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां प्रतिग्रही । आविकं वानाविकं वा तथा पट्टपटानपि ॥ ११४ ॥

प्रतिगृह्य यतिश्वेतान्यतत्येव न संशयः । अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥ ११५ ॥

खाने-पीने वाले पदार्थों की सतत इच्छा रखने वाला एवं वस्त्रों में ऊनी वस्त्रों अथवा बिना ऊन से
निर्मित वस्त्र, रेशमी वस्त्रादि वस्तुओं को स्वीकार करने से संन्यासी का निश्चित रूप से अधःपतन हो जाता है ।
उसे तो अद्वैतरूपी नौका में आसीन होकर जीवन-मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेनी चाहिए ॥ ११४-११५ ॥

वागदण्डे मौनमातिष्ठेत्कायदण्डे त्वभोजनम् । मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥ ११६ ॥

यदि वाणी को दण्ड देना हो, तो (संन्यासी को) मौन रहना चाहिए, काया (शरीर) को दण्ड देना हो,
तो भोजन नहीं करना चाहिए अर्थात् व्रत-उपवास रखे और यदि मन को दण्ड देने की इच्छा हो, तो फिर
प्राणायाम करना चाहिए ॥ ११६ ॥

कर्मणा बद्ध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥ ११७ ॥

समस्त प्राणी कर्मों के द्वारा बन्धन में बँधते हैं और विद्या (आत्मज्ञान) के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इसी कारण ज्ञानवान् संन्यासी कर्म से सर्वदा दूर रहते हैं ॥ ११७ ॥

रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते । भूमिः शश्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ॥

(छोटी-छोटी) गलियों (वीथियों) में बहुत सारे प्राचीन वस्त्र प्राप्त हो जाते हैं तथा भिक्षा भी सर्वत्र प्राप्त होती रहती है। पृथिवी में चाहे जिस स्थान पर शयन करने हेतु स्थान मिल सकता है, तो फिर संन्यासी को और किस बात का दुःख है? ॥ ११८ ॥

प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः । आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः ॥ ११९ ॥

संन्यासी को सभी तरह के प्रपञ्च अर्थात् माया को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देना चाहिए। जो संन्यासी अपनी अन्तरात्मा में ज्ञानरूपी अग्नि को समारोपित कर लेता है, वही महान् ज्ञानी-अग्निहोत्री कहलाता है॥

प्रवृत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी । ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरीभाक्तमेव च ॥ १२० ॥

संन्यासियों की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है— १. मार्जारी और २. वानरी। जो संन्यासी ज्ञान का अभ्यास करते हैं, उनमें मुख्य रूप से मार्जारी प्रवृत्ति होती है और गौण रूप से वानरी प्रवृत्ति होती है ॥ १२० ॥

नापृष्ठः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः । जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ १२१ ॥

(किसी व्यक्ति के) बिना पूछे ही संन्यासी को नहीं बोलना चाहिए तथा अनीति एवं अन्यायपूर्वक प्रश्न करे, तब भी उसे नहीं बोलना चाहिए। ज्ञानवान् होकर भी संन्यासी को (जन सामान्य के समक्ष) मूढ़ के सदृश आचरण करना चाहिए ॥ १२१ ॥

सर्वेषामेव पापानां सङ्घाते समुपस्थिते । तारं द्वादशसाहस्रमध्यसेच्छेदनं हि तत् ॥ १२२ ॥

यद्यपि किसी कारणवश पाप-प्रसङ्ग उपस्थित हो जाए, तो बारह हजार की संख्या में तारक मंत्र का जाप करके, उस पाप को विनष्ट कर देना चाहिए ॥ १२२ ॥

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपते ऽन्वहम् ।

तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते इत्युपनिषद् ॥ १२३ ॥

जो संन्यासी नित्य-प्रतिदिन बारह हजार बार ॐकार रूपी प्रणव मंत्र का जप करता है, उसे बारह मास के अन्दर ही अविनाशी परब्रह्म का (अपने इष्ट का) साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी यह (रहस्यमयी संन्यास) उपनिषद् है ॥ १२३ ॥

ॐ आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥

॥ इति संन्यासोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ सुबालोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल सोलह खण्ड हैं, जिसमें प्रश्नोत्तर शैली में अध्यात्मदर्शन के गृह्ण विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पहले-दूसरे खण्ड में रैक्त ऋषि के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर घोरांगिरस ने सृष्टि प्रक्रिया के शुभारम्भ तथा विराट् ब्रह्म द्वारा सभी वर्णों, प्राणों, वेदों, वृक्षों, पशुओं-प्राणियों आदि के सृजन का उल्लेख है। तीसरे खण्ड में आत्मतत्त्व का स्वरूप तथा उसको जानने का उपाय बताया गया है। चौथे खण्ड में हृदय के मध्यभाग में आत्मा की संस्थिति, जो बहतर हजार नाड़ी समूहों में विद्यमान बताई गई है, पंचम खण्ड में अजर-अमर आत्मा की उपासना का उल्लेख चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिहा, त्वचा, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, वाक्, हाथ, पैर, पायु (गुदा), उपस्थ (जननेन्द्रिय) आदि के उपलक्षण के साथ किया गया है। छठवें खण्ड में चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिहा आदि तथा आदित्य, रुद्र, वायु आदि ऋग्वेद, सामवेदादि सभी नारायण रूप हैं- ऐसा कहा गया है। सातवें खण्ड में पृथिवी, जल, वायु, तेज आदि में विद्यमान उस चेतना का उल्लेख जिसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, बुद्धि आदि जान नहीं पाते, वह भी नारायण का प्रतिरूप है। आठवें खण्ड में हृदय गुहा में विद्यमान आनन्दरूप आत्मतत्त्व का उल्लेख है। नौवें खण्ड में समस्त पदार्थ किसमें अस्त होते हैं-यह पूछे जाने पर चक्षु, श्रोत्र, नासिका आदि से होते हुए अन्ततः, तुरीय में विलीन होते हैं-यह कहा गया। दसवें खण्ड में सभी किसमें प्रतिष्ठित हैं? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न लोकों के रूप में बताते हुए अन्त में आत्मस्वरूप परब्रह्म में प्रतिष्ठित बताया गया है। ग्यारहवें खण्ड में शरीर से आत्मा के उल्कमण का क्रम उल्लिखित है। बारहवें और तेरहवें खण्ड में संन्यासी-मोक्षार्थी के आहार-विहार और चिन्तन-मनन का ढंग वर्णित है। चौदहवें में एक-दूसरे के अन्न (भक्ष्य) का उल्लेख करते हुए मृत्यु को परमदेव के साथ एकाकार बताया गया है। पन्द्रहवें खण्ड में विज्ञान सब आत्मतत्त्व के शरीर के उल्कमण के बाद किसे दग्ध करता है, इस परम्परा का उल्लेख है-प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि के क्रम में अन्ततः मृत्यु को भी दग्ध कर देता है- यह बताते हुए कहा गया है कि उस समय न सत् रहता है, न असत् और न सदसत्। इसी को निर्वाण (मुक्ति) विद्या कहा गया है। सोलहवें खण्ड में इस उपनिषद् की महत्ता और फलश्रुति का वर्णन करते हुए बात समाप्त की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

तदाहुः किं तदासीत्तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदिति ॥ १ ॥

ऋषियों की सभा में ऋषि प्रमुख रैक्त ऋषि के द्वारा सृष्टि के सन्दर्भ में प्रश्न किये जाने पर कि सृष्टि के पूर्व क्या था? घोराङ्गिरस ने कहा-सृष्टि के पूर्व न सत् था, न असत् और न सदसत् था ॥ १ ॥

तस्मात्तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्व्यः पृथिवी ॥२ ॥

(इसके बाद क्या-क्या उत्पन्न हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने कहा-सर्वप्रथम आदितत्त्व से) तम की उत्पत्ति हुई, तम से भूत आदि (अक्षर, अव्यक्त, अहंकार आदि) का आविर्भाव हुआ। भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई ॥ २ ॥

तदण्डं समभवत्तसंवत्सरमात्रमुषित्वा द्विधाऽकरोदधस्ताद्भूमिमुपरिष्ठादाकाशं मध्ये पुरुषो
दिव्यः सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । सहस्रबाहुरिति ॥ ३ ॥

यही (सब मिलकर) ब्रह्माण्ड रूप अण्ड हो गया। इसमें एक संवत्सर (अवधि विशेष) तक स्थित होकर पुरुष ने इसे दो भागों में विभक्त कर दिया। नीचे का भाग पृथिकी और ऊपर का भाग आकाश हुआ, इन दोनों के मध्य में सहस्र शिर वाला, सहस्र नेत्रों वाला, सहस्र पैरों और सहस्र बाँहों वाला दिव्य पुरुष (विराट् पुरुष) प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम् ॥ ४ ॥

उसने सर्वप्रथम प्राणियों की मृत्यु को सृजा। जिसका स्वरूप तीन नेत्रों वाले रुद्र, तीन मस्तक वाले और तीन पैरों वाले खण्डपरशु का था ॥ ४ ॥

तस्य ब्रह्मा बिभेति स ब्रह्माणमेव विवेश स मानसान्सस पुत्रानसृजत्ते ह विराजः सम
मानसानसृजन्ते ह प्रजापतयः ॥ ५ ॥

अपने द्वारा रखे हुए इस रूप को देखकर वह (ब्रह्मा) भयभीत हुए, तब वे (रुद्र) ब्रह्मा में ही प्रविष्ट हो गये। तदनन्तर उन्होंने (ब्रह्मा ने) सात मानस पुत्र उत्पन्न किये, उन सात पुत्रों ने (पुनः) सात विराट् मानसपुत्रों को जन्म दिया, वे (सात पुत्र) ही प्रजापति हुए ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहु राजन्यः कृतः । ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च हृदयात्सर्वमिदं जायते ॥ ६ ॥

इस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, दोनों बाँहों से क्षत्रिय, दोनों जंघओं से वैश्य तथा दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। मन से चन्द्रमा, चक्षु से सूर्य, श्रोत्र से वायु तथा प्राण और हृदय से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चास्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो
ललाटाक्रोधजो रुद्रो जायते ॥ १ ॥

(उस पूर्व वर्णित विराट् के) अपान वायु से निषाद, यक्ष, राक्षस और गन्धर्व, अस्थियों से पर्वत, रोमों से ओषधि-वनस्पतियाँ और क्रोध (युक्त) ललाट से रुद्र उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो
व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि व्याख्यानान्युप-
व्याख्यानानि च सर्वाणि च भूतानि ॥ २ ॥

वह विराट् पुरुष महान् भूतरूप है, उसके निःश्वसितमेतद्यद्गवेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो निरुक्त, छन्द, ज्योतिष शास्त्र, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याख्यान, उपव्याख्यान और सभी प्राणी हैं ॥ २ ॥

हिरण्यज्योतिर्यस्मिन्नयमात्माधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा । आत्मानं द्विधाऽकरोदर्थेन स्त्री
अर्थेन पुरुषो देवो भूत्वा देवानसृजदृषिभूत्वा ऋषीन्यक्षराक्षसगन्धर्वान्गाम्यानारण्यांश्च पशूनसृज-
दितरा गौरितरोऽनडवानितरा वडवेतरोऽश्च इतरा गर्दभीतरो गर्दभ इतरा विश्वंभरीतरो विश्वंभरः ॥ ३ ॥

वह (विराट्) हिरण्य (स्वर्ण) के समान ज्योतिर्मय है, जिसमें यह आत्मा (प्रत्यगात्मा) और समस्त लोक अवस्थित हैं। उसने अपने दो भाग किये, जिनमें आधे से स्त्री और आधे से पुरुष प्रकट हुआ। उसने देव

होकर देवों का सृजन किया, ऋषि होकर ऋषियों का सृजन किया। इसी प्रकार यक्ष, राक्षस और गन्धर्वों को बनाया। तत्पश्चात् ग्रामों तथा अरण्यों में रहने वाले पशुओं का सृजन किया। इनमें कोई गाय, कोई बैल, कोई घोड़ी, कोई घोड़ा, कोई गधा, कोई गधी, कोई सबका पालन करने वाली और कोई सबका पालक हुआ ॥ ३ ॥

सोऽन्ते वैश्वानरो भूत्वा संदग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयते आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयते उव्यक्तमक्षरे विलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति परस्तात्र सत्रासन्न सदसदित्येतत्रिवाणा-नुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ ४ ॥

अन्त में वह (विराट् पुरुष) वैश्वानराग्नि होकर समस्त प्राणियों को जला देता है। यह पृथिवी जल में लय हो जाती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ भूतादि (अहंकार) में, अहंकार-महत् तत्त्व में, महत् तत्त्व अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, अक्षर तमस् (अज्ञान) में लय हो जाता है और तमस् परम देव (परमेश्वर) में एकाकार हो जाता है। इसके पश्चात् न संत् रहता है, न असंत् रहता है और न सत्-असत् का सम्मिलित रूप रहता है। यही निर्वाण का अनुशासन है और यही वेद का अनुशासन एवं शिक्षा है ॥ ४ ॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

द्वितीय खण्ड में विश्वोत्पत्ति के पूर्व की स्थिति सत्-असत् से परे कही गई है। यहाँ दूसरा मत प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं-

असद्वा इदमग्र आसीदजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमिस्त्रपमरसमगन्धमव्ययम-महान्तमबृहन्तमजमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ १ ॥

अथवा प्रथम सृष्टि के पूर्व यह जगत् असत् (अस्तित्व में होते हुए भी अप्रकट या अव्यक्त) था। यह आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुई है और न ही उसने इससे प्रतिष्ठा पायी है। वह आत्मा अशब्द, अस्पर्श, अस्त्र, अरस, अग्न्ध, अव्यय है, न महान् है, न विस्तार युक्त है, वह जन्म रहित (अजन्मा) है, ऐसा मानकर धीर पुरुष शोक नहीं करते ॥ १ ॥

अप्राणममुखमश्रोत्रमवाग्मनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनामगोत्रमशिरस्कमपाणिपादमस्तिर्गधमलोहितमप्रमेयमहस्वमदीर्घमस्थूलमनणवनल्पमपारमनिर्देश्यमन्तपावृतम-प्रतर्क्यमप्रकाशयमसंवृतमनन्तरमबाह्यं न तदश्राति किंचन न तदश्राति कश्चन ॥ २ ॥ एतद्वै सत्येन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्रह्मचर्येण निर्वेदनेनानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतत्रयं वीक्षेत दमं दानं दयामिति न तस्य प्राणा उत्कामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति य एवं वेद ॥ ३ ॥

यह आत्मा प्राण रहित, मुख रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज रहित, नेत्र रहित, अनाम, अगोत्र, सिर रहित, बिना हाथ-पैर का, स्नेह रहित, अलोहित (रक्तरहित अथवा रज आदि गुणत्रय रहित) और अप्रमेय है। यह न लम्बा है, न मोटा है, न स्थूल है, न छोटा है, न कम है। यह अपार है, इसे बताया भी नहीं जा सकता। यह अनावृत है, इसके नियम पर तर्क नहीं किया जा सकता, यह अप्रकाश्य है, असंवृत (असंकीर्ण) है, अन्तर-बाह्य रहित है, न वह कुछ खाता है और न कोई उसे खाता है। इसे सत्य, दान, अनशन प्रधान तप, ब्रह्मचर्य, अखण्ड वैराग्य और अनाशक (स्त्री आदि विषय भोगों के प्रति आसक्ति रहित

होना) इन षट् साधनों द्वारा ही जानना चाहिए। इसी प्रकार दम (इन्द्रियदमन), दान और दया इन तीनों की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। ऐसा करने वाले का प्राण उत्कृष्णन नहीं करता (अर्थात् अन्यत्र नहीं जाता), वरन् इस आत्मतत्त्व में ही विलीन हो जाता है और ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ २-३ ॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्द्वरां पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं
हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥ १ ॥

हृदय के मध्यभाग में रक्त वर्ण के मांस पिण्ड के बीच वह सूक्ष्म आत्म-तत्त्व विद्यमान है। वह कुमुद (रात्रि में विकसित होने वाले कुमुद पुष्ट) के समान श्वेतवर्ण वाला और अनेक प्रकार से विकसित हुआ है। हृदय में दस छिद्र होते हैं, जिनके अन्दर प्राण निवास करते हैं ॥ १ ॥

[ऋषि स्थूल हृदय के मध्य में स्थित पिण्ड में आत्मतत्त्व के होने की बात कहते हैं। वर्तमान विज्ञान के अनुसार हृदय में स्थित धेसमेकर, के साथ इसकी संगति बैठती है। हृदय की धड़कन का मूल स्पंदन वही से उभरता है, जिसे जीव चेतना द्वारा उद्भूत स्पंदन ही कहा जा सकता है। हृदय में १० छिद्रों की बात स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों संदर्भों में सिद्ध होती है। हृदय की धड़कन के साथ प्राण संचरित होते हैं, ५ प्राण एवं ५उपप्राण कुल दस प्रकार के प्राणों का संचरण हृदय से होता है, यह सूक्ष्म व्याख्या हुई। स्थूल हृदय में भी १० छिद्र इस प्रकार पाये जाते हैं—दाहिने औरिकल में शरीर के ऊपरी भाग से आने वाले रक्त का छिद्र सुपीरियर वैनाकोवा तथा २. नीचे से आने वाले के लिए इन्फीरियर वैनाकोवा ३. दाहिने आरि० से दाहिने वैंट्रिकल का छिद्र, ४. दायें वैंट्रिकल से फेफड़ों से रक्त जाने का मार्ग 'ट्रूक्स', ५,६. बायें फेफड़े से बायें आरि० में प्रवेश के दो मार्ग; ७,८. दायें फेफड़े से रक्त प्रवेश के दो मार्ग, ९. बायें आरि० से बायें वेन्ट्रि० में रक्त जाने का मार्ग एवं १०. बायें वैंट्रिकल से शरीर पोषण के लिए रक्त से भेजने का मार्ग।]

स यदा प्राणेन सह संयुज्यते तदा पश्यति नद्यो नगराणि बहूनि विविधानि च यदा
व्यानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवांश्च ऋषींश्च यदाऽपानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति
यक्षराक्षसगन्धर्वान्यदोदानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्देवान्स्कन्दं जयन्तं चेति
यदा समानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्धनानि च यदा वैरम्भेण सह संयुज्यते
तदा पश्यति दृष्टुं च श्रुतं च भुक्तं चाभुक्तं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति ॥ २ ॥

यह जीव (जाग्रदवस्था में) जब प्राण के साथ संयुक्त होता है, तब बहुत सी नदियों और विविध प्रकार के नगरों को देखता है। जब व्यान के साथ संयुक्त होता है, तब देवों और ऋषियों का दर्शन करता है। जब अपान के साथ संयुक्त होता है, तब यक्ष, राक्षस और गन्धर्वों का दर्शन करता है। जब उदान के साथ संयुक्त होता है, तब देवलोकों, देवों और जयन्त को देखता है। जब समान के साथ संयुक्त होता है, तब देवलोकों और धन का दर्शन करता है। जब वैरम्भ के साथ संयुक्त होता है, तब देखे हुए को, सुने हुए को, खाये हुए को, बिना खाये हुए को, सत् और असत् सभी को देखता है ॥ २ ॥

अथेमा दश दश नाड्यो भवन्ति। तासामेकैकस्या द्वासमतिर्द्वासमतिः शाखा
नाडीसहस्राणि भवन्ति यस्मिन्नयमात्मा स्वपिति शब्दानां च करोत्यथ यद्द्वितीये स कोशे
स्वपिति तदेमं च लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान्विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते
प्राणः शरीरं परिरक्षति हरितस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः ॥३ ॥

इस हृदय की दस-दस अर्थात् सौ नाड़ियाँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक की बहतर-बहतर हजार नाड़ी-

शाखायें होती हैं। इस प्रकार हजारों नाड़ियाँ होती हैं, जिनमें यह आत्मा शयन करता है और शब्दों की क्रिया करता है। द्वितीय कोश में जब आत्मा शयन करता है, तब इह लोक और परलोक का दर्शन करता है, समस्त शब्दों को जानता है, उस स्थिति में इसे संप्रसाद कहते हैं। प्राण शरीर की रक्षा करता है। ये नाड़ियाँ हरित वर्ण, नीले, पीले, लाल और श्वेत वर्ण के रक्त से अभिपूरित हैं (अर्थात् वात, पित्तादि रसों से पूर्ण हैं) ॥ ३ ॥

अथात्रैतद्वहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकथा विकसितं यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तथा हिता नाम नाड्यो भवन्ति हृद्याकाशे परे कोशे दिव्योऽयमात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति न तत्र देवा न देवलोका यज्ञा न यज्ञा वा न माता न पिता न बन्धुर्न बान्धवो न स्तेनो न ब्रह्महा तेजस्कायममृतं सलिलं एवेदं सलिलं वनं भूयस्तेनैव मार्गेण जाग्राय धावति सप्राडिति होवाच ॥ ४ ॥

इस शरीर में स्थित सूक्ष्म हृदय कमल, रात्रि में खिलने वाले कुमुद के सदृश श्वेत वर्ण का है, जो अनेक प्रकार से विकास को प्राप्त हुआ है। एक बाल को हजार हिस्सों में चौर दिया जाए, इतनी पतली हिता नामक नाड़ियाँ होती हैं। हृद्याकाश परम कोश है, जिसमें यह दिव्य आत्म तत्त्व निवास करता है। जब यह निद्रा की अवस्था में होता है, तो किसी प्रकार की कामना नहीं करता और न ही कोई स्वप्न देखता है। वहाँ न कोई देवता है, न देवलोक है, न यज्ञ है, न उसकी क्रियाएँ हैं। उस स्थिति में (वह) न माता है, न पिता है, न बन्धु है, न बान्धव है, न चोर है, न ब्रह्म हत्यारा है। वह (आत्मा) तेजस्वरूप है, अमृत है। जल ही जल है, वन के समान है। इस मार्ग से आत्मा जाग्रदवस्था की ओर दौड़ता है, सप्राट् (जिसका अन्तःकरण ज्ञान से प्रकाशित हो चुका है, ऐसे अनुभूतिवान् व्यक्ति) ने ऐसा कहा है ॥ ४ ॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

इस खण्ड में ज्ञानेन्द्रियों, अन्तःकरण एवं कर्मेन्द्रियों के माध्यम से आत्मा की सक्रियता का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में जो आत्मा से सम्बद्ध है, उसे अध्यात्म, भौतिक सृष्टि से सम्बद्ध को अधिभूत तथा देव शक्तियों से सम्बद्ध को अधिदैवत कहा गया है। जीवन की विभिन्न धाराओं की व्याख्या इन्हीं तीनों विशेषणों के संदर्भ में की गयी है-

स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबन्धनं चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्य-स्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चक्षुषि यो द्रष्टव्ये य आदित्ये यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नत्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मा-नमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥ १ ॥

(इस प्रकार जाग्रत् आदि कोशत्रय में निवास करने वाला) आत्मा उन-उन स्थानों में रहने वालों को स्थान प्रदान करता है। नाड़ी उनका मूल साधन है। चक्षु अध्यात्म है। देखा जाने वाला (द्रष्टव्य) पदार्थ अधिभूत है और आदित्य अधिदैवत है। नाड़ी उसका मूल कारण है। जो चक्षु इन्द्रिय में, द्रष्टव्य पदार्थ में, आदित्य में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृद्याकाश में और इस सम्पूर्ण शरीर में संचरण करता है, यह आत्मा है। उस आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए, जो अजर, अमर, अभय, अशोक और अनन्त है ॥ १ ॥

[नाड़ी को अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का मूलकारण कहा गया है। दृष्टि का विकास और विलय उससे सम्बद्ध नाड़ी में होता है, यह स्पष्ट है। जिस प्रकार आत्मा के स्थान शरीर में विभिन्न नाड़ियाँ हैं, वैसे ही अधिभूत के लिए प्रकृति में तथा अधिदैवत के लिए विराट् पुरुष में नाड़ियाँ हैं। आगे नवम खण्ड में स्पष्ट किया गया है कि आदित्य आदि

भी उनसे सम्बद्ध विराट् नाड़ियों से ही उद्भूत और उन्हीं में विलीन होते हैं ।]

श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः श्रोत्रे यः श्रोतव्ये यो दिक्षु यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृदयाकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नतरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥ २ ॥

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी अध्यात्म है, श्रोतव्य शब्द अधिभूत है और दिशाएँ अधिदैवत हैं । इन तीनों का मूल कारण नाड़ी है । श्रोत्र में, श्रोतव्य शब्द में, दिशाओं में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और सम्पूर्ण शरीर के अन्दर जो संचरित होता है, वह आत्मा है । इसी की उपासना करनी चाहिए । यह जरारहित, मृत्युरहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है ॥ २ ॥

नासाध्यात्मं ग्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो नासायां यो घ्रातव्ये यः पृथिव्यां यो नाड्यांनन्तम् ॥ ३ ॥

(उपर्युक्त के समान ही) नासिका अध्यात्म है, ग्रातव्य (सूँघने के विषय) अधिभूत हैं और पृथिवी अधिदैवत है । नाड़ी उनका मूल स्थान है । जो नासिका में, ग्रातव्य गन्ध में, पृथिवी में, नाड़ी में....अनन्त है ॥ ३ ॥

जिह्वाध्यात्मं यो रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो जिह्वायां यो रसयितव्ये यो वरुणे यो नाड्यांनन्तम् ॥ ४ ॥

(इसी प्रकार) जिह्वा अध्यात्म है, स्वादिष्ट पदार्थ अधिभूत हैं और वरुण अधिदैवत है । नाड़ी इनका मूल स्थान है । जो जिह्वा में, स्वाद लेने के रस में, वरुण में और नाड़ी मेंअनन्त है ॥ ४ ॥

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यस्त्वचि यः स्पर्शयितव्ये यो वायौ यो नाड्यांनन्तम् ॥ ५ ॥

(इसी प्रकार) त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श योग्य वस्तु अधिभूत है और वायु अधिदैवत है । नाड़ी इनका मूल स्थान है । जो त्वगिन्द्रिय में, स्पर्श किये गये पदार्थ में, वायु में और नाड़ी मेंअनन्त है ॥ ५ ॥

मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो मनसि यो मन्तव्ये यश्चन्द्रे यो नाड्यांनन्तम् ॥ ६ ॥

(इसी प्रकार) मन भी अध्यात्म है, मन्तव्य (मन का विषय) अधिभूत है, चन्द्रमा अधिदैवत है । नाड़ी इनका मूल स्थान है । जो मन में, जो मन्तव्य में, जो चन्द्रमा में, जो नाड़ी मेंअनन्त है ॥ ६ ॥

बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो बुद्धौ यो बोद्धव्ये यो ब्रह्मणि यो नाड्यांनन्तम् ॥ ७ ॥

(इसी प्रकार) बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य (बुद्धि का विषय) अधिभूत है, ब्रह्मा अधिदैवत हैं और नाड़ी इनका मूल स्थान है । जो बुद्धि में, बोद्धव्य में, ब्रह्मा में, जो नाड़ी मेंअनन्त है ॥ ७ ॥

अहंकारोऽध्यात्ममहंकर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं योऽहंकारे योऽहंकर्तव्ये यो रुद्रे यो नाड्यांनन्तम् ॥ ८ ॥

अहंकार अध्यात्म है, अहंकर्तव्य (अहं का विषय) अधिभूत है, रुद्र अधिदैवत हैं और नाड़ी इनका मूल स्थान है । जो अहंकार में, अहं के विषय में, रुद्र में, नाड़ी मेंअनन्त है ॥ ८ ॥

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चित्ते

यश्चेतयितव्ये यः क्षेत्रज्ञे यो नाड्यां..... नन्तम् ॥ ९ ॥

(इसी प्रकार) चित्त अध्यात्म है, चेतयितव्य (चिन्तन का विषय) अधिभूत है, उसमें क्षेत्रज्ञ अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो चित्त में, चेतयितव्य में, क्षेत्रज्ञ में, नाड़ी में अनन्त है ॥ ९ ॥

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो वाचि यो वक्तव्ये योऽग्नौ यो नाड्यां..... नन्तम् ॥ १० ॥

(उपर्युक्त की तरह ही) वाक् (वाणी) अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो वाणी में, वक्तव्य में, अग्नि में, नाड़ी में अनन्त है ॥ १० ॥

हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो हस्ते य आदातव्ये य इन्द्रे यो नाड्यां..... नन्तम् ॥ ११ ॥

(इसी प्रकार) दोनों हाथ अध्यात्म हैं, ग्रहणीय पदार्थ अधिभूत हैं, इन्द्र अधिदैवत हैं तथा नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो हाथ में, ग्रहण करने के विषय में, इन्द्र में, नाड़ी में अनन्त है ॥ ११ ॥

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पादे यो गन्तव्ये यो विष्णौ यो नाड्यां..... नन्तम् ॥ १२ ॥

(इसी तरह) दोनों पैर अध्यात्म हैं, गन्तव्य अधिभूत है, विष्णु अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूलस्थान है। जो पैर में, गन्तव्य में, विष्णु में, नाड़ी में अनन्त है ॥ १२ ॥

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पायौ यो विर्जयितव्ये यो मृत्यौ यो नाड्यां नन्तम् ॥ १३ ॥

(उपर्युक्त जैसा) पायु (गुदा) अध्यात्म है, विसर्जयितव्य (विसर्जन करने का विषय) अधिभूत है और मृत्यु अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो गुदा में, विसर्जनीय में, मृत्यु में, नाड़ी में ... अनन्त है ॥ १३ ॥

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य उपस्थे य आनन्दयितव्ये यः प्रजापतौ यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥ १४ ॥

इसी प्रकार उपस्थेन्द्रिय अध्यात्म है, आनन्दयितव्य (आनन्द का विषय) अधिभूत है और प्रजापति अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो उपस्थ (जननेन्द्रिय) में, जो आनन्द के विषय में, जो प्रजापति में, जो नाड़ी में, जो प्राण में, जो विज्ञान में, जो आनन्द में, जो हृद्याकाश में और जो इस सम्पूर्ण शरीर में संचरित होता है, वही यह आत्मा है। इस आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए। यह जरा रहित, मरण रहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है ॥ १४ ॥

एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य सर्वसौख्यैरुपा-स्यमानो न च सर्वसौख्यान्युपास्यति वेदशास्त्रैरुपास्यमानो न च वेदशास्त्राण्युपास्यति यस्यान्नमिदं सर्वे न च योऽन्नं भवत्यतः परं सर्वनयनः प्रशास्तान्नमयो भूतात्मा प्राणमय इन्द्रियात्मा मनोमयः संकल्पात्मा विज्ञानमयः कालात्मानन्दमयो लयात्मैकत्वं नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्यं नास्त्यमृतं कुतो नान्तःप्रज्ञो न बहिःप्रज्ञो नोभयतःप्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाप्रज्ञोऽपि नो विदितं वेद्यं नास्तीत्येतत्रिवर्णानुशासनमिति वेदानुशासनमिति

वेदानुशासनम् ॥ १५ ॥

यह (तुर्यातिरिक्त) ईश्वर सर्वज्ञ है, यह सर्वेश है, सर्वाधिपति है, अन्तर्यामी है और यही सबका उत्पत्ति स्थान है। समस्त सुखों के द्वारा यही उपास्य है, पर यह समस्त सुखों की उपासना नहीं करता। यह वेद और शास्त्रों का भी उपास्य है, पर यह वेद और शास्त्रों की उपासना नहीं करता। सभी अन्त्र इसके हैं, पर यह किसी का अन्त्र नहीं है। इसके अतिरिक्त यह सभी का नेत्र, सब को आज्ञा देने वाला, अन्त्रमय भूतों (प्राणियों) की आत्मा, प्राणमय इन्द्रियों की आत्मा, मनोमय संकल्प स्वरूप, विज्ञानमय कालरूप, आनन्दमय और लयात्मक है। उसमें अद्वैत (एकत्व) नहीं है, तो द्वैत कहाँ हो सकता है? वह मर्त्य नहीं है, तो अमृत कैसे हो सकता है? वह न अन्तःप्रज्ञ है और न बाह्यप्रज्ञ है। वह दोनों (अन्तर् और बाह्य) में भी प्रज्ञ नहीं है। वह प्रज्ञानघन नहीं है, न प्रज्ञ (बहुत जानने वाला) ही है, न अप्रज्ञ (बिना जानने वाला) होकर भी इसे कुछ जानना शेष है। इसके अतिरिक्त निर्वाण के लिए और कोई उपदेश (अनुशासन) नहीं है अर्थात् मोक्ष के लिए यही अनुशासन है। यही वेद की शिक्षा व अनुशासन है ॥ १५ ॥

॥ षष्ठःखण्डः ॥

नैवेह किंचनाग्र आसीद्भूलमनाधारा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ १ ॥

सृष्टि के पूर्व इस संसार में कुछ भी नहीं था। यह निर्मूल और निराधार था, (उसी से) इस प्रजा का आविर्भाव हुआ ॥ १ ॥

चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहंकारश्चाहंकर्तव्यं च नारायणश्चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणःपादौ च गन्तव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायण उपस्थश्चानन्दयितव्यं च नारायणो धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः ॥ २ ॥

चक्षु और द्रष्टव्य नारायण हैं, श्रोत्र और श्रोतव्य नारायण हैं, घ्राण शक्ति और घ्रातव्य नारायण हैं, जिह्वा और रस लेने का विषय नारायण हैं, त्वचा और स्पर्शयितव्य नारायण हैं, मन और मन्तव्य (मन का विषय) नारायण हैं, बुद्धि और बुद्धि का विषय नारायण हैं, अहंकार और अहंकर्तव्य नारायण हैं, चित्त और चिन्तन नारायण हैं, वाक् और वक्तव्य नारायण हैं, हाथ और दातव्य (देने का विषय) नारायण हैं, पैर और गन्तव्य नारायण हैं, पायु (गुदा) और विसर्जयितव्य नारायण हैं, उपस्थ और आनन्दयितव्य (आनन्द का विषय) नारायण हैं। नारायण ही धाता (धारण कर्ता), विधाता, कर्ता, विकर्ता (विशिष्ट रूप से रचना करने वाला) और एकमात्र दिव्य देव हैं ॥ २ ॥

आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनावृचो यजूषि सामानि मन्त्रोऽग्निराज्याहुतिर्नारायण उद्दवः संभवो दिव्यो देव एको नारायणः ॥ ३ ॥

आदित्य, रुद्र, वायु, वसु, अश्विनीकुमार, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदादि के मन्त्र, अग्नि और घृत की आहुति भी नारायण ही हैं। यही नारायण एक, दिव्य, देव और सभी के उत्पत्ति रूप हैं ॥ ३ ॥

माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्दतिर्नारायणः ॥ ४ ॥

नारायण ही माता-पिता, भाई, निवास, शरण, मित्र तथा गति (सद्गति) हैं ॥ ४ ॥

विराजा सुदर्शनाजितासोम्यामोघाकुमारामृतासत्यामध्यमानासीराशिशुरासुरासूर्या-भास्वतीविज्ञेयानि नाडीनामानि दिव्यानि ॥ ५ ॥

नारायण ही विराजा, सुदर्शना, जिता, सोम्या, अमोघा (मोघा), कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नासीरा, शिशुरा, असुरा, सूर्या, भास्वती—इन दिव्य नाड़ियों के रूप में हैं ॥ ५ ॥

गर्जति गायति वाति वर्षति वरुणोऽर्यमा चन्द्रमाः कालः कविर्धाता ब्रह्मा प्रजापतिर्मध्यवा-दिवसाश्चार्धदिवसाश्च कलाः कल्पाश्चोर्ध्वं य दिशश्च सर्वं नारायणः ॥ ६ ॥

जो गरजता है, गाता है, (वायु रूप होकर) बहता है, बरसता है, जो वरुण, अर्यमा, चन्द्रमा, काल, कवि, धाना, प्रजापति, ब्रह्मा, मध्यवा (इन्द्र), दिवस, अर्ध दिवस, कलाएँ, कल्प, ऊर्ध्वभाग, दिशाएँ और सभी कुछ है, वे सब नारायण ही हैं ॥ ६ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्दूतं यच्च भव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुरातत्तम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्थते । विष्णोर्यत्परमं पदम् । तदेतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ ७ ॥

यह जो कुछ वर्तमान में है, जो पूर्व में हो चुका है और जो आगे भविष्य में होगा, वह सब पुरुष (परमेश्वर) ही है। इस अमर जीव-जगत् के भी वही स्वामी हैं। जो अन्न द्वारा वृद्धि प्राप्त करते हैं, उनके भी वही स्वामी हैं। वही विष्णु का परम पद है, जिसे विद्वज्ञन सदैव देखते हैं। यह अन्तरिक्ष में फैले हुए चक्षु के समान है। क्रोधित न होने वाले तथा सतत जाग्रत् रहने वाले विप्रगण इसका साक्षात्कार करते हैं, यही विष्णु का परम पद है। यही निर्वाण का उपदेश है, यही वेद का अनुशासन है। यही वेद की सीख है ॥ ७ ॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद । यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन्यमापो न विदुः । यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद । यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद । यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद । यस्य मनः शरीरं यो मनोन्तरे संचरन् यं मनो न वेद । यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद । यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद । यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यं चित्तं न वेद । यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद । यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद । यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद । स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥ १ ॥

जो शरीर के अन्दर हृदय रूपी गुहा में निवास करता है, वह आत्मा अज, एक और नित्य है। उसका शरीर पृथिवी है, जो पृथिवी में संचरित होता है; पर पृथिवी जिसे नहीं जानती। जल जिसका शरीर है, जो जल में संचरित होता है; पर जल जिसे नहीं जानता। तेज जिसका शरीर है, जो तेज में संचरित होता है; पर तेज जिसे नहीं जानता। वायु जिसका शरीर है, वायु में जो संचरित होता है; पर वायु जिसे नहीं जानता। आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश में संचरित होता है; पर आकाश जिसे नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, जो मन में

संचरित होता है; पर मन जिसे नहीं जानता । बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि में संचरित होता है; पर बुद्धि जिसे नहीं जानती । अहंकार जिसका शरीर है, जो अहंकार में संचरित होता है; पर अहंकार जिसे नहीं जानता । चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है; पर चित्त जिसे नहीं जानता । अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त में सञ्चरित होता है; पर अव्यक्त जिसे नहीं जानता । अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर में संचरित होता है; पर अक्षर जिसे नहीं जानता । मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु में संचरित होता है; पर मृत्यु जिसे नहीं जानती, वे सर्वभूतों के अन्तरात्मा, विनष्ट पाप वाले, एक, दिव्य, देव, नारायण हैं ॥ १ ॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददावपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ ब्रह्मा घोराङ्ग्रसे ददौ घोराङ्ग्रा रैक्षाय ददौ रैक्षो रामाय ददौ रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येवं निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ २ ॥

यह विद्या (नारायण ने) अपान्तरतम नामक ब्राह्मण (अति प्राचीन काल के सिद्ध ब्राह्मण) को दी थी। अपान्तरतम ने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने घोराङ्ग्रस को, घोराङ्ग्रस ने रैक्ष को, रैक्ष ने राम को और राम ने समस्त भूतों को प्रदान की। इस प्रकार यह निर्वाण का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है और वेद की शिक्षा है ॥२॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अन्तःशरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सोऽयमात्मा सर्वस्य मेदोमांसक्लेदावकीर्णे शरीर-मध्येऽत्यन्तोपहते चित्रभित्तिप्रतीकाशे गान्धर्वनगरोपमे कदलीगर्भवन्निःसारे जलबुद्धुदव-च्चञ्चले निःसृतमात्मानमचिन्त्यरूपं दिव्यं देवमसङ्गं शुद्धं तेजस्कायमरूपं सर्वेश्वरमचिन्त्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वान्सस्तेन लये न पश्यन्ति ॥१

सभी शरीरों के अन्दर हृदय रूपी गुहा में यह शुद्ध आत्मा निवास करता है। शरीर तो मेद, मांस और रक्त से अभिपूरित है, जो अत्यन्त नश्वर और चित्रभित्ति (चित्रस्थ दीवार) के समान गन्धर्व नगर तुल्य, केले के गर्भ की तरह निस्सार, जल के बुलबुले की तरह चञ्चल है; किन्तु उससे परे रहने वाला आत्मा अचिन्त्यरूप, दिव्य, प्रकाशवान्, असङ्ग, शुद्ध, तेजःस्वरूप, अरूप, सर्वेश्वर, अचिन्त्य और अशरीर है। हृदय रूपी गुहा में निवास करने वाला वह (आत्मा) अमृत और देदीप्यमान है। विद्वान् उसको आनन्दरूप में देखते हैं और उसमें विलय हो जाने के पश्चात् उससे भिन्न कुछ भी नहीं देखते ॥ १ ॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्षः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वेऽस्तं गच्छन्तीति । तस्मै स होवाच चक्षुरेवाप्येति यच्चक्षुरेवास्तमेति द्रष्टव्यमेवाप्येति यो द्रष्टव्यमेवास्तमेत्यादित्यमेवाप्येति य आदित्यमेवास्तमेति विराजामेवाप्येति यो विराजामेवास्तमेति प्राणमेवाप्येति यः प्राणमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥ १ ॥

इसके पश्चात् रैक्ष ने घोराङ्ग्रस से प्रश्न किया-हे भगवन्! ये समस्त पदार्थ किसमें अस्त होते हैं? (यह सुनकर) घोराङ्ग्रस ने रैक्ष को उत्तर दिया-जो पदार्थ चक्षु के प्रति प्राप्त (प्रकट) होते हैं (दिखाई देते हैं), वे चक्षु (अपने अन्तर्यामी) में ही अस्त हो जाते हैं। जो द्रष्टव्य पदार्थ आदित्य के प्रति प्रकट होता है, वह आदित्य में ही विलीन हो जाता है। जो आदित्य, विराजा (सुषुम्ना नामक नाड़ी का ही एक नाम) के प्रति प्रकट होता है,

वह विराजा में ही विलीन हो जाता है। जो विराजा प्राण के प्रति प्रकट होती है, वह प्राण में ही विलीन हो जाती है। जो प्राण, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। जो विज्ञान, आनन्द के प्रति प्रकट होता है, वह आनन्द में ही अस्त होता है। जो आनन्द, तुरीय के प्रति प्रकट होता है, वह तुरीय में ही अस्त होता है। वह तुरीय अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १ ॥

[जिस-जिस संज्ञा वाली नाड़ियाँ मनुष्य में होती हैं, वे सभी मूलतः विराट् पुरुष में भी होती हैं, जिस तरह विराट् पुरुष-परमात्मा का अंश आत्मा है, वैसे ही नाड़ियाँ भी विराट् के नाड़ी तंत्र की अंग हैं। आदित्य आदि देवों का प्राकट्य और विलय उन्हीं के प्रति कहा गया है। आगे के मंत्रों में भी अधिदेवता का विलय जिन नाड़ियों में कहा गया है, वे सभी विराट् की नाड़ियाँ ही मान्य हैं।]

श्रोत्रमेवाप्येति यः श्रोत्रमेवास्तमेति श्रोतव्यमेवाप्येति यः श्रोतव्यमेवास्तमेति दिशमेवाप्येति यो दिशमेवास्तमेति सुदर्शनामेवाप्येति यः सुदर्शनामेवास्तमेत्यपानमेवाप्येति योऽपानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्त-निर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥ २ ॥

इसी प्रकार जो श्रोत्र के प्रति प्रकट होता है, वह श्रोत्र में ही अस्त होता है। जो श्रोत्र, श्रोतव्य के प्रति प्रकट होता है, वह श्रोतव्य में ही अस्त होता है। जो श्रोतव्य, दिशाओं के प्रति प्रकट होता है, वह दिशाओं में ही अस्त होता है। जो दिशाएँ, सुदर्शना के प्रति प्रकट होती हैं, वे सुदर्शना में ही अस्त होती हैं। जो सुदर्शना, अपान के प्रति प्रकट होती है, वह अपान में ही अस्त होती है। जो अपान विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। वह विज्ञान अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज ब्रह्म में विलीन हो जाता है ॥ २ ॥

नासामेवाप्येति यो नासामेवास्तमेति घ्रातव्यमेवाप्येति यो घ्रातव्यमेवास्तमेति पृथिवीमेवाप्येति यः पृथिवीमेवास्तमेति जितामेवाप्येति यो जितामेवास्तमेति व्यानमेवाप्येति यो व्यानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ ३ ॥

इसी प्रकार जो पदार्थ नासिका के प्रति (गन्धरूप में) प्रकट होते हैं, वे नासिका में ही अस्त होते हैं। जो नासिका, घ्रातव्य (सूँधे जाने योग्य) पदार्थों के प्रति प्रकट होती है, वह घ्रातव्य में ही अस्त हो जाती है। जो घ्रातव्य, पृथिवी के प्रति प्रकट होता है, वह पृथिवी में ही विलीन हो जाता है। जो पृथिवी, जिता नामक नाड़ी के प्रति प्रकट होती है, वह जिता में ही अस्त होती है। जो जिता, व्यान के प्रति प्रकट होती है, वह व्यान में ही विलीन हो जाती है। जो व्यान, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही विलुप्त हो जाता है। वह विज्ञान, अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज ब्रह्म में लय हो जाता है ॥ ३ ॥

जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति रसयितव्यमेवाप्येति यो रसयितव्यमेवास्तमेति वरुणमेवाप्येति यो वरुणमेवास्तमेति सौम्यामेवाप्येति यः सौम्यामेवास्तमेत्युदानमेवाप्येति य उदानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ ४ ॥

इसी प्रकार जो पदार्थ जिह्वा के प्रति प्रकट होते हैं, वे जिह्वा में ही विलीन हो जाते हैं। जो जिह्वा, रसयितव्य के प्रति प्रकट होती है, वह रसयितव्य में ही विलीन हो जाती है। जो रसयितव्य, वरुण को प्राप्त होता है, वह वरुण में ही विलीन हो जाता है। जो वरुण, सौम्या नामक नाड़ी को प्राप्त होता है, वह सौम्या में ही विलीन हो जाता है। जो सौम्या, उदान के प्रति प्रकट होती है, वह उदान में ही अस्त हो जाती है। जो उदान, अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

त्वचमेवाप्येति यस्त्वचमेवास्तमेति स्पर्शयितव्यमेवाप्येति यः स्पर्शयितव्यमेवास्तमेति वायुमेवाप्येति यो वायुमेवास्तमेति मोघामेवाप्येति यो मोघामेवास्तमेति समानमेवाप्येति यः समानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ ५ ॥

जो पदार्थ त्वचा को प्राप्त होते हैं, वे त्वचा में ही विलीन हो जाते हैं। जो त्वचा, स्पर्शयितव्य के प्रति प्रकट होती है, वह स्पर्शयितव्य में ही अस्त हो जाती है। जो स्पर्शयितव्य, वायु को प्राप्त होता है, वह वायु में ही विलीन हो जाता है। जो वायु मोघा के प्रति प्रकट होती है, वह मोघा नामक नाड़ी में ही विलीन हो जाती है। जो मोघा, समान के प्रति प्राप्त होती है, वह समान में ही अस्त हो जाती है। जो समान, विज्ञान को प्राप्त होती है, वह विज्ञान में ही अस्त हो जाती है। वह अमर, अभय, अशोक, अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म में विलीन हो जाता है ॥ ५ ॥

वाचमेवाप्येति यो वाचमेवास्तमेति वक्तव्यमेवाप्येति यो वक्तव्यमेवास्तमेत्य-ग्रिमेवाप्येति योऽग्रिमेवास्तमेति कुमारामेवाप्येति यः कुमारामेवास्तमेति वैरम्भमेवाप्येति यो वैरम्भमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ ६ ॥

जो पदार्थ वाक् को प्राप्त होते हैं, वे वाक् में ही अस्त होते हैं। जो वाक्, वक्तव्य को प्राप्त होती है, वह वक्तव्य में ही अस्त होती है। जो वक्तव्य, अग्नि को प्राप्त होता है, वह अग्नि में ही विलीन हो जाता है। जो अग्नि, कुमारा नामक नाड़ी को प्राप्त होती है, वह कुमारा में ही विलीन हो जाती है। जो कुमारा, वैरम्भ को प्राप्त होती है, वह वैरम्भ में ही अस्त हो जाती है। जो वैरम्भ, विज्ञान को प्राप्त होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। वह विज्ञान अमर, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म में विलीन हो जाता है ॥ ६ ॥

हस्तमेवाप्येति यो हस्तमेवास्तमेत्यादातव्यमेवाप्येति य आदातव्यमेवास्तमे-तीन्द्रमेवाप्येति य इन्द्रमेवास्तमेत्यमृतामेवाप्येति योऽमृतामेवास्तमेति मुख्यमेवाप्येति यो मुख्यमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ ७ ॥

(ऐसा कहने के पश्चात् उन घोराङ्गिरस ने पुनः कहना प्रारम्भ किया कि) जो हाथ को प्राप्त कर लेता है, वह हाथ में ही विलीन हो जाता है। यह हाथ, लेने योग्य पदार्थ के प्रति गमन करता है, अतः यह लेने वाले पदार्थ में ही लीन होता है, यह पदार्थ, इन्द्र के प्रति प्रस्थान करता है, इस कारण से यह इन्द्र में ही विलीन हो जाता है, यह इन्द्र, अमृता नाड़ी के प्रति जाता है, इस कारण यह अमृता में ही अस्त हो जाता है, यह अमृता, मुख्य के पास जाती है, अतः मुख्य में ही अस्त हो जाती है, यह मुख्य, विज्ञान के पास जाता है, इस कारण से विज्ञान में ही अपने को विलीन कर लेता है और यह विज्ञान, तुरीय के प्रति गमन करता है, इस कारण यह अमर, निर्भय, अशोक एवं अन्तरहित तथा बीजविहीन तुरीयावस्था को ही प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

पादमेवाप्येति यः पादमेवास्तमेति गन्तव्यमेवाप्येति यो गन्तव्यमेवास्तमेति विष्णुमेवाप्येति यो विष्णुमेवास्तमेति सत्यमेवाप्येति यः सत्यमेवास्तमेत्यन्तर्याममेवाप्येति योऽन्तर्याममेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद..... होवाच ॥ ८ ॥

(इसी प्रकार) जो पैर के प्रति गमन करता है, वह पैर में ही विलीन होता है, यह पैर, गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थान करता है, इस कारण से यह गन्तव्य स्थान में विलीन हो जाता है, यह गन्तव्य स्थान विष्णु के प्रति जाता है, इस कारण से यह विष्णु में ही विलीन हो जाता है, यह विष्णु, सत्या नाड़ी की ओर प्रस्थान करता है, इसलिए यह सत्या नाड़ी में ही अपने को विलीन कर लेता है, यह सत्या, अन्तर्याम की ओर गमन करती है, इसलिए यह अन्तर्याम में ही लय हो जाती है, यह अन्तर्याम, विज्ञान की ओर गमन करता है, इसलिए यह

विज्ञान में ही विलय हो जाता है तथा यह विज्ञान, तुरीय के समक्ष जाता है, इस कारण से यह मृत्युरहित, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित एवं अबीज तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है ॥ ८ ॥

पायुमेवाप्येति यः पायुमेवास्तमेति विसर्जयितव्यमेवाप्येति यो विसर्जयितव्य-
मेवास्तमेति मृत्युमेवाप्येति यो मृत्युमेवास्तमेति मध्यमामेवाप्येति यो मध्यमामेवास्तमेति
प्रभञ्जनमेवाप्येति यः प्रभञ्जनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद..... होवाच ॥ ९ ॥

(ऐसा कहने के अनन्तर फिर उन्होंने कहा-) जो गुदा को प्राप्त करता है, वह गुदा में ही विलय को पाता है, यह गुदा, विसर्जन योग्य मल त्याग को प्राप्त करता है, अतः यह त्यागने योग्य में ही विलय को प्राप्त करता है, यह मलत्याग, मृत्यु को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्यु में ही विलीन हो जाता है, यह मृत्यु, मध्यमा नाड़ी को प्राप्त करती है, इसलिए यह मध्यमा में ही विलीन होती है, यह मध्यमा, प्रभञ्जन नामक वायु को प्राप्त करती है, अतः यह प्रभञ्जन वायु में ही विलय को प्राप्त होती है, यह प्रभञ्जन वायु विज्ञान को प्राप्त होती है, इस कारण प्रभञ्जन वायु का अस्त विज्ञान में ही होता है। यह विज्ञान, तुरीय के पास जाता है, इसलिए वह मृत्युरहित, भयविहीन, अशोक, अनन्त एवं निर्बीज तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

उपस्थमेवाप्येति य उपस्थमेवास्तमेत्यानन्दयितव्यमेवाप्येति य आनन्दयितव्यमे-
वास्तमेति प्रजापतिमेवाप्येति यः प्रजापतिमेवास्तमेति नासीरामेवाप्येति यो नासीरामेवास्तमेति
कुर्मिरमेवाप्येति यः कुर्मिरमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत होवाच ॥ १० ॥

(यह कहने के पश्चात् पुनः उन्होंने कहना प्रारंभ किया कि) जो उपस्थ को प्राप्त करता है, वह उपस्थ में ही लीन हो जाता है और यह उपस्थ, आनन्द स्वरूप विषयों को प्राप्त करता है, इस कारण यह आनन्द में विलय हो जाता है। यह आनन्द, प्रजापति के पास जाता है, इस कारण यह प्रजापति में विलीन हो जाता है। यह प्रजापति, नासीरा नाड़ी की ओर प्रस्थान करता है, अतः यह नासीरा में ही विलीन हो जाता है। यह नासीरा, कुर्मिर नाड़ी की ओर गमन करता है, इस कारण से यह कुर्मिर नाड़ी में ही लय होती है। यह कुर्मिर विज्ञान की ओर जाती है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है। यह विज्ञान तुरीय को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, शोकविहीन, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को ही प्राप्त करता है ॥ १० ॥

मन एवाप्येति यो मन एवास्तमेति मनतव्यमेवाप्येति यो मनतव्यमेवास्तमेति चन्द्रमेवाप्येति
यश्चन्द्रमेवास्तमेति शिशुमेवाप्येति यः शिशुमेवास्तमेति श्येनमेवाप्येति यः श्येनमेवास्तमेति
विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ ११ ॥

(इसके बाद उन्होंने पुनः कहा कि) जो मन को प्राप्त करता है, वह मन में ही विलीन हो जाता है। यह मन, विचारणीय विषय को प्राप्त करता है, इस कारण से यह विचारणीय विषयों में लीन हो जाता है, यह विचारणीय, चन्द्रमा की तरफ गमन कर जाता है, इसलिए यह चन्द्रमा में ही लय हो जाता है, यह चन्द्रमा, शिशु नाड़ी की ओर गमन करता है, इस कारण यह शिशु में ही विलीन हो जाता है, यह शिशु नाड़ी श्येन की ओर गमन करती है, इस कारण वह श्येन में ही लय होती है, यह श्येन, विज्ञान की तरफ गमन करता है, इस कारण से यह विज्ञान में ही विलीन हो जाता है तथा यह विज्ञान, तुरीय के प्रति गमन करता है, इस कारण से यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

बुद्धिमेवाप्येति यो बुद्धिमेवास्तमेति बोद्धव्यमेवाप्येति यो बोद्धव्यमेवास्तमेति
ब्रह्माणमेवाप्येति यो ब्रह्माणमेवास्तमेति सूर्यमेवाप्येति यः सूर्यमेवास्तमेति कृष्णमेवाप्येति
यः कृष्णमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ १२ ॥

(ऐसा कहने के उपरान्त उन्होंने फिर कहा कि) जो बुद्धि को प्राप्त करता है, वह बुद्धि में ही विलीन हो जाता है। यह बुद्धि, जानने योग्य विषयों की ओर प्रस्थान कर जाती है, इस कारण यह जानने योग्य विषयों में ही विलीन हो जाती है। यह जानने का विषय, ब्रह्म की ओर गमन कर जाता है, इसलिए यह ब्रह्म में ही अस्त हो जाता है, यह ब्रह्म सूर्या नाड़ी को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय सूर्या में ही हो जाता है, यह सूर्या कृष्ण को प्राप्त करती है, इसलिए यह कृष्ण में ही विलीन हो जाती है, यह कृष्ण, विज्ञान को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है और यह विज्ञान, तुरीय को प्राप्त हो जाता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को ही प्राप्त करता है॥ १२॥

अहंकारमेवाप्येति योऽहंकारमेवास्तमेत्यहंकर्तव्यमेवाप्येति योऽहंकर्तव्यमेवास्तमेति रुद्रमेवाप्येति यो रुद्रमेवास्तमेत्यसुरामेवाप्येति योऽसुरामेवास्तमेति श्वेतमेवाप्येति यः श्वेतमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ १३ ॥

(इस प्रकार कहने के पश्चात् उन महर्षि ने कहा कि) जो अहंकार को प्राप्त करता है, वह अहंकार में ही विलीन हो जाता है। यह अहंकार, कर्तव्य को प्राप्त करता है, इसलिए यह कर्तव्य में ही लय हो जाता है। यह कर्तव्य, रुद्र को प्राप्त करता है, इस कारण इसका लय रुद्र में ही होता है, यह रुद्र, असुरा नाड़ी को प्राप्त करता है, इसलिए इस रुद्र का विलय असुरा नाड़ी में ही हो जाता है। यह असुरा नाड़ी श्वेत को प्राप्त करती है, अतः इस असुरा का विलय श्वेत में ही होता है। यह श्वेत, विज्ञान को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है। यह विज्ञान, तुरीय को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीय को ही प्राप्त होता है॥ १३॥

चित्तमेवाप्येति यश्चित्तमेवास्तमेति चेतयितव्यमेवाप्येति यश्वेतयितव्यमेवास्तमेति क्षेत्रज्ञमेवाप्येति यः क्षेत्रज्ञमेवास्तमेति भास्वतीमेवाप्येति यो भास्वतीमेवास्तमेति नागमेवाप्येति यो नागमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्येति तदमृत..... होवाच ॥ १४ ॥

(इस प्रकार कहने के बाद पुनः उन्होंने कहना शुरू किया कि) जो चित्त को प्राप्त कर लेता है, वह चित्त में ही विलीन हो जाता है। यह चित्त, चिन्तन योग्य को पा लेता है, इस कारण यह चिन्तन करने योग्य में ही लय हो जाता है। यह चिन्तन करने योग्य, क्षेत्रज्ञ को प्राप्त कर लेता है, इस कारण इसका विलय क्षेत्रज्ञ में ही होता है। यह क्षेत्रज्ञ, भास्वती नाड़ी में गमन कर जाता है, इस कारण यह भास्वती नाड़ी में ही विलीन हो जाता है। यह भास्वती, नाग वायु के पास जाती है, इस कारण यह नाग वायु में ही अस्त हो जाती है। यह नाग वायु, विज्ञान की ओर जाती है, इस कारण यह विज्ञान में विलय हो जाती है। यह विज्ञान, आनन्द को प्राप्त कर लेता है, इस कारण यह आनन्द में ही विलीन हो जाता है और वह आनन्द मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं निर्बीज तुरीय में जाता है, इस कारण से यह तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

य एवं निर्बीजं वेद निर्बीजं एव स भवति न जायते न प्रियते न मुहृते न भिद्यते न दह्यते न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मेत्याचक्षते ॥ १५ ॥

(उन घोराङ्गिरस जी ने पुनः कहा कि) जो भी मनुष्य इस तरह से निर्बीज रूपी तत्त्व को जान लेता है, वह निर्बीज हो जाता है। वह अजन्मा हो जाता है, मृत्यु एवं मोह को भी नहीं प्राप्त करता। उसका भेदन नहीं

होता, जलता भी नहीं, छेदा भी नहीं जाता, कम्पायमान भी नहीं होता तथा कुपित भी नहीं होता है। इस प्रकार सभी कुछ दग्ध करने वाली यह आत्मा ही है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का मत है॥ १५ ॥

नैवमात्मा प्रवचनशतेनापि लभ्यते न बहुश्रुतेन न बुद्धिज्ञानाश्रितेन न मेधया न वेदैर्न यज्ञैर्न तपोभिरुग्रैर्न सांख्यैर्न योगैर्नाश्रमैर्नान्यैरात्मानमुपलभन्ते प्रवचनेन प्रशंसया व्युत्थानेन तमेतं ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना उपलभन्ते शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद ॥ १६ ॥

यह आत्मा सैकड़ों तरह के प्रवचन करने मात्र से नहीं प्राप्त होता, अनेकों शास्त्रों का अध्ययन करने से भी नहीं मिलता, बुद्धि तथा ज्ञान का सान्निध्य प्राप्त कर लेने से भी यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। वैसे ही मेधा, वेदों, यज्ञों, उग्र-तपश्चर्या, सांख्यज्ञान, योग, आश्रम अथवा अन्य दूसरे प्रयत्नों से भी वह आत्मा प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म में निष्ठा रखने वाला जो मनुष्य प्रवचन के द्वारा, प्रशंसा (गुरु सेवा) के द्वारा तथा व्युत्थान (सामान्य जीवन क्रम से ऊपर उठकर) के द्वारा आत्मज्ञानपरक शास्त्रों का श्रवण करता हुआ शम, दम, उपरति एवं तितिक्षा में स्थित होकर समाधिनिष्ठ हुआ आत्मा को आत्मा में ही देखता है, वही आत्म तत्त्व को प्राप्त कर पाता है। जो भी मनुष्य इस तरह से आत्मतत्त्व को जानता है, वह सभी का आत्मा हो जाता है॥ १६ ॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ हैनं रैकः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति रसातललोकेष्विति होवाच कस्मित्रसातललोका ओताश्च प्रोताश्चेति भूलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भूलोका ओताश्च प्रोताश्चेति भुवलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भुवलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सुवलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्सुवलोका ओताश्च प्रोताश्चेति महलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्महलोका ओताश्च प्रोताश्चेति जनोलोकेष्विति होवाच। कस्मिन् जनोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति तपोलोकेष्विति होवाच। कस्मिंस्तपोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सत्यलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्सत्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवोताश्च प्रोताश्चेति स होवाच ॥ १ ॥

इसके बाद पुनः रैक मुनि ने घोराङ्गिरस से प्रश्न किया कि “हे भगवन्! किसमें सभी प्रतिष्ठित हैं?” तदनन्तर उन घोराङ्गिरस ने कहना प्रारम्भ किया कि रसातल के लोकों में सभी कुछ रहता है। “यह रसातल का लोक किसमें स्थित है?” तब उन्होंने कहा कि यह ‘भूलोक’ में स्थित है। यह भूलोक किसमें स्थित है? उन्होंने कहा—“यह भूवः लोक में प्रतिष्ठित है।” यह भुवलोक किसमें ओत-प्रोत है? तब उन्होंने बताया कि “यह स्वलोक में स्थित है।” यह स्वलोक किसमें ओत-प्रोत है? उन्होंने उत्तर दिया कि “यह महलोक में प्रतिष्ठित है।” यह महलोक किसमें ओत-प्रोत है? “(उत्तर) यह जनोलोक में प्रतिष्ठित है।” इस प्रकार उन ऋषि ने पुनः कहा—यह जनोलोक किसमें ओत-प्रोत है?” (उत्तर) यह तपोलोक में स्थित है, ऐसा उन्होंने कहा। (प्रश्न) यह तपोलोक किसमें ओत-प्रोत है? उन्होंने कहा कि यह सत्यलोक में स्थित है। यह सत्यलोक किसमें ओत-प्रोत है? यह प्रजापति लोक में प्रतिष्ठित है, ऐसा उन्होंने कहा—“यह प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है?” यह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित है” ऐसा उन्होंने बताया। यह ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत

है? (यह अन्य किसी में ओत-प्रोत नहीं है) “समर्त लोक आत्म स्वरूप परब्रह्म में माला के दानों की भाँति ओत-प्रोत हैं। इस प्रकार उन्होंने कहा” ॥ १ ॥

एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान्वेदात्मैव स भवतीत्येतत्रिवर्णानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ २ ॥

जो पुरुष इन सभी लोकों की आत्मा में ही स्थित रहता है, वह आत्मस्वरूप ही हो जाता है। इस तरह यह निर्वाण (मोक्ष) विषय का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है एवं यही वेद की आज्ञा है ॥ २ ॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्षः पप्रच्छ भगवन्योऽयं विज्ञानघन उल्कामन्स केन कतरद्वाव स्थानमुत्सु-
ज्यापक्रामतीति तस्मै स होवाच । हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्वरं पुण्डरीकं
कुमुदमिवानेकधा विकसितं तस्य मध्ये समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाड्यश्वतस्मो भवन्ति
रमारमेच्छाऽपुनर्भवेति तत्र रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयत्यरमा पापेन पापमिच्छया यत्स्मरति
तदभिसंपद्यते अपुनर्भवया कोशं भिनत्ति कोशं भित्त्वा शीर्षकपालं भिनत्ति शीर्षकपालं
भित्त्वा पृथिवीं भिनत्ति पृथिवीं भित्त्वाऽपो भिनत्यपो भित्त्वा तेजो भिनत्ति तेजो भित्त्वा
वायुं भिनत्ति वायुं भित्त्वाकाशं भिनत्याकाशं भित्त्वा मनो भिनत्ति मनो भित्त्वा भूतादिं
भिनत्ति भूतादिं भित्त्वा महान्तं भिनत्ति महान्तं भित्त्वाव्यक्तं भिनत्यव्यक्तं भित्त्वाक्षरं भिनत्यक्षरं
भित्त्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वें परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतत्रिवर्णा-
नुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥ १ ॥

इसके बाद रैक्ष मुनि ने पुनः प्रश्न किया-हे भगवन्! यह विज्ञानघन आत्मा जब शरीर से उल्कमण करता है, तब किस जगह का परित्याग करके, किस रास्ते से बाहर की ओर प्रस्थान करता है? यह सुनकर घोराङ्गिरस ने कहना प्रारम्भ किया कि “हृदय के मध्य भाग में मांस का लाल पिण्ड स्थित है। उस पिण्ड में चन्द्रमा के द्वारा विकसित होने वाले कमलिनी पुष्प की भाँति शुभ्र श्वेत एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कमल विद्यमान है। उस सूक्ष्म कमल का विभिन्न तरह से विकास हुआ है। उसके मध्य में समुद्र स्थित है, इस समुद्र के बीच में कोश (स्थान विशेष) स्थित है। उसमें चार प्रकार की नाड़ियाँ-रमा, अरमा, इच्छा एवं अपुनर्भवा हैं। इनमें से रमा नाड़ी पुण्य कृत्यों के माध्यम से पुण्य लोक में ले जाती है, अरमा नाड़ी पाप कृत्य के द्वारा पापलोक में ले जाती है, इच्छा नाड़ी के द्वारा जिसको याद किया जाता है, उसको प्राप्त किया जाता है तथा अपुनर्भवा नाड़ी के द्वारा इस हृदय के मध्य में स्थित कोश को खोला जाता है, कोश को खोलकर मस्तक के शीर्ष (ब्रह्मरन्ध्र) को खोला जाता है, मस्तक के शीर्ष को खोलकर पृथिवी का भेदन करता है, पृथिवी का भेदन करने के पश्चात् जल का भेदन करता है, जल का भेदन करने के बाद तेज (प्रकाश) को भेदता है, तेज का भेदन करने के पश्चात् वायु का भेदन करता है, वायु को भेदकर आकाश को भेदता है, आकाश को भेदकर मन का भेदन करता है, मन को भेदकर अहंकार का भेदन करता है, अहंकार का भेदन करने के पश्चात् वह महत्त्व का भेदन करता है, महत्त्व को भेद कर प्रकृति को भेदता है, प्रकृति का भेदन करने के पश्चात् वह अक्षर का भेदन करता है, अक्षर का भेदन करने के बाद वह मृत्यु का भेदन करता है और वह मृत्यु परमादिदेव परमात्मा में ही एक रूप रहती है। इस एकाकार के पश्चात् सत्, असत् तथा सदसत् आदि कुछ भी नहीं रहता।

इस प्रकार से यह निर्वाण (मोक्ष) का अनुशासन है और यही वेद का अनुशासन है, वेद की आज्ञा है ॥ १ ॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

ॐ नारायणाद्वा अन्नमागतं पक्ं ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः पक्षमादित्ये पुनः पक्षं क्रव्यादि पुनः पक्षं जालकिलक्लिन्नं पर्युषितं पूतमन्नमयाचितमसंक्लृप्तमश्रीयान्नं कंचन याचेत ॥ १ ॥

नारायण के द्वारा अन्न का आगमन हुआ है। वह (अन्न) महासंवर्तक (प्रलय काल में) ब्रह्म के लोक में पका है, इसके बाद वह आदित्य (कालाग्नि) में पका है और इसके पश्चात् वह क्रव्यादि (कल्याण-आवस्थाग्नि) में पका है। पुनः (प्राणियों के द्वारा खाये जाने पर) जठराग्नि में पका है। इस गीले-बासी (अन्न) को सन्यासी (कभी न खाये, अपितु) पवित्र, अयाचित (बिना माँगे हुए), असंकल्पित (किसी घर विशेष से संकल्पपूर्वक न लेना) भिक्षा में प्राप्त अन्न को ही ग्रहण करे। इस तरह से सन्यासी को किसी से भी अन्न की याचना नहीं करनी चाहिए ॥ १ ॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

बाल्येन तिष्ठासेद्वालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनेन पाणिडत्येन निरवधिकारतयोपलभ्येत कैवल्यमुक्तं निगमनं प्रजापतिरुवाच महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत कुचेलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आसकामो निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेतोत्पलमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत्सत्योऽयमात्मा ॥ १ ॥

(ज्ञानी के लिए) बाल्यकाल में ही सदैव बने रहने की कामना करना, बालकों जैसे स्वभाव वाला, असंग (आसक्ति रहित) रहना एवं निरवद्य (बिना दोष के) रहना, मौन रहना तथा पाणिडत्य को प्राप्त करना, अवधि रहित (वर्णाश्रम आदि से परे रहने वाले) अधिकार को प्राप्त करना, यही अन्तिम कैवल्य स्थिति बतलायी गयी है। प्रजापति ने कहा कि श्रेष्ठ पद को जान लेने के बाद वृक्षों के नीचे निवास करना, जीर्ण वस्त्रों को धारण करना, किसी की भी सहायता न प्राप्त करना तथा एकाकी ही समाधि अवस्था में लीन रहना चाहिए। इस तरह से पुरुष आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाला, पूर्णकाम एवं कामनाओं से रहित होता है। उस पुरुष की समस्त इच्छाएँ जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। फिर वह पुरुष हाथी, सिंह, डॉस, मच्छर, न्यौला, सर्प, राक्षस या गन्धर्व आदि में मृत्यु का रूप समझकर किसी से भी भयभीत नहीं होता। वृक्ष की भाँति स्थिर रहने की कामना करता रहता है। उसे यदि कोई काटकर नष्ट कर दे, तब भी वह क्रोधरहित रहता है, कम्पायमान नहीं होता, कमल की तरह निर्लिप्त रहना चाहता है। अस्त्र-शस्त्रादि से छेदा भी जाये, तब भी क्रोधित न हो, अपनी जगह पर स्थिर रहकर आकाश की तरह से वह (निर्लिप्त) रहना चाहता है। छिन्न-भिन्न कर देने पर ब्रेधित न हो, कंपित न हो, सदैव सत्य के प्रति आरुद्ध रहना चाहता है। यही आत्मा का सत्य रूप है ॥ १ ॥

सर्वेषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापो हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दानामाकाशं हृदयं सर्वेषामेव गतीनामव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्त्वानां मृत्युर्हृदयं मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न

सदसदित्येतत्रिवर्णानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ २ ॥

समस्त गन्धों का हृदय पृथ्वी है, सभी तरह के रसों का हृदय जल है, समस्त रूपों का हृदय तेज (प्रकाश) है, सभी स्पर्शों का हृदय वायु है, सभी प्रकार के शब्दों का हृदय आकाश है, समस्त गतियों का हृदय अव्यक्त (प्रकृति) है, सभी तरह के सत्त्वों (प्राणियों) का हृदय मृत्यु है तथा वह मृत्यु परमादिदेव परमात्मतत्त्व में एक रूप होकर रहता है। इसके बाद न सत् है, न असत् है और न ही सदसत् है। इस तरह यह मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की शिक्षा है, वेदों का अनुशासन है॥ २ ॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

**पृथिवी वान्नमापोऽन्नादा आपो वान्नं ज्योतिरन्नादं ज्योतिर्वान्नं वायुरन्नादो
वायुर्वान्नमाकाशोऽन्नाद आकाशो वान्नमिन्द्रियाण्यन्नादानीन्द्रियाणि वान्नं मनोऽन्नादं मनो वान्नं
बुद्धिरन्नादा बुद्धिर्वान्नमव्यक्तमन्नादमव्यक्तं वान्नमक्षरमन्नादमक्षरं वान्नं मृत्युरन्नादो मृत्युर्वै परे
देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतत्रिवर्णानुशासनमिति वेदानुशासनमिति
वेदानुशासनम्॥ १ ॥**

पृथ्वी अन्न है, जल अन्न का भक्षण करने वाला है, जल अन्न है तथा ज्योति (तेज या अग्नि) अन्न का भक्षण करने वाली है, ज्योति ही अन्न है, वायु अन्न का भक्षण करने वाली है, वायु ही अन्न है और आकाश अन्न खाने वाला है, आकाश ही अन्न है तथा इन्द्रियाँ अन्न ग्रहण करने वाली हैं, इन्द्रियाँ ही अन्न हैं, मन अन्न ग्रहण करने वाला है, मन ही अन्न है और बुद्धि अन्न ग्रहण करने वाली है, बुद्धि ही अन्न है तथा प्रकृति अन्न ग्रहण करने वाली है, प्रकृति ही अन्न है और अक्षर अन्न को खाने वाला है, अक्षर ही अन्न है और मृत्यु अन्न को ग्रहण करने वाली है। यह मृत्यु ही परमदेव परब्रह्म में एक रूप हो जाती है। इसके पश्चात् सत् नहीं है, असत् भी नहीं है, सत्-असत् भी नहीं है। यही निर्वाण (मुक्ति) का उपदेश है, यही वेद का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है॥ १ ॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

**अथ हैनं रैकः पप्रच्छ भगवन्योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्स केन कतरद्वाव स्थानं दहतीति
तस्मै स होवाच योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्प्राणं दहत्यपानं व्यानमुदानं समानं वैरम्भं
मुख्यमन्तर्यामं प्रभज्जनं कुमारं श्येनं श्वेतं कृष्णं नागं दहति पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशं दहति
जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयं च महतां च लोकं परं च लोकं दहति लोकालोकं दहति धर्माधर्मं
दहत्यभास्करमर्यादं निरालोकमतः परं दहति महान्तं दहत्यव्यक्तं दहत्यक्षरं दहति मृत्युं दहति
मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतत्रिवर्णानुशासन मिति
वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १ ॥**

इसके पश्चात् रैक मुनि ने घोराङ्गिरस से पुनः प्रश्न किया—“हे भगवन्! यह विज्ञान स्वरूप आत्मा जब शरीर से बाहर उत्क्रमण करता है, तब वह किसके द्वारा, किस स्थान को जलाता है?” ऐसा सुनकर उन घोराङ्गिरस ने कहा—“वह विज्ञानघन आत्मा बाहर उत्क्रमण करता है,” तब सबसे पहले प्राण को, क्रमशः अपान को, व्यान को, उदान को, समान को, वैरंभ को, मुख्य को, अन्तर्याम को, प्रभज्जन को, कुमार को, श्येन को, श्वेत को, कृष्ण को एवं नाग को दग्ध करता है। तत्पश्चात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश को

दग्ध करता है, इसके बाद जाग्रत्, स्वप्र, सुषुप्ति, तुर्या, महानता के लोक तथा परलोक को भी दग्ध कर देता है, तदनन्तर लोक एवं अलोक को दग्ध करता है, धर्म एवं अधर्म को दग्ध करता है, तत्पश्चात् बिना सूर्य के, बिना मर्यादा के और बिना आलोक के वह सभी स्थलों को दग्ध कर देता है, उसके बाद महत्त्व को दग्ध कर देता है, प्रकृति को दग्ध करता है, अक्षर को दग्ध करता है तथा मृत्यु को भी दग्ध कर देता है। मृत्यु ही परमादिदेव परमतत्त्व में एकाकार हो जाती है, उसके बाद न सत् है, न असत् और न ही सत्-असत् है। यही निर्वाण (मुक्ति) का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेद का अनुशासन है ॥ १ ॥

॥ घोडशः खण्डः ॥

सौबालबीजब्रह्मोपनिषद्नाप्रशान्ताय दातव्या नाशिष्याय नासंवत्सरात्रोषिताय
नापरिज्ञातकुलशीलाय दातव्या नैव च प्रवक्तव्या । यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थः प्रकाशन्ते महात्मन इत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति
वेदानुशासनम् ॥ १ ॥

सौबाल (सुबाल सम्बन्धी) जिस ब्रह्म का बीज है, ऐसे इस उपनिषद् को अन्य किसी को नहीं प्रदान करना चाहिए, जो अत्यधिक शान्त न हो, जो पुत्र न हो, जो शिष्य न हो तथा जो एक वर्ष तक पास में न रहा हो। इस प्रकार से अनजान कुलशील वाले मनुष्य को भी नहीं प्रदान करना चाहिए और न ही उसे बताना चाहिए। जिस व्यक्ति की परमात्मशक्ति के ऊपर तथा परमात्मा के सदृश ही गुरु के ऊपर परम श्रेष्ठ भक्ति हो, उसी के लिए ये अर्थ (विशेष ज्ञान) बतलाये गये हैं तथा ऐसे ही महान् आत्मा को ये प्रकाशित करते हैं। यही निर्वाण (मुक्ति) का आदेश है, यही वेदों की शिक्षा है तथा यही वैदिक अनुशासन है ॥ १ ॥

ॐ पूर्णमदः इति शान्तिः ॥

॥ इति सुबालोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ स्वसंवेद्योपनिषद् ॥

‘स्व’-आत्मतत्त्व का, संवेद्य-अनुभव प्राप्त करना, इस उपनिषद् का प्रयोजन है। इसमें एक ही मन्त्र चार प्रखण्डों में विभक्त है। पहले प्रखण्ड में प्राणियों की उपमा जल बुद्बुद से दी गई है और कहा गया है, जैसे जल का बुद्बुद जल में विलीन होकर जल के साथ एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों का समूह, अमृतसागर स्वरूप परब्रह्म में विलीन हो जाता है, परन्तु ऐसी स्थिति ज्ञान-प्राप्ति के बाद ही सम्भव होती है, अधिकांशतया तो प्राणी अज्ञान से ही आवृत होते हैं।

दूसरे प्रखण्ड में बताया गया है कि सभी काल, कर्मात्मक और स्वभावात्मक होते हैं। यथार्थ में पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा कोई नहीं होता, केवल ‘मत’ (आत्मतत्त्व की निष्ठा) की ही यथार्थता है। इसमें परिनिष्ठित व्यक्ति के लिए मोक्ष-नरक आदि कुछ भी नहीं होता।

तीसरे प्रखण्ड में तत्त्वज्ञान को गुहा में प्रविष्ट बताते हुए कहा गया है कि सामान्य जनों की इस मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती। साकार उपासना प्रधान लोग अज्ञान में भटकते रहते हैं। तत्त्वज्ञानी को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा कुत्ते, गधे, बिली में चैतन्यतत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता।

अन्तिम चतुर्थ प्रखण्ड में सभी को आत्मतत्त्व सम्पन्न मानकर, सबकी सेवा करने का मर्म समझाया गया है। अन्त में ‘गुरु’ की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि सब कुछ गुरु की कृपा से ही जाना जा सकता है, उनसे बढ़कर कोई भी नहीं-यह तथ्य जानने वाला ही जीवन्मुक्त हो पाता है।

ॐ सर्वेषां प्राणिबुद्बुदानां निरंजनाव्यक्तामृतनिधौ विलयविलासः स्थितिर्विजृम्भते ।
तेषामेव पुनर्भवनं नो इहास्ति । स यथा मृत्यिण्डे घटानां तन्तौ पटानां तथैवेति भवति ।
वस्तुतो नोपादानमत एव नोपादेयमत एव न निमित्तमत एव न विद्या न पुराणं नो वेदा
नेतिहासा इति न जगदिति न ब्रह्मा नो विष्णुः नाथ रुद्रो नेश्वरो न बिन्दुः नो कलेति अग्रे
मध्येऽवसाने सर्वं यथावस्थितं यथावस्थितज्ञानं तेषां नो भवत्यागमपुराणेतिहासधर्मशास्त्रेषु
धृताभिमानास्ते । यत्तानि तु मुग्धतरमुनिशब्दवाच्यैः जीवबुद्बुदैः रचितानीति भवन्ति । तत्र
ग्रामाण्यं तादृशानामेव । ते त्वज्ञानेनावृताः सयत्रेन गर्भास्तदप्येष श्रोको भवति । तदत्र श्रोको
भवति ॥ १-क ॥

ॐ प्राणिस्वरूप बुलबुलों (पानी के बुलबुलों) का निरञ्जन और अव्यक्त अमृत के सागर परब्रह्म में विलीन हो जाने की स्थिति प्रकट और सत्य है। यह अवश्य ही होती है। ब्रह्मलीन हो जाने वालों का पुनरागमन नहीं होता। उनकी स्थिति मृत्यिकापिण्ड में कुम्भ की तरह और धागों में कपड़े की तरह हो जाती है। वस्तुतः वह न उपादान है, न उपादेय और न निमित्त ही है। वह विद्या, पुराण, वेद, इतिहास भी नहीं है। न जगत् है, न ब्रह्मा, न विष्णु, न रुद्र, न ईश्वर न बिन्दु और न कला ही है। आगे (आदि), मध्य और अन्त में उन सबको (प्राणियों को) यथावस्थित ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे आगम, पुराण, इतिहास एवं धर्मशास्त्रों में अभिमान धारण करने वाले होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे जीव मुनि द्वारा उच्चरित किये गये श्रेष्ठ वचनों रूपी बुद्बुदों द्वारा विनिर्मित होते हैं। वहाँ (उस सन्दर्भ में) वैसों की ही प्रामाणिकता मान्य होती है। वे तो

अज्ञान से आवृत हैं। बहुत प्रयत्न करने पर कुछ ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, फिर भी यह उक्ति प्रसिद्ध है, कि वे सब (जीव) अज्ञान युक्त हैं, मुग्धतर हैं ॥ १-क ॥

इह तेनाप्यज्ञानेन नो किञ्चित् । अथ यथावस्थितज्ञानेन किंचित् नेति यदस्ति तदस्ति यन्नास्ति नास्ति तत् । कालकर्मात्मकमिदं स्वभावात्मकं चेति । न सुकृतं नो दुष्कृतम् । अत एव सुमेरुदातारो गोदातारो वा गोद्धैः ब्राह्मणद्धैः सुरापानैः पश्यतोहरैः परोक्षहरैर्वा गुरुपापनिष्ठैः सर्वपापनिष्ठैः समानास्त एते । तैश्च न गौः न ब्राह्मणः न सुरा न पश्यतोहरः न परोक्षहरः न गुरुपापानि न लघुपापानि मत एव तन्निष्ठाः मत एव न निर्वाणं नो निरय इति तदप्येष श्लोको भवति ॥ १-ख ॥

यहाँ उस अज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं है और उस यथावस्थित ज्ञान से भी कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका अस्तित्व है, उसका है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसका नहीं है। ये सभी काल-कर्मात्मक और स्वभावात्मक हैं। पुण्य और पाप भी नहीं हैं। अतएव सुमेरु (स्वर्ण) दाता, गोदाता अथवा गोहन्ता, ब्राह्मणहन्ता, सुरापायी, डाकू, चोर, गुरु (महान्) पापनिष्ठ तथा सर्वपापनिष्ठ ये सभी एक ही समान हैं। उनके लिए न गौ है, न ब्राह्मण है, न शराब पीने वाला है, न डाकू है, न चोर है, न बड़े पाप हैं, न छोटे पाप हैं। उनके लिए तो (उनका) मत सर्वोपरि है, क्योंकि मत में ही उनकी निष्ठा है। मोक्ष और नरक भी उनके लिए कुछ भी नहीं है। ऐसा इस श्लोक का अर्थ है ॥ १-ख ॥

तत्त्वज्ञानं गुहायां निविष्टमज्ञानिकृतमार्गं सुषु वदन्ति । ते तत्र साभिमाना वर्तन्ते । पुष्पितवचनेन मोहितास्ते भवन्ति । स यथातुरा भिषगग्रहणकाले बाला अपथ्याहितगुडादिना जनन्या वज्जिता इति नानादेवता गुरुकर्मतीर्थनिष्ठाश्च ते भवन्ति । केचिद्विद्यं वैदिका इति वदन्ति । नान्येऽस्मभ्यम् । केचिद्विद्यं सर्वशास्त्रज्ञा इति । केचिद्विद्यं देवानुग्रहवन्तः । केचिद्विद्यं स्वप्ने उपास्यदेवताभाषिणः । केचिद्विद्यं देवा इति । केचिद्विद्यं श्रीमद्रमारमणनलिनभृङ्गा इति । केचित्तु नृत्यन्तु । केचित्तु मूर्खा वयं परमभक्ता इति वदन्तो रुदन्ति पतन्ति च । ये केचनैते ते सर्वोप्यज्ञानिनः । ये तु ज्ञानिनो भवन्ति ये तत्त्वज्ञानिनश्च तैस्तेषां को विशेषः । मत एव केषाज्जित्कैश्चिद्देदः । मत एव यत् विरिज्जिविष्णुरुद्रा ईश्वरश्च गच्छन्ति तत्रैव श्वानो गर्दभाः मार्जाराः कृगयश्च मत एव न श्वानगर्दभौ न मार्जारः न कृमिः नोत्तमाः न मध्यमाः न जघन्याः । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १-ग ॥

तत्त्वज्ञान को गुहा में प्रविष्ट कहा गया है। अज्ञानियों द्वारा किये गये (ज्ञान हेतु अपनाये गये) मार्ग को श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि वे अभिमान सहित उस मार्ग पर चलते हैं। वे पुष्पित (मुग्ध) वचनों के द्वारा मोहित हो जाते हैं। जिस प्रकार माताएँ बच्चों को दवा खिलाते समय अपथ्य गुड़ आदि मिलाकर उन्हें दवा खिलाती हैं अर्थात् अपथ्य गुड़ का प्रलोभन देकर औषधि खिला देती हैं; उसी प्रकार अनेक देवों की उपासना, गुरुओं के प्रति निष्ठा, तीर्थ सेवन और विभिन्न सत्कर्म करने वाले भी इन्हें (देवों आदि को) ठगते हैं अर्थात् उनके उपर्युक्त कर्मों के पीछे भी उनकी यही इच्छा रहती है कि हमारी सद्गति हो। कुछ लोग हम वैदिक हैं, ऐसा कहते हैं। अन्य लोग ऐसा नहीं कहते। कुछ अपने को समस्त शास्त्रों का ज्ञाता कहते हैं, कुछ अपने को देव अनुग्रहवान् कहते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हम स्वप्न में अपने उपास्य देवता द्वारा बताई गई बात बता

देते हैं (जैसे लोग चोरी का सामान मिलने आदि के विषय में बता देते हैं।) कुछ लोग अपने को देवता बताते हैं। कुछ कहते हैं कि हम भगवान् विष्णु रूपी कमल पर गुंजार करने वाले भ्रमर (अर्थात् वैष्णव) हैं। कुछ (परम भक्त होने की) प्रसन्नता में नृत्य करें, तो करें। कुछ मूर्खजन अपने को परम भक्त बताते हुए रोते हैं और पतित होते हैं। जो भी इस प्रकार के हैं, वे प्रायः सभी अज्ञानी हैं। जो ज्ञानी हैं और जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनमें परस्पर कौन वरिष्ठ (विशेष) है (अर्थात् कोई नहीं)। किन्हीं का किन्हीं से केवल मत में ही भेद दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वमान्य मत है कि जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और ईश्वर जाते हैं, वहाँ कुत्ते, गधे, बिलियाँ और कृमि भी जाते हैं। यह भी सर्वमान्य है कि कुत्ते, गधे, बिलियाँ और कृमि न उत्तम हैं, न मध्यम हैं और न नीच हैं (सबका सृष्टि में अपना-अपना उपयुक्त स्थान है)। इस श्रूतक का यही अर्थ हुआ ॥ १-ग ॥

न तच्छब्दः न किंशब्दः न सर्वे शब्दाः न माता नो पिता न बन्धुः न भार्या न पुत्रो न मित्रं नो सर्वे तथापि साधकैरात्मस्वरूपं वेदितुमिच्छद्विजीवन्मुक्षुभिः सन्तः सेव्याः । भार्या पुत्रो गृहं धनं सर्वं तेभ्यो देयम् । कर्मद्वैतं न कार्यं भावाद्वैतं तु कार्यं । निश्चयेन सर्वद्वैतं कर्तव्यम् । गुरौ द्वैतमवश्यं कार्यम् । यतो न तस्मादन्यत् । येन सर्वमिदं प्रकाशितम् । कोऽन्यः तस्मात्परः । स जीवन्मुक्तो भवति स जीवन्मुक्तो भवति । य एवं वेद । य एवं वेद ॥ १-घ ॥

इसलिए न 'तत्' शब्द है, न 'किम्' शब्द है (अर्थात् प्रश्न और उत्तर कुछ नहीं है) और न सभी शब्द (अर्थात् अन्य कोई शब्द) हैं। न माता, न पिता, न बंधु, न पती, न पुत्र, न मित्र और अन्य सब भी नहीं हैं, तो भी साधकों को आत्म स्वरूप को समझने की आकांक्षा से और जीवन्मुक्त होने की आकांक्षा से सन्त सेवा करनी चाहिए। स्त्री, पुत्र, धन, गृह सब कुछ उन्हें अप्रित कर देना चाहिए अर्थात् उनके निमित्त उनका मोह छोड़ देना चाहिए। कर्मद्वैत नहीं भावाद्वैत करना चाहिए। निश्चित ही सर्वद्वैत करना चाहिए। गुरु में द्वैत अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उनसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। उनके द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है अर्थात् गुरु की कृपा से ही सब कुछ जाना जाता है। उनसे बढ़कर अन्य कौन है अर्थात् कोई नहीं। जो इस तथ्य को सम्यक् रूप से जानता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ १-घ ॥

॥ इति स्वसंवेद्योपनिषत् समाप्ता ॥



॥ हंसोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं। ऋषि गौतम एवं सनत्कुमार के प्रश्नोत्तर रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। इसमें ऋषि गौतम द्वारा ब्रह्मविद्या की बात पूछे जाने पर सनत्कुमार जी ने वह प्रसंग सुनाया, जो महादेव जी ने श्री पार्वती जी को सुनाया था।

यह बड़ा ही गुह्य ज्ञान है, जिसे महादेव ने शान्त (मनोनिग्रह युक्त), दान्त (इन्द्रियनिग्रह युक्त) और गुरुभक्त को ही देने की बात कही है। वह हंस (जीवात्मा) सभी शरीरों में उसी प्रकार विद्यमान है, जैसे काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल। उसकी प्राप्ति के लिए षट्चक्र वेधन की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। अष्टदल कमल से उसकी वृत्तियों का साम्य बताते हुए शुद्ध स्फटिक मणि सदृश ब्रह्म 'का स्वरूप वर्णित किया है। यही 'हंस' भी कहा जाता है। इसके ध्यान से नाद की उत्पत्ति कही गई है। जिसकी अनेक रूपों में अनुभूति होती है। इसी की चरमावस्था में परब्रह्म से साक्षात्कार होता है। यही अवस्था समाधि की स्थिति है। इसी स्थिति में शुद्ध-बुद्ध, नित्य, निरञ्जन, शान्त स्वरूप परब्रह्म के प्रकाशित होने का वेदानुवचन भी प्रसिद्ध है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः इति शान्तिः । (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

गौतम उवाच- भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वशस्त्रविशारद । ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि केनोपायेन जायते ॥

ऋषि गौतम ने (सनत्कुमार से) प्रश्न किया-हे भगवन्! आप समस्त धर्मों के ज्ञाता और समस्त शास्त्रों के विशारद हैं। आप यह बताने की कृपा करें कि ब्रह्म विद्या किस उपाय द्वारा प्राप्त की जा सकती है ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच- विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः ।

पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम ॥ २ ॥

सनत्कुमार ने कहा-हे गौतम! महादेव जी ने समस्त धर्मों (उपनिषदों) के मतों को विचार कर श्री पार्वती जी के प्रति जो भी कहा (व्याख्यान दिया) उसे तुम मुझसे सुनो ॥ २ ॥

अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसंनिभम् । हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ३ ॥

यह गूढ़ रहस्य किसी अज्ञात (अनधिकारी) से नहीं बताना चाहिए। योगियों के लिए तो यह (ज्ञान) एक कोश के समान है। हंस (परम आत्मा) की आकृति (स्थिति) का वर्णन भोग एवं मोक्षफल प्रदाता है ॥

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामः ।

ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय । हंसहंसेति सदा ध्यायन् ॥ ४ ॥

जो गुरुभक्त सदैव हंस-हंस (सोऽहम्, सोऽहम्) का ध्यान करने वाला, ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय तथा शान्त मनःस्थितिं (इन्द्रियों) वाला हो, उसके समक्ष हंस-परमहंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए ॥ ४ ॥

सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते । यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा मृत्युमत्येति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार तिल में तेल और काष्ठ में अग्नि संव्याप्त रहती है। उसी प्रकार समस्त शरीरों में व्याप्त होकर यह जीव 'हंस-हंस' इस प्रकार जप करता रहता है। इसे जानने के पश्चात् जीव मृत्यु से परे हो जाता है ॥ ५ ॥

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुद्ध्याज्ञामनुद्ध्यायन्ब्रह्मरन्धं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येव सर्वदा पश्यत्प्रनाकारश्च भवति ॥ ६ ॥

(हंस ज्ञान का उपाय-) सर्वप्रथम गुदा को खींचकर आधार चक्र से वायु को ऊपर उठा करके स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करे, तदुपरांत मणिपूरक चक्र में प्रवेश करके अनाहत चक्र का अतिक्रमण करे। इसके पश्चात् विशुद्ध चक्र में प्राणों को निरुद्ध करके आज्ञाचक्र का ध्यान करे, फिर ब्रह्मरंथ का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार ध्यान करते हुए कि मैं त्रिमात्र आत्मा हूँ। योगी सर्वदा अनाकार ब्रह्म को देखता हुआ अनुकारवत् हो जाता है अर्थात् तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं सर्व व्याप्तम् ॥ ७ ॥

वह परमहंस अनन्तकोटि सूर्य सदृश प्रकाश वाला है, जिसके प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् संव्यास है ॥ ७ ॥

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति । पूर्वदले पुण्ये मतिः । आग्रेये निद्रालस्यादयो भवन्ति । याम्ये क्रौर्ये मतिः । नैऋते पापे मनीषा । वारुण्यां क्रीडा । वायव्यां गमनादौ बुद्धिः । सौम्ये रतिप्रीतिः । ईशान्ये द्रव्यादानम् । मध्ये वैराग्यम् । केसरे जाग्रदवस्था । कर्णिकायां स्वप्रम् । लिङ्गे सुषुप्तिः । पद्मत्यागे तुरीयम् । यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम् ॥ ८ ॥

उस (जीव भाव सम्पन्न) हंस की आठ प्रकार की वृत्तियाँ हैं। हृदय स्थित जो अष्टदल कमल है, उसके विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ विराजती हैं। इसके पूर्व दल में पुण्यमति, आग्रेय दल में निद्रा और आलस्य आदि, दक्षिणदल में क्रूरमति, नैऋत्य दल में पाप बुद्धि, पश्चिमदल में क्रीडा वृत्ति, वायव्य दल में गमन करने की बुद्धि, उत्तर दल में आत्मा के प्रति प्रीति, ईशान दल में द्रव्यादान की वृत्ति, मध्य दल में वैराग्य की वृत्ति, (उस अष्टदल कमल के) केसर (तन्तु) में जाग्रदवस्था, कर्णिका में स्वप्रावस्था, लिङ्ग में सुषुप्तावस्था होती है। जब वह हंस (जीव) उस पद्म का परित्याग कर देता है, तब तुरीयावस्था को प्राप्त होता है। जब नाद उस हंस में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत स्थिति को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अथो नाद आधाराद्ब्रह्मरन्धर्पर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः । स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ॥ ९ ॥

इस प्रकार मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंथ तक जो नाद विद्यमान रहता है, वह शुद्ध स्फटिकमणि सदृश ब्रह्म है, उसी को परमात्मा कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ हंस ऋषिः । अव्यक्तगायत्री छन्दः । परमहंसो देवता ।

हमिति बीजम् । स इति शक्तिः । सोऽहमिति कीलकम् ॥ १० ॥

इस प्रकार इस (अजपा मंत्र) का ऋषि हंस (प्रत्यगात्मा) है, अव्यक्त गायत्री छन्द है और देवता परमहंस (परमात्मा) है। 'हं' बीज और 'सः' शक्ति है। सोऽहम् कीलक है ॥ १० ॥

षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति । सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति ॥ ११ ॥ अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यन्यासकरन्यासौ भवतः ॥ १२ ॥ एवं कृत्वा हृदयेऽष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत् ॥ १३ ॥

इस प्रकार इन षट् संख्यकों द्वारा एक अहोरात्र (अर्थात् २४ घंटों) में इक्षीस हजार छः सौ श्लास लिए जाते हैं। (अथवा गणेश आदि ६ देवताओं द्वारा दिन-रात्रि में २१,६०० बार सोऽहम् मंत्र का जप किया जाता है।) 'सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासाय अतनु सूक्ष्म प्रचोदयात् इति अग्नीषोमाभ्यां वौषट्' इस मंत्र को जपते हुए हृदयादि अंगन्यास तथा करन्यास करे। तत्पश्चात् हृदय स्थित अष्टदल कमल में हंस (प्रत्यगात्मा) का ध्यान करे ॥ ११-१३ ॥

अग्नीषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दु स्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ ।

द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

अग्नि और सोम उस (हंस) के पक्ष (पंख) हैं, ओंकार सिर, बिन्दु सहित उकार (हंस का) तृतीय नेत्र है, मुख रुद्र है, दोनों चरण रुद्राणी हैं। इस प्रकार सगुण-निर्गुण भेद से-दो प्रकार से कण्ठ से नाद करते हुए, हंस रूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। अतः नाद द्वारा ध्यान करने पर साधक को उन्मनी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति को 'अजपोपसंहार' कहते हैं ॥ १४ ॥

एवं हंसवशात्तस्मान्मनो विचार्यते ॥ १५ ॥

समस्त भाव हंस के अधीन हो जाते हैं, अतः साधक मन में स्थित रहते हुए हंस का चिन्तन करता है ॥

अस्यैव जपकोट्यां नादमनुभवति एवं सर्वं हंसवशान्नादो दशविधो जायते । चिणीति प्रथमः । चिज्जिणीति द्वितीयः । घण्टानादस्तृतीयः । शङ्खनादश्तुर्थम् । पञ्चमस्तन्त्रीनादः । षष्ठ्यस्तालनादः । सप्तमो वेणुनादः । अष्टमो मृदङ्गनादः । नवमो भेरीनादः । दशमो मेघनादः ॥ १६ ॥ नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥ १७ ॥

इसके (सोऽहम् मंत्र के) दस कोटि जप कर लेने पर साधक को नाद का अनुभव होता है। वह नाद दस प्रकार का होता है। प्रथम-चिणी, द्वितीय-चिज्जिणी, तृतीय-घण्टनाद, चतुर्थ-शंखनाद, पंचम-तंत्री, षष्ठ्य-तालनाद, सप्तम-वेणुनाद, अष्टम-मृदङ्गनाद, नवम-भेरीनाद और दशम-मेघनाद होता है। इनमें से नौ का परित्याग करके दसवें नाद का अभ्यास करना चाहिए ॥ १६-१७ ॥

प्रथमे चिज्जिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम् । तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥ १८ ॥ पञ्चमे स्ववते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम् । सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे ॥ १९ ॥ अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम् । दशमं परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ ॥ २० ॥

इन नादों के प्रभाव से शरीर में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रथम नाद के प्रभाव से शरीर में चिन-चिनी हो जाती है अर्थात् शरीर चिन-चिनाता है। द्वितीय से गात्र भंजन (अंगों में अकड़न) होती है, तृतीय से शरीर में पसीना आता है, चतुर्थ से सिर में कम्पन (कँप-कँपी) होती है, पाँचवें से तालु से स्नाव उत्पन्न होता है, छठे से अमृत वर्षा होती है, सातवें से गूढ़ ज्ञान-विज्ञान का लाभ प्राप्त होता है, आठवें से परावाणी प्राप्त होती है, नौवें से शरीर को अदृश्य करने (अन्तर्धान करने) तथा निर्मल दिव्य दृष्टि की विद्या प्राप्त होती है और दसवें से परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके साधक ब्रह्म साक्षात्कार कर लेता है ॥ १८-२० ॥

तस्मन्मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धं पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति वेदानुवचनं भवतीत्युपनिषत् ॥ २१ ॥

जब मन उस हंस रूप परमात्मा में विलीन हो जाता है, उस स्थिति में संकल्प-विकल्प मन में विलीन हो जाते हैं तथा पुण्य और पाप भी दग्ध हो जाते हैं, तब वह हंस सदा शिवरूप, शक्ति (चैतन्य स्वरूप) आत्मा सर्वत्र विराजमान, स्वयं प्रकाशित, शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरञ्जन, शान्तरूप होकर प्रकाशमान होता है, ऐसा वेद का वचन है। इस रहस्य के साथ इस उपनिषद् का समापन होता है ॥ २१ ॥

ॐ पूर्णमदः इति शान्तिः ॥

॥ इति हंसोपनिषत्समाप्ता ॥



परिशिष्ट-१

परिभाषा-कोश - १०८उपनिषद्-ब्रह्मविद्या खण्ड

१. **अक्षय**— कोश ग्रन्थों के अनुसार अक्षय का अर्थ है—‘नास्ति क्षयोऽस्य’ अर्थात् जिसका कभी क्षय (क्षरण) न हो, जो अविनाशी हो। जो सदा रहने वाला शाश्वत और कल्पान्त स्थायी हो। उपर्युक्त सभी गुणों का इश्वर में समावेश है। अतः परमात्मा को अक्षय कहते हैं। अक्षय अर्थ में ही ‘अक्षर’ शब्द भी प्रयुक्त होता है—‘न क्षरमिति अक्षरम्’ अर्थात् जो कभी अपने स्वरूप से विचलित न हो, वह अक्षर है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो इस ‘अक्षर’ (ब्रह्म) को (भलीप्रकार) जान लेता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है—एतदध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदध्येवाक्षरं परम्। एतदध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् (कठो० १.२.१६)।

वस्तुतः संसार में दो प्रकार की सृष्टि है—क्षर और अक्षर। सभी परिवर्तनशील, यहाँ तक जीव-जगत् भी ‘क्षर’ हैं; किन्तु जो सदैव एक सा ही रहता है, कूटस्थ है—वह ‘अक्षर’ है—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्वाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते (गी० १५.१६)। कभी विनष्ट न होने के अर्थ में—विशेषण रूप में भी अक्षय शब्द कई शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है, जैसे—अक्षय तृतीया, अक्षय चतुर्थी, अक्षय नवमी, अक्षय पात्र तथा अक्षय वट आदि।

२. **अग्निष्टोम** — अग्निष्टोम एक त्रौत यज्ञ है। यह यज्ञ प्रायः दो प्रकार का होता है—१. सोमयज्ञ २. हविर्यज्ञ। जिस यज्ञ में सोमरस से आहुति प्रदान की जाती है, वह सोमयज्ञ तथा जिसमें दूध, दही, घी और पुरोडाश आदि पिष्टक आहुति देकर यजन किया जाता है, वह हविर्यज्ञ कहलाता है। ‘अग्निष्टोम’ सोमयज्ञ के अन्तर्गत आता है। इसमें प्रथम सोमरस से आहुति दी जाती है, तत्पश्चात् सोमरस का पान किया जाता है। इस यज्ञ का काल वसन्त ऋतु माना जाता है; क्योंकि वसन्त में सोम प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता रहा-वसन्ते अग्निष्टोमः इति कात्यायनः। इस यज्ञ में प्रमुखतः अग्निदेव का स्तवन किया जाता है, इसलिए इसका नाम अग्निष्टोम पड़ा है—अग्नीनां स्तोमः इति अग्निष्टोमः। इसमें अग्निदेव के अतिरिक्त कुछ विशेष उद्देश्यों से इन्द्र और वायु आदि देवताओं का स्तवन भी किया जाता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (६.१.१) में उल्लेख है कि प्रजापति ने बहु प्रजा के सृजन की इच्छा से अग्निष्टोम का दर्शन किया, उसे लाये और उसके माध्यम से प्रजा का सृजन किया—प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरनेनेमाः प्रजा असृजत।

३. **अग्निहोत्र** — अग्निहोत्र एक यज्ञ विशेष है, जिसमें मात्र अग्निदेव के लिए ही आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं—अग्न्ये हृयतेऽत्र (वाच० पृ० ६१)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्राचीन काल में एक बार प्रजापति के भय से अग्निदेव के पलायन करने पर प्रजापति ने उसी अग्नि में ‘स्वाहा’ पूर्वक आहुतियाँ देना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम आहुति से पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, द्वितीय आहुति से अश्वादि जन्मे। इस पर अग्नि को यह भय उत्पन्न हो गया कि प्रजापति बारम्बार आहुतियाँ प्रदान करके अपना अभीष्ट प्राप्त करेंगे और उन्हें (अग्नि को) उन आहुतियों का भाग भी न देंगे। आहुतियों का भाग मात्र देवगण ही ग्रहण करेंगे, तब तो मैं भूखा ही रहूँगा। अतः इस बार अग्निदेव पलायन न करके प्रजापति के अन्दर ही प्रविष्ट हो गये। प्रजापति ने कहा कि हे अग्ने ! जन्म ग्रहण करो—जन्म ग्रहण करो। अग्निदेव ने कहा कि मुझे आहुतियों का भाग नहीं मिलता, अतः भूखा रहकर मैं सेवा करने में असमर्थ हूँ। प्रजापति ने यह कहकर उन्हें भाग प्रदान किया कि अग्निहोत्रगत वह हवि आपके लिए ही दी गई थी (अग्न्ये हृयते इति अग्निहोत्रम्)। इसके पश्चात् प्रजापति के उदर से अग्निदेव का पुनः प्राकट्य हुआ—सोऽग्निरबिभेत्। आहुतिभिर्वै माऽप्नोतीति। स प्रजापतिं पुनः प्राविशत्.....(तैत्ति० ब्रा० २.१.२.५)। अग्निहोत्र के दो प्रकार बताए गए हैं—एक तो प्रतिदिन चलते रहकर एक मास में पूर्ण होने वाला तथा दूसरा यावज्जीवन (जीवनभर) चलने वाले अग्निहोत्र में प्रातः—सायं दोनों समय अग्नि में आहुति प्रदान की जाती है और अन्त में अग्निहोत्री का दाह संस्कार भी उसी अग्नि से किया जाता है। विवाह के पश्चात् ब्राह्मण को वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्य को शरद ऋतु में अग्नि स्थापन करके शास्त्र वर्णित मन्त्र से अग्निहोत्र प्रारम्भ करना चाहिए। प्राचीनकाल में तो विभिन्न प्रकार के हव्य पदार्थों से अग्निहोत्र होता था; पर अब दुग्ध, घृत आदि सुलभ द्रव्यों द्वारा ही अग्निहोत्र करने का प्रचलन है।

४. **अजपा गायत्री**— जो जप बिना प्रयत्न के ही स्वाभाविक रूप से चलता रहे, वह अजपा जप कहलाता है—प्रयत्नेन न जप्या अप्रयत्नोच्चारितत्वात् जप कर्मणि(वाच० पृ० ८९)। इसे सोऽहम् तथा हंस साधना भी कहते हैं। सहज

श्वास-प्रश्वास के क्रम में जब हम श्वास को अन्दर खींचते हैं, तो वायु प्रवेश के साथ ही एक सूक्ष्म ध्वनि होती है, जिसका उच्चारण 'सो ८८८' जैसा होता है। कुछ देर श्वास अन्दर ठहरती है, उस समय 'अ ८८८' जैसी ध्वनि होती है तथा जब श्वास बाहर निकलती है, तो 'हं' जैसी ध्वनि होती है। इन्हीं तीनों ध्वनियों पर ध्यान केन्द्रित करने से 'सोऽहम्' के अजपा जप की स्थिति बन जाती है—**श्वासप्रश्वासयोः बहिर्गमनागमनाभ्याम् अक्षरनिष्पादनरूपे जपे स च हंसः सोहमित्याकारस्यैव तदाकारमन्त्रे च (वाच०प०८९)**। शास्त्रों के अनुसार रात्रि और दिन में कुल मिलाकर हम २१,६०० बार श्वास ग्रहण करते हैं। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक रूप से जिस मन्त्र का जप चलता है, उसे हंस मन्त्र या अजपा मन्त्र कहते हैं। प्राणों की रक्षा करने वाली शक्ति का नाम गायत्री है—**गयान् प्राणान् त्रायते इति गायत्री**। इस साधना से प्राण शक्ति की रक्षा होती है। अतः इसे अजपा गायत्री कहते हैं।

५. अजपा जप— द्र०- अजपा गायत्री।

६. अजपा मन्त्र— द्र०- अजपा गायत्री।

७. अजर— अध्यात्म सम्बन्धी प्रकरणों में प्रायः 'अजर' शब्द का प्रयोग होता है। अजर का शाब्दिक अर्थ है— 'नास्ति जराऽस्या' अर्थात् जिसकी वृद्धावस्था न हो। देवों को भी 'अजर' कहा जाता है; क्योंकि वे भी कभी वृद्ध नहीं होते। कोश ग्रन्थों में उल्लेख है कि 'नास्ति जरा यस्य, देवे। तेषां घट्भावविकारमध्ये जायते उस्ति वर्धते इति तिसृणामेव दशानां सद्भावात् तदुत्तरवर्त्तिनीनां विपरिणमते अपक्षीयते नश्यतीति' तिसृणामभावादजरत्वम् (वाच०प०९०) ' अर्थात् जिसकी वृद्धावस्था न हो, जैसे देवता। उनमें छः भाव विकारों के बीच-जन्म, अस्तित्व तथा विकास इन तीन अवस्थाओं की स्थिति तथा परिवर्तन, क्षरण और नाश, इन तीन अवस्थाओं का अभाव होने से 'अजरता' सिद्ध होती है। आत्मा और परमात्मा के विशेषण रूप में भी 'अजर' शब्द का प्रयोग होता है; क्योंकि ये सभी अवस्थाओं (जन्म, शैशव, कैशोर्य, युवावस्था, जरावस्था और मृत्यु) से परे हैं। धृतकुमारी को भी अजरा कहते हैं; क्योंकि वह औषधि-वनस्पति कभी सूखती नहीं अर्थात् कभी वृद्ध नहीं होती।

८. अज्ञान-आवरण— नैयायिकों के अनुसार ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है— अज्ञानञ्च ज्ञानाभाव इति नैयायिकाः। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने पाँच प्रकार के अज्ञान का सृजन किया था, ये हैं—तम, मोह, महामोह, तमिस्त और अन्धतामिस्त-सृष्टिकाले ब्रह्मा प्रथमं पञ्च प्रकारमज्ञानं ससर्ज। यथा तमः, मोहः, महामोहः, तामिस्वं, अन्धतामिस्वं इति श्रीभागवतम् (श०क० खं०१ प०९० २३)। ज्ञान के विरोधी भाव को अज्ञान कहते हैं, ऐसा वेदान्त का मत है। सत् और असत् के वास्तविक रूप को जानने के लिए त्रिगुणात्मक भावरूप ज्ञान आवश्यक है और जो इसमें अवरोध उत्पन्न करे, वही अज्ञान है। कई स्थलों पर 'अज्ञान' के साथ 'आवरण' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि अज्ञान वस्तुस्थिति पर आवरण के समान होता है, जो मूल स्थिति से अवगत नहीं होने देता, इसी से जीव मोहित होते देखे जाते हैं। गीता (५.१५) में उल्लेख है— 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुहूर्निं जन्तवः'। वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं— १. आवरण २. विक्षेप। अज्ञान अपनी प्रथम शक्ति-आवरण से रज्जु के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझने देता और अपनी द्वितीय शक्ति-विक्षेप से उसमें 'सर्प' होने की नवीन कल्पना उत्पन्न कर देता है। आवरण शक्ति के विषय में श्री नृसिंह सरस्वती ने लिखा है कि जो सच्चिदानन्द स्वरूप को आवृत कर लेती है, वह आवरण शक्ति है— सच्चिदानन्द-स्वरूपमावृणोत्यावरणशक्तिः (व० सा० सु०प०९० १३)।

९. अद्वयानन्द—ब्रह्म और जीव तथा आत्मा और जगत् को एक ही मानने वाली विचारधारा को अद्वैतवाद कहते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं; पर आचार्य शंकर ने इन्हें एक ही माना है। वेदों और उपनिषदों में भी यही प्रतिपादन है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सर्व खल्विदं ब्रह्मा' (छान्दो० ३.१४.१); नेह नानास्ति किंचन (बृह०ठ० ४.४.१९)। ऋग्वेद में उल्लेख है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ० १.१६४.४६)। द्वित्व का भेद जहाँ नहीं है, उस भाव की अनुभूति का नाम ही अद्वयानन्द है। कोश ग्रन्थों में उल्लेख है—नास्ति द्वयं द्वित्वं भेदः तज्जानं वा यस्य यत्र वा तादृश आनन्दः (वाच० प० ११९)। ब्रह्मरूप आनन्द ही अद्वयानन्द है—ब्रह्मरूपानन्दे अद्वैतानन्दे। अर्थात् अद्वयानन्दमतीतद्वैतभानत इति वे० सा० (वाच०प० ११९)। हिन्दी विश्वकोश में उल्लेख है कि अद्वय से उत्पन्न आनन्द या ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न आनन्द या आत्मबोध से उत्पन्न आनन्द ही अद्वयानन्द है—अद्वयात् लब्धः आनन्दः। ब्रह्मानन्द, ब्रह्मज्ञानोदित आनन्द (हिंवि० को० खं०१ प०३४३)। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान या आत्मबोध से उत्पन्न आनन्द को आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द या परमानन्द कहते हैं। सतत स्थिर रहने के कारण इस आनन्द को अखण्डानन्द-सदानन्द भी

कहते हैं—अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः । बहिरन्तः सदानन्द रसास्वादनमात्मनि (अध्यात्मो० २७) ।

१०. अद्वैत— द्र०-ज्ञान खण्ड ।

११. **अध्यारोप-अपवाद**— अध्यारोप और अपवाद न्याय का उल्लेख वेदान्त दर्शन में मिलता है। जिसके माध्यम से ब्रह्म-जीव का ऐक्य प्रतिपादित किया जाता है, उस प्रणाली को अध्यारोप कहते हैं। दूसरे शब्दों में अवस्तु में वस्तु का आरोप अध्यारोप है। जैसे रजु (रस्सी) में सर्प का आरोप, सर्प रूप अवस्तु (जो वहाँ उपस्थित नहीं है) का रजु रूप-वस्तु (जो वहाँ उपस्थित है) में आरोप ही अध्यारोप है; उसी प्रकार ब्रह्म रूप वस्तु में जगत् रूप अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। वेदान्त विमर्श प० १०३ में यह तथ्य इस प्रकार निर्दिष्ट है—“असर्पभूतायां रजौ सर्परोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः । वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म । अज्ञानादि सकलजड समूहोऽवस्तु ।” इस अध्यारोप को ही आचार्य शंकर ने अध्यास कहा है— अध्यासो नाम अतस्मिस्तद्बुद्धिरिति (ब्र० स० शां०भा० १.१.१) ।

इसी प्रकार विपर्यय या विपर्यास (वस्तु के विपरीत प्रतीति), भ्रम आदि शब्द भी अध्यारोप के ही पर्यायवाची हैं। अध्यारोप (मिथ्या-प्रतीति) का निराकरण अपवाद द्वारा होता है। अपवाद की व्युत्पत्ति अप उपसर्ग पूर्वक वद् धातु से घब्र प्रत्यय से मानी गयी है, जिसका अर्थ निषेध या निराकरण है। अध्यारोप के कारण वस्तु में अवस्तु का आरोप हो जाने से-रजु में सर्प के आरोप से वह सर्प ही प्रतीत होती है; पर जब प्रकाश के माध्यम से यह सिद्ध हो जाये कि यह सर्प नहीं रजु ही है, तो यह प्रक्रिया (निराकरण प्रक्रिया) अपवाद कहलायेगी। वे०सा० में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है—अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्वाद् वस्तु विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम् (वे०सा० खण्ड २१) अर्थात् अध्यारोप के कारण रस्सी सर्पभास (सर्प होने का आभास) रज्जु का विवर्त [रज्जु का अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए, अन्यरूप (सर्प के रूप में) भासित होना] होने से रज्जु मात्र ही हो जाती है अर्थात् सर्प की अधिष्ठान (आधार) रूप रज्जु को अपने मूल रूप में पहचान लेना ही अपवाद है। इसी प्रकार वस्तुरूप ब्रह्म में अध्यारोपित अवस्तु जड़ जगत् को वस्तुतः ब्रह्म ही जान लेना अपवाद है। पैङ्गलोपनिषद् में भी अध्यारोप और अपवाद द्वारा स्वरूप का निश्चय करने के तथ्य की पुष्टि की गई है—.....अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते (पैङ्गलो० २.१.८) ।

१२. **अध्यास—द्र०-अध्यारोप-अपवाद** ।

१३. **अध्वर्यु—** आर्ष ग्रन्थों में यज्ञ सम्पन्न कराने वाले ऋत्विजों (ब्राह्मणों) के अन्तर्गत ‘अध्वर्यु’ नामक ऋत्विज् का भी उल्लेख मिलता है। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इनकी (ऋत्विजों की) संख्या प्रायः सोलह (ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्रीध, पोता, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य, होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता) बतायी गई है; पर प्रमुखतः इनकी संख्या सात ही है। ऋग्वेद में इनका वर्णन इन शब्दों में मिलता है—तवाग्रे होत्रं तत्पोत्रमृत्वियं तत्प नेष्टं त्वमग्निदृतायतः । तत्प प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे (ऋ० २.१.२) । ये ऋत्विज् होता, पोता, नेष्टा, आग्रीध, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्म हैं। इनमें होता का कार्य ऋचाओं का गान करना तथा अध्वर्यु का कार्य प्रार्थना, निर्दृष्टिनाशक मन्त्रोच्चारण तथा यज्ञ के व्यावहारिक कार्य करना है। वाचस्पत्यम् के अनुसार अध्वर्यु का प्रमुख कार्य यजुर्वेदज्ञ होकर यज्ञ की विधि-व्यवस्था बनाना तथा होता को प्रोत्साहित करना है—अध्वरमिच्छति। यजुर्वेदज्ञे होमकारिणि ऋत्विजि । ‘निर्मिमीते क्रिया संधैरथर्वर्युर्विज्ञियं वपुं’ रिति सां०भा० ।होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीति.....सि०कौ० (वाच०प०१४२) ।

१४. **अनन्त— द्र०- ज्ञानखण्ड ।**

१५. **अनाहत नाद—** अनाहत शब्द दो पदों से मिल कर बना है। अन्+आहत अर्थात् जो शब्द बिना आघात या धक्का के अपने आप उत्पन्न हुआ हो। योगीजन इस नाद को दोनों कानों में अँगुली लगाकर सुनते हैं। ओंकार ध्वनि या सोऽहम् ध्वनि अनाहत या अनहद नाद कहलाती है। तत्र शास्त्र में वर्णन मिलता है कि हृदय स्थित सुषुमा के मध्य में द्वादशदल कमल में स्थित शब्द ब्रह्मय है, जो अनाहत है—तत्रशास्त्रे प्रसिद्धे हृदयस्थिते सुषुमामध्यस्थे द्वादशदलपदमे शब्दो ब्रह्मयः, शब्दोऽनाहतो यत्र दृश्यते अनाहताख्यं तत् पदम् मुनिभिः परिकीर्तिं-मित्युक्तलक्षणे (वाच०प० १६१) । ब्रह्मयः, शब्दोऽनाहतो यत्र दृश्यते अनाहताख्यं तत् पदम् मुनिभिः परिकीर्तिं-मित्युक्तलक्षणे (वाच०प० १६१) । शास्त्रों में उल्लेख है कि हठयोग में कुण्डलिनी को जाग्रत् किया जाता है। वह जब जाग्रत् होने की स्थिति में ऊर्ध्वमुखी होती है, उस समय बिना किसी आघात के जो विस्फोट होता है, वही अनाहत नाद है। इसका अनुभव किसी को शंख

ध्वनि की तरह, किसी को भ्रमरगुञ्जन और किसी को सोऽहम् नाद तथा किसी को ॐकार ध्वनि की तरह होता है।

- १६. अनियामकत्व—** उपनिषदों में कई स्थानों पर 'अनियामकत्व' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो 'नियामक' शब्द से बना है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है- नि+यम-णिच्-एवल्, नियमकारके नियामकत्वम् अदृष्टकालादे: "कारणस्य कार्यं प्रति नियामकत्वम्" अर्थात् कारण का नियमन, नियन्त्रण करने वाला। हिन्दी विश्वकोश में भी इसका अर्थ नियम करने वाला, नियम या कायदा बाँधने वाला, व्यवस्था करने वाला आदि दिया है। इसी नियामक शब्द में अभावार्थक 'अ' उपसर्ग जोड़ने से भाववाचक संज्ञा में 'अनियामकत्व' शब्द बनता है, जो किसी को वश में-नियन्त्रण में न रखने वाले गुण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निर्वाण उपनिषद् में परमहंस की स्थिति का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है- 'अनियामकत्वं निर्मल शक्तिः' अर्थात् अनियामकत्व ही उनकी (परमहंसों की) निर्मल शक्ति होती है। ईश्वर के द्वारा सभी जीव नियन्त्रित हैं; क्योंकि वह उनका नियामक है- ईश्वरेण स्वस्वकार्ये नियम्यत इति नियम्यं जीवजातम्। तदन्तर्यामिनियामकः ईश्वरः (निर्वाणो० ५२ टीका)। परमहंस लोग मायातीत हो जाने के कारण तथा सर्वसाक्षित्व के कारण अनियामकत्व गुण से ओत-प्रोत होते हैं अर्थात् वे न किसी के द्वारा नियन्त्रित होते हैं और न ही वे किसी को अपने वश में करते हैं, वरन् साक्षीभाव से युक्त रहते हैं-तयोः मायिकत्वेन तदतीतत्वं अनियामकत्वं सर्वसाक्षित्वम् (निर्वाणो० ५२ टीका)।

- १७. अनुपवीत —** भारतीय संस्कृति में द्विज को यज्ञोपवीतधारी होना आवश्यक माना जाता है। जिसका दूसरा जन्म हुआ हो, वह द्विज कहलाता है- द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति द्विजः अर्थात् जिसने वर्तमान ढर्णे के जीवन को छोड़कर आदर्शवादिता के क्षेत्र में प्रवेश करके नया जन्म धारण किया हो, वह द्विज कहलाता है और उसका प्रतीक होता है, यज्ञ का उपवीत (धागा) यज्ञोपवीत। यज्ञोपवीतधारी होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति जो यज्ञीय जीवन (त्यागमयजीवन) जीता हुआ, अपने को पवित्र बनाता हुआ, परमार्थ परायणता के पथ पर अग्रसर होता है। अपने धर्म का पालन न करता हुआ, जो यज्ञोपवीत भी धारण नहीं करता, वह अनुपवीत कहलाता है। प्राचीन काल में वर्णश्रिम धर्मानुसार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार था। ये यदि यज्ञोपवीत धारण नहीं करते थे, तो इन्हें अनुपवीत कहा जाता था। उपवीतधारी को यज्ञीय जीवन जीने के साथ ही गायत्री उपासक होना आवश्यक है; क्योंकि यज्ञोपवीत वस्तुतः गायत्री की ही मूर्तिमान् प्रतिमा है। गायत्री-मन्त्र के नौ शब्द यज्ञोपवीत के नौ धागे तथा एक प्रणव व तीन व्याहतियाँ उसकी चार ग्रन्थियाँ हैं। उपवीत रूप में गायत्री की प्रतिमा को धारण न करने वाला ही अनुपवीत है। अथर्वशिर उपनिषद् में उल्लेख है कि इस उपनिषद् का पाठ करने वाला श्रोत्रिय न हो, तो श्रोत्रिय और अनुपवीत हो, तो उपवीत वाला हो जाता है- य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति, अनुपनीत उपनीतो भवति(अथर्वशिर० ७)।

- १८. अनुष्टुप्—** महर्षि कात्यायन ने सर्वानुक्रमणिका में सात वैदिक छन्दों का उल्लेख किया है- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। जिसमें अनुष्टुप् भी एक छन्द है। इसमें आठ-आठ अक्षर के चार पाद होते हैं। वैदिक काल में अनुष्टुप् छन्द का नाम मिलता है- "अनुष्टुभा सोम उक्थैः" (ऋ० १०.१३०.४)। अनुष्टुप् छन्द सरल और मधुर होने से श्रोक रचना में सहज पड़ता है। श्रुतबोध में अनुष्टुप् छन्द का लक्षण बताते हुए लिखा है- पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थ्योः। षष्ठं गुरु विजानीयादित्यनुष्टुभ लक्षणम् (श्रुतबोध) अर्थात् सभी पादों का पञ्चम वर्ण एवं द्वितीय-चतुर्थ पाद का सप्तम वर्ण लघु और षष्ठ वर्ण गुरु रहने से अनुष्टुप् छन्द कहलाता है। किसी-किसी स्थल में पञ्चम वर्ण भी गुरु रहता है। यथा- "तिथ्यादितत्वं तत् प्रीत्यै" (स्मार्त)। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है कि अनुष्टुप् छन्द से स्वर्ग प्राप्ति की कामना पूर्ण होती है- अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीतः। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि एकविंशस्तोम, अथर्ववेद, आसोर्याम नामक याग, अनुष्टुप् छन्द और वैराजसाम ब्रह्मा के उत्तर मुख से उत्पन्न हुआ था- "एकविंशमथर्वणमासोर्यामामेव च। अनुष्टुभं स वैराजम् उत्तरादसृजन् मुखात्" (विंपु० १.५.४५)। इसी प्रकार जगती छन्द में चार चरण होते हैं, जिनमें प्रत्येक में बारह-बारह वर्ण होते हैं। त्रिष्टुप् छन्द में भी चार चरण होते हैं, जिनमें प्रत्येक में ग्यारह-ग्यारह वर्ण (अक्षर) होते हैं।

- १९. अन्तर्यामी—** द्र०-ज्ञानखण्ड -अन्तर्यामी साक्षी।
२०. अन्तःकरण चतुष्टय— द्र० - ज्ञानखण्ड ।

- २१. अपरिग्रह — द्र०- यम।**
- २२. अपरिग्रही —** भारतीय योग दर्शन में यम-नियम के अन्तर्गत अपरिग्रह का बहुत महत्व है। योग दर्शन में यम के पाँच भेद निरूपित किये गये हैं— अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रह यमः अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अधिक संग्रह न करना)। ये यम कहलाते हैं। इसी प्रकार गायत्री उपासक-यज्ञोपवीतधारी को शास्त्र वर्णित जिन नौ गुणों से युक्त होना अनिवार्य है, उनमें भी अपरिग्रह महत्वपूर्ण गुण है— अहिंसा सत्यमस्तेयं तितिक्षा चापरिग्रहः। आस्तिक्यं संयमं शान्तिः शुचिश्च नवसंख्यकाः। जो साधक आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है, वह परिग्रही तथा जो ऐसा नहीं करता वह अपरिग्रही कहलाता है। जैन धर्म के अनुसार मोह का परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार कर देना भी अपरिग्रह की त्रेणी में माना जाता है। महर्षि व्यास का कथन है कि विषयों में विविध दोष दर्शन कर, उन्हें ग्रहण न करना अपरिग्रह है— विषयाणामर्जनक्षण-क्षयसंगंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः (सां०यो०द०व्या०भा०)। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि अपरिग्रह स्थिर हो जाने पर साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है— अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता-सम्बोधः (यो०द० २.३९)। समाज में अपरिग्रह धर्म का पालन करना सभी के लिए आवश्यक है। इस व्रत का समुचित रूप से पालन न होने से समाज में असमानता दिखाई देती है। यदि समाज के व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक धन-साधन अपने पास न रखें (अपरिग्रही बनें), तो उससे अनेक अभावग्रस्तों की पूर्ति हो सकती है और सम्पूर्ण समाज सुखी-समुन्नत बन सकता है।
- २३. अपान —** पाँचों प्राणों में से यह एक है। वेदान्तसार के अनुसार ये प्राणादिवायु निम्नलिखित हैं— प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान- वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः (वे०सा०, खण्ड १३)। ऊर्ध्वगमनशील नासाग्रवर्ती वायु को प्राण कहा जाता है। अपान मलादि का निःसरण करके जीवन प्रदान करता है, जैसा कि हलायुध कोश में कहा गया है— 'अपानयति मलादिनिःसारणेन जीवयति।' अपान वायु की अवस्थिति गुदा और उपस्थ में होती है। नाभि से नीचे की ओर जाना इसका स्वभाव है। अतः इसे अधोगमनशील कहा गया है। योग दर्शन के अनुसार मूत्र, पुरीष (मल), गर्भादि के बहिर्निःसरण की प्रक्रिया जिसके द्वारा सम्पन्न होती है, उसे अपान कहा जाता है (यो०स० ३.३९)। योगी लोग मलद्वारा से जल को ऊपर खींचकर आँतों का शोधन कर लेते हैं, इसी से इसका नाम अपान है। इस प्रक्रिया के लिए आधुनिक योगियों में श्री देवरहा बाबा विशेष ख्याति-सिद्ध थे।
- २४. अमनस्क स्थिति —** योग की विभिन्न स्थितियों में एक उन्मनी अवस्था या उन्मनी भाव का भी वर्णन मिलता है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि साधक जब ब्रह्म से एकाकार हो जाता है, तब उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है। उन्मनी अवस्था अर्थात् तत्त्वज्ञान पूर्ण स्थिति-उन्मनी नाम तत्त्वज्ञानम् (मं०ब्रा०उ० २.२.४ टीका)। उन्मनी अवस्था के द्वारा मनरहित स्थिति हो जाती है, जिसे अमनस्क स्थिति कहते हैं— उन्मन्या अमनस्कं भवति (मं०ब्रा०उ० २.२.४) अर्थात् मन संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है। मन का प्रमुख कार्य इच्छा करना, संकल्प-विकल्प करना है; किन्तु अमनस्क स्थिति में साधक इन से रहित हो जाता है। संस्कृत के प्रथात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में उल्लेख है— नास्ति कार्यक्षमं मनो यस्य।मनोवृत्तिहीने योगिनि च। सर्वथा मनःशून्य (वाच०प० ३१८)। इस अमनस्क स्थिति वाले साधक के लिए स्थूल पूजा-उपचार का कोई महत्व नहीं रहता, फिर तो निश्चिन्त (चिन्ता रहित) अवस्था ही उसका ध्यान है, सर्वकर्म निराकरण ही आवाहन है, निश्चयात्मक ज्ञान ही आसन है, उन्मनी भाव ही पाद्य है, अमनस्क स्थिति अर्घ्य है, सदैव दीसि और अमृतवृत्ति ही स्नान है, सबमें ब्रह्म भावना ही गन्ध है, दर्शन के स्वरूप में स्थित होना ही अक्षत है।मौन ही स्तुति है तथा सभी प्रकार से हर स्थिति में सन्तोष ही विसर्जन है— तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्सर्वसंतोषो विसर्जनमिति ... (मं०ब्रा०उ० २.२.५)। इस प्रकार ब्रह्म-अनुसन्धान करने वाला साधक ब्रह्मरूप ही हो जाता है।
- २५. अमरोली मुद्रा — द्र०-मुद्रा।**
- २६. अमानित्वगुण —** अनेक सद्गुणों में अमानित्व गुण का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इसे एक प्रकार से लज्जाशीलता का गुण भी कह सकते हैं। निरहंकारिता या दम्भ शून्यता भी अमानित्व है। वाचस्पत्यम् पृ० ३२१ में उल्लेख है— का गुण भी कह सकते हैं। निरहंकारिता या दम्भ शून्यता भी अमानित्व है। वाचस्पत्यम् पृ० ३२१ में उल्लेख है— अभिमानशून्ये “अमानित्वमदभित्वम्” गीता। निरहंकारी या अमानित्व गुण सम्पन्न व्यक्ति सबके हृदय में अपना

स्थान बना लेता है तथा कठोर से कठोर व्यक्ति से वह अपना कार्य अपनी विनम्रता द्वारा सम्पन्न करा लेता है। इस गुण का कोई मूल्य नहीं; किन्तु इससे सब कुछ क्रय किया जा सकता है। यह संत वचन है कि शालीनता बिना मोल मिलती है; किन्तु उससे सब कुछ खरीदा जा सकता है। सामान्य स्थिति में जहाँ अपनी थोड़ी सी निन्दा सुनकर व्यक्ति उत्तेजित हो जाते हैं, वहीं अमानित्व सम्पन्न व्यक्ति उसे (निन्दक को) अपनी साधना में सहायक मानते हुए उसका उपकार मानते हैं। एक सूफी संत ने लिखा है— 'निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय, बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय।' संन्यासी व्यक्ति को मान-अपमान से अलग रहना चाहिए। नारद परिव्राजकोपनिषद् के अनुसार दूसरों के द्वारा प्राप्त आदर साधक के तप-उपार्जन में बाधक है एवं दूसरों के द्वारा किया गया अपमान उसके तप-उपार्जन में सहायक है। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए संन्यासी के गुणों के सन्दर्भ में उपनिषद्कार ने लिखा है— न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षड्गर्भिंवर्जितः, निन्दाहंकारमत्सरग-वर्दध्येष्या.... निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेत् (ना०परि० ३.९०)।

२७. अवधारणा— अवधारणा शब्द का उपयोग प्रायः किसी विषय में मन में उत्पन्न कल्पना, धारणा या विचार के उदय होने, बनने या स्थिर होने के सन्दर्भ में किया जाता है। कुछ कोश ग्रन्थों में इसका अर्थ किसी तथ्य के सम्बन्ध में निश्चय, पुष्टिकरण, (विषय की) सीमा निश्चित करना आदि किया गया है। संस्कृत हिन्दी कोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है— अवधारणा-अव+धृ+णिद्व+त्युट्, जिसके उपर्युक्त कई अर्थ बताये गये हैं। उपनिषदों में अन्तःकरण चतुष्टय के नियमों के सन्दर्भ में अवधारणा का उल्लेख हुआ है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत आते हैं। शारीरकोपनिषद् में सङ्कल्प-विकल्प को मन का विषय, अध्यवसाय (निश्चित होने की प्रक्रिया) को बुद्धि का विषय, अभिमान को अहंकार का विषय तथा अवधारणा (किसी विषय का तथ्य निश्चित हो जाने) को चित्त का विषय कहा गया है—मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तःकरणचतुष्टयम्। तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्चैते विषयाः (शारीरको० ४)। इसी उपनिषद् में मन का स्थान गलान्त (गले का अन्तिम भाग), बुद्धि का स्थान मुख, अहंकार का हृदय तथा चित्त का स्थान नाभि कहा गया है— मनः स्थानं गलान्तं बुद्धेवद-नमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति (शारीरको० ४)।

२८. अवधूत— सनातन धर्म के अनुसार चार आश्रम माने जाते हैं, जिनमें जीवनावधि को चार भागों में विभक्त कर दिया गया है। ये हैं— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें अन्तिम आश्रम संन्यास है। इसे प्रब्रज्या आश्रम भी कहते हैं, क्योंकि इसमें परिव्राजक (संन्यासी) लोकमंगल और आत्म कल्याण के निमित्त निरन्तर परि+व्रज्या (परिभ्रमण) करता रहता है। संन्यासी व्यक्ति उसे कहते हैं, जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके संसार के समस्त आकर्षणों का परित्याग कर दिया हो, साथ ही वह एक मात्र मोक्ष के उपाय में लगा हो। संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने वाले के लिए पञ्चमात्राएँ धारण करने का निर्देश दिया गया है— अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपयतिं पञ्चमात्रां दधानः (शाद्यायनी० ६)। त्रिदण्ड, उपवीत, वस्त्र-कौपीन (उत्तरीय-लँगोटी), शिक्य (छोंका) और पवित्री ये ही स्थितिभेद से संन्यासियों के लिए निर्धारित पञ्चमात्राएँ कहलाती हैं। इन्हें स्थिति के अनुरूप यथा-शास्त्र-निर्देश यति को आजीवन धारण करना चाहिए-त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम्। शिक्यं पवित्रमित्येतद्विभृयाद्यावदायुषम् (शाद्यायनी० ७)। यति की इन पंचमात्राओं को ब्रह्म (ॐकार) में समाहित माना गया है— पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः (शाद्यायनी० ८)।

संन्यासोपनिषद् में संन्यासियों के छः प्रकार वर्णित हैं— कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत-संन्यासः षट्दिवधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीतावधूताश्रेति (संन्यासो० २.२३)। अवधूत संन्यास की सर्वोच्च श्रेणी है। अवधूतोपनिषद् के मन्त्र २ में अवधूत को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है— अक्षरत्वाद्वैरेण्यत्वाद्वृत्तसंसारबन्धनात्। तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते अर्थात् जो अक्षर (अविनाशी), वरेण्य (श्रेष्ठ) तथा संसार के बन्धन से मुक्त हो गया हो, साथ ही तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के लक्ष्य का अर्थरूप हो उसे अवधूत कहते हैं। इसी प्रकार संन्यासोपनिषद् में अवधूत की स्थिति का विवेचन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि अवधूत अनियम वाला होता है (अर्थात् उसके लिए जप, यज्ञादि का कोई नियम अनिवार्य नहीं है)। वह पतित और निन्दित व्यक्ति के अतिरिक्त सभी वर्णों में अजगर वृत्ति (जो कुछ अपने आप प्राप्त हो जाए) से भोजन ग्रहण करता है। अवधूत सतत आत्मानुसंधान में निरत रहता हुआ पर्वत, वृक्ष, घास, तृणादि जड़ पदार्थों से अपने को पृथक् मानता है कि

मैं तो चेतन तत्त्व हूँ तथा काल से कवलित और शीघ्र नष्ट होने वाला नहीं हूँ—अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णोष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः । नाहमचेतनः (संन्यासो० २.२९-३०) । संन्यासी के अन्य भेद इस प्रकार हैं—

- (क) कुटीचक- कुटीचक (जिसे कुटीचर भी कहते हैं) शिखा और यज्ञोपवीतधारी होता है, जो दण्ड, कमण्डल, लँगोटी, चादर और कन्था (गुदड़ी) धारण करता है। वह माता-पिता और गुरु की आराधना में तन्मय रहते हुए पिठर (बटलोई), खनित्र (फावड़ा) और शिक्य (छोंका) धारण करके मन्त्र साधन परायण रहकर एक ही स्थान पर अन्तर्ग्रहण करने वाला, श्वेत और ऊर्ध्वमुखी त्रिपुण्ड्र धारण करने वाला तथा तीन दण्ड रखने वाला होता है—**कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः** (संन्यासो० २.२४) ।
- (ख) बहूदक- बहूदक शिखा आदि तथा कन्था, त्रिपुण्ड्रधारी होकर सब प्रकार कुटीचक के समान आचरण वाला होता है तथा मधुकरी वृत्ति से केवल अष्टग्रास भोजनग्राही होता है—**बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी** (संन्यासो० २.२५) ।
- (ग) हंस— हंस का रूप इस प्रकार विवेचित है— हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यसंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी (संन्यासो० २.२६) अर्थात् हंस प्रवृत्ति वाला संन्यासी जटाधारण करने वाला त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला, अनिश्चित स्थान पर भिक्षाटन करके भोजन ग्रहण करने वाला और शरीर पर मात्र कौपीन धारण करने वाला होता है।
- (घ) परमहंस— परमहंस की वृत्ति बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है— परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोदधूलनपरः सर्वत्यागी (संन्यासो० २.२७) अर्थात् परमहंस वृत्तिवाला संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत धारण न करके करपात्री होकर मात्र पाँच घरों से ही भिक्षा ग्रहण करता है, जो मात्र एक कौपीन, एक चादर और एक दण्ड धारण करने वाला होता है अथवा शरीर पर केवल भस्म लगाकर मात्र चादर धारण करता है, इसके अतिरिक्त सर्वत्यागी होता है। परमहंस को ही भिक्षु कहते हैं। सामान्यतः भिक्षु शब्द से तात्पर्य भिक्षा माँगने वाला प्रतीत होता है; पर इस वृत्ति की निन्दा करते हुए परमहंसोपनिषद् में लिखा है कि जो काष्ठ दण्ड धारण करके सब आशाओं से युक्त है तथा ज्ञान, क्षमा, वैराग्य आदि गुणों से शून्य होकर मात्र भिक्षावृत्ति से ही जीवनयापन करता है, वह पापी यतिवृत्ति का विनाशक है और रौरव नामक नरक में जाता है। सच्चा भिक्षु वह है, जो आशाम्बर है तथा नमस्कार, स्वाहा, स्वधा से रहित, स्वर्ण आदि का संग्रह न करके, राग-द्वेष से रहित होकर अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित रहता है— आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो..... स भिक्षुसौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं आत्मन्येवावस्थीयते (परमहंसो० ४) ।

- (ङ) तुरीयातीत— तुरीयातीत को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है— तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेदगृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीवृत्तिकः (संन्यासो० २.२८) अर्थात् तुरीयातीत संन्यासी गोमुखवृत्ति से केवल तीन घरों से फल अथवा अन्नाहार ग्रहण करता है। वह भोजन देह धारण करने मात्र के लिए ही ग्रहण करता है तथा यह मानता है कि मैं तो चेतन आत्मा हूँ, शरीर तो मृतक के समान है।

इस प्रकार संन्यासियों की छः श्रेणियाँ हैं, जो स्वरूप भेद से अलग-अलग नाम वाली हैं। इनके अतिरिक्त संन्यासोपनिषद् ने संन्यासियों की चार अन्य श्रेणियों का भी उल्लेख किया है। ये हैं—वैराग्य संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी, ज्ञान वैराग्य संन्यासी और कर्म संन्यासी। इनमें वैराग्य संन्यासी वह है, जो दृश्य- श्रव्य विषयों के प्रति निःस्पृह है और पूर्वार्जित पुण्यों के फलस्वरूप वैराग्य होने के कारण जिसने संन्यास धर्म ग्रहण किया है— तद्यथेति। दृष्टानुश्रविक वैराग्य संन्यासी (संन्यासो० २.१९) । ज्ञान संन्यासी वह है, जो शास्त्रज्ञान पाकर, सांसारिक सदृगुणों एवं दुर्गुणों का अनुभव संन्यासी (संन्यासो० २.२०) । ज्ञान वैराग्य संन्यासी उसे कहा गया है, जो क्रमशः सभी का अभ्यास करके, समस्त अनुभव प्राप्त करके, ज्ञान और वैराग्य के तत्त्व को भलीभांति समझकर, देह मात्र को अवशिष्ट मानकर संन्यासधर्म ग्रहण करता है— क्रमेण सर्वमध्यस्य ज्ञानवैराग्य संन्यासी (संन्यासो० २.२१) । इसी उत्तर कर्म संन्यासी वह है, जो ब्रह्मचर्य,

गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रमों में विधिवत् रहने के पश्चात् भी वैराग्य उत्पन्न न होने पर नियमानुसार संन्यास ग्रहण करता है- ब्रह्मचर्य समाप्य गृही भूत्वा स कर्मसंन्यासी (संन्यासो० २.२२)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संन्यास के पूर्वोक्त छः भेद इसी कर्म संन्यास के भेद कहे गये हैं।

२९. अविद्या — द्र० - ज्ञानखण्ड।

३०. **अविमुक्त** — अविमुक्त का शाब्दिक अर्थ है, जो मुक्त न हो अर्थात् मुक्ति लाभ न कर सके। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार कनफटी को 'अविमुक्त' कहते हैं। जाबाल उपनिषद् (१.१) के अनुसार यह ब्रह्म का स्थान है। मूर्ढा (ब्रह्मरन्ध्र) और चिबुक (दाढ़ी) का मध्यवर्ती स्थान भी अविमुक्त कहलाता है। अन्यत्र उल्लेख पाया जाता है कि भौंहों एवं प्राण का मध्य स्थान अविमुक्त क्षेत्र है-अविमुक्तं नामवक्ष्यमाण आत्मविदां काशीनगरस्थानीयो भ्रुवोद्ग्राणस्य च सथिः (जाबालो०-अद्यार माइनर उपनिषद् पृ० ४०१)। काशी क्षेत्र भी अविमुक्त कहा जाता है। स्कन्दपुराण के काशी खण्ड में लिखा है- “न विमुक्तं शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः” अर्थात् शिव और शिवा के परित्याग न करने से काशी को अविमुक्त क्षेत्र कहते हैं। कुछ लोग काशी के निकट गंगाटट से पाँच कोश दूर स्थान को भी अविमुक्त क्षेत्र कहते हैं।

३१. **अष्टग्रह**— ग्रह के सन्दर्भ में सामान्य अवधारणा नवग्रहों की है, जिन्हें सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नाम से जाना जाता है। बाद में हुई खोजों के अनुसार नेष्यून, प्लूटो और यूरेनस ग्रहों को भी सम्मिलित कर लेने पर यह संख्या बारह मानी जाने लगी है, किन्तु आध्यात्मिक सन्दर्भ में कुछ उपनिषदों में ग्रह शब्द का अर्थ व संख्या इस अवधारणा से भिन्न है, जैसे—अर्थर्वशिर उपनिषद् में भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए देवों द्वारा उन्हें अष्टग्रह रूप कहा गया है—यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमो नमः (अर्थर्वशिर० ४)। बृहदारण्यक उपनिषद् में अष्टग्रह और अष्ट अतिग्रहों का संकेत इन शब्दों में उपन्यस्त है— इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इतिकतमे त इति (बृह० ३० ३.२.१)। ये अष्टग्रह प्राण, वाक्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा नाम से वर्णित हैं। इसी प्रकार इन ग्रहों (पंच ज्ञान इन्द्रियों, एक कर्मेन्द्रिय तथा मन, प्राण) के विषयों को अतिग्रह कहा गया है। जैसे प्राण ग्रह का अतिग्रह अपान है और अपान अतिग्रह द्वारा वह गृहीत है, इससे ही प्राण ग्रह गन्धों को सूँघने का कार्य सम्पन्न करता है—प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाज्जिग्रहति (बृह० ३० ३.२.३)। इसी प्रकार वाक् शक्ति ग्रह है, नाम रूपी अतिग्रह से वह गृहीत है, इसीलिए वाणी से उच्चारण सम्पन्न हो पाता है— वावै ग्रहः स नामातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति (बृह० ३० ३.२.३)। इसी प्रकार जिह्वा को ग्रह, रस को उसका अतिग्रह; श्रोत्र को ग्रह, शब्द को उसका अतिग्रह; मन को ग्रह, कामना को उसका अतिग्रह; हाथों को ग्रह, कर्म को उसका अतिग्रह तथा त्वचा को ग्रह और स्पर्श को उसका अतिग्रह निरूपित करके इन ग्रहों की सक्रियता अतिग्रहों के माध्यम से ही बताई गई है।

३२. **अष्टदलकमल**— उपनिषदों में शारीरगत चक्रों का आलंकारिक वर्णन है। जैसे-कुण्डलिनी को सर्पिणी, सहस्रार चक्र के स्थल को क्षीर सागर, इसी प्रकार अनाहत चक्र को अष्टदल कमल अथवा हृदय कमल भी कहते हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में अष्टदलकमल इन शब्दों में परिभाषित है- अष्टौ दलानि यस्य। अष्टपत्रकमले अर्थात् जिसमें आठ दल या पत्ते हों ऐसा कमल। अष्टदलकमल हृदय कमल को कहा जाता है। इसी को ब्रह्मपुर की संज्ञा भी प्रदान की गई है। इसका स्थान हृदय के पास है। क्षुरिकोपनिषद्कार ने प्रत्याहार प्रकरण में हृदय स्थित रक्तोत्पल (लाल कमल) जैसे प्रतीत होने वाले को 'दहर पुण्डरीक' कहा है, वेदान्त में भी इसे दहर पुण्डरीक ही कहा गया है- ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्। दहरं पुण्डरीकं तत् वेदान्तेषु निगद्यते (क्षुरिको० १०)। इसे ही अनाहत चक्र भी कहा जाता है। इसकी साधना करने से यह (अनाहत चक्र) जग्रत् हो जाता है। इसका लक्षण इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त हो जाना है। इससे वाक्पतित्व, कवित्वशक्ति भी प्राप्त होती है। शिवसार तन्त्र में कहा गया है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदाशिव है और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थान में अभिव्यक्त होता है, यथा-शब्दं ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाददेवः सदाशिवः। अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते ॥

३३. **अष्टाङ्ग योग**— चित्तवृत्ति के निरोध के लिए की जाने वाली योग क्रिया के आठ उपाय या अंग माने जाते हैं। इनमें से पाँच बहिरंग कहलाते हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। तीन अन्तर्रंग कहलाते हैं- धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हीं को अष्टांग योग कहते हैं। पातञ्जल योग में मन और इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकने को यम कहा जाता है। यम के पाँच भेद हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वेदान्तसार में नियम की विवेचना

करते हुए लिखा है, जो साधक को जन्म के हेतुभूत काम्य धर्मों से निवर्तित कर मोक्ष के हेतुभूत निष्काम धर्म में बाँध देते हैं, उन्हें नियम कहा जाता है। नियम पाँच प्रकार के हैं- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार शरीर जिस स्थिति में स्थिर एवं सुखपूर्वक रहे, उसे आसन कहा जाता है। जिसे आसन की सिद्धि हो जाती है, उसे शीतोष्णादि द्वन्द्व अभिभूत नहीं करते हैं। पातञ्जल योग प्रदीप के अनुसार प्राणों को वश में करने का नाम प्राणायाम है। प्राणों को अपने अधिकार में चलाने वाले मनुष्य का अधिकार अपने शरीर, इन्द्रियों तथा मन पर हो जाता है। प्राणायाम के मुख्यतः तीन भेद हैं- रेचक, पूरक और कुम्भक। प्रत्याहार में चित्तवृत्तियों को या इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त को हर स्थिति में शान्त रखा जाता है। अपने चिन्तन को अनात्म पदार्थों से हटाकर आत्मा में लगाये रहना प्रत्याहार है। चित्तवृत्तियों को चारों ओर से हटाकर एक स्थान या विषय में लगाना धारणा है। योग सूत्र के अनुसार चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है- 'देशबन्धश्वत्स्य धारणा' (यो०द० ३.१)। चित्त को चारों ओर से हटाकर किसी एक विषय पर सतत स्थिर करना ध्यान कहलाता है। उपनिषद् में कहा गया है- मन का विकारों से मुक्त होना ही ध्यान है- "ध्यानं निर्विघ्यं मनः" (मैत्रे० २.३)। योग के आठ अंगों में अन्तिम अंग समाधि है। ध्यान की पराकाष्ठा को समाधि कहा गया है। इसे योग का चरम फल भी कहते हैं। इसमें साधक अपने चित्त को बाह्य जगत् से मोड़कर आत्मा में स्थिर कर लेता है, ऐसी अवस्था में वह विविध शक्तियों को धारण करने में समर्थ हो जाता है और अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त होता है। समाधि के प्रायः दो भेदों का निरूपण किया जाता है- १. सविकल्पक समाधि और २. निर्विकल्पक समाधि।

३४. असूया— अध्यात्म के पथ पर अग्रसर होने वाले साधक के अन्दर अनेक प्रकार के विकार भी प्रायः उत्पन्न होते रहते हैं, जैसे- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इन पर विजय प्राप्त कर साधक जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्राप्त करता है। इसी प्रकार का एक दोष 'असूया' है। असूया का अर्थ किसी के गुणों में भी दोष देखने की प्रवृत्ति से है- असूया परगुणेषु दोषाविष्करणम् (वाच० पृ० ५५८)। अमरकोश भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है- असूया तु दोषारोपो गुणोच्चपि। यह किसी के प्रति क्रोध-द्रोह के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। काव्यकारों ने इसे एक प्रकार का संचारी भाव माना है। योग दर्शन में भनोगत कालुष्य के भेदों में असूया भी वर्णित है। उसके अनुसार अपने से श्रेष्ठ पुरुष के सदगुणों में भी दोषदर्शन-दोषारोपण करना 'असूया' कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार दूसरे के गुणों को सहन न करना (उनसे ईर्ष्या रखना) असूया कहलाता है- ईर्ष्याऽसूया.... (वात्स्या० ४.१.३)

३५. अस्तेय— द्र०-यम।

३६. अहंकार— द्र०-ज्ञानखण्ड-अन्तःकरण चतुष्टय।

३७. अहिंसा— द्र०-यम-नियम।

३८. आग्रेय— सामान्यतः आग्रेय शब्द का अर्थ अग्नि से सम्बन्धित है। यह शब्द विभिन्न शब्दों के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होता है। अग्नि में दो जाने वाली विशेष प्रकार की आहुति 'पुरोडाश' को भी आग्रेय कहा गया है- "आग्रेयः पुरोडाशो भवति" (वाच०प० ६२०)। अठारह पुराणों में अग्निपुराण को भी अग्नि से सम्बन्धित होने के कारण आग्रेय पुराण कहते हैं- "आग्रेयं वेदसम्मितम्।" इत्युक्ते अग्निप्रोक्ते महापुराणभेदे अग्निपुराणशब्दे विवृतिः (वाच०प० ६२०)। दक्षिण और पूर्व के मध्यवर्ती दिशा को भी आग्रेय दिशा कहते हैं; क्योंकि उसके देवता अग्नि होते हैं। स्वर्ण को भी आग्रेय कहते हैं; क्योंकि उसका आविर्भाव अग्नि के वीर्य से ही हुआ है। जैमिनीय उपनिषद् के अनुसार यह पृथिवी भी आग्रेय है; क्योंकि प्रारम्भ में यह अग्नि का गोला मात्र थी। बदलते-बदलते इस वर्तमान रूप में आ गई है।

३९. आग्रेय यज्ञ— द्र०-आग्रेयी इष्टि।

४०. आग्रेयी इष्टि— श्रौत सूत्रों में कामनाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न इष्टियों का विधान है। सामान्यतः इष्टि शब्द-कामना, कामना की गई वस्तु, दान संग्रह तथा यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता है; किन्तु श्रौत ग्रन्थों में इसे विशेष प्रयोजनों के लिए किया जाने वाला याग (यज्ञ) माना गया है। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श पृ० ४६८ में इष्टि इन शब्दों में परिभाषित है "आहिताग्नि (नियमित रूप से यज्ञ करने वाले) के द्वारा दर्श (अमावस्या) तथा पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाने वाला याग इष्टि है।" प्रयोजन भेद से इष्टियों के कई प्रकार हैं। जैसे- मित्रविन्देष्टि, आग्रेयी इष्टि, अधिक श्रीकामेष्टि, चित्रेष्टि, प्रजा कामेष्टि, प्राजापत्येष्टि, त्रैधातवी इष्टि, वैमृधीष्टि, अन्वारम्भणीय इष्टि तथा अन्त्येष्टि आदि। इष्टियाँ असंख्य हैं;

किन्तु स्थानाभाव से यहाँ कुछ प्रमुख इष्टियों की चर्चा की जा रही है। महर्षि कात्यायन के अनुसार किसी भी कामना की सिद्धि के लिए आग्रेयी इष्टि करनी चाहिए-आग्रेयं प्रतिकाममाहेरेत् (का० श्रौ० सू० ४.५.१५)। आग्रेयी इष्टि में अग्निदेव के निमित्त आठ कपाल [कपाल मिट्टी का एक पात्र होता है, जिसमें पुरोडाश (हव्य विशेष) पकाया जाता है] पुरोडाश पूर्वक याग सम्पन्न होता है। आग्रेयी इष्टि को ही आग्नेय यज्ञ भी कहते हैं। आग्रेयी इष्टि के अधिष्ठाता अग्निदेव होते हैं। जाबालोपनिषद् में आहिताग्नि संन्यास विधि प्रकरण में आग्रेयी इष्टि करके ही संन्यास लेने का विधान बताया गया है -..... तदु तथा न कुर्यात्। आग्रेयीमेव कुर्यात्। अग्निर्हि वै प्राणः' (जाबालो० ४.२) अर्थात् आहिताग्नि यदि संन्यास ले, तो उसे आग्रेयी इष्टि ही करनी चाहिए; क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस इष्टि से प्राण की वृद्धि होती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि संन्यास धारण करने के पूर्व द्विज (चाहे वह गृहस्थ हो या वनस्थ) को चाहिए कि वह सर्वस्व दक्षिणा देकर प्रजापति का यज्ञ (प्राजापत्य यज्ञ) करे अर्थात् इस इष्टि के अधिष्ठाता प्रजापति के लिए पुरोडाशपूर्वक आहुतियाँ समर्पित करके प्राजापत्य इष्टि करे तथा अग्नियों (ज्ञानाग्नि) को अपने आत्मा में स्थापित करे। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-बनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टि सर्ववेद सदक्षिणाम्। प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि (याज्ञ० स्मृ० ३.५६)। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् पृ० ४५०७ में प्राजापत्य इष्टि को सर्ववेद दक्षिणा कोटि की इष्टि विवेचित करते हुए ग्रन्थकार ने उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की है-“प्राजापत्यां निरुप्येष्टि सर्ववेद सदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रवर्जेद् गृहात्॥” पाठ भेद से यह श्रूक शंख स्मृति ७.१ में भी मिलता है। जाबालोपनिषद् में भी कुछ आचार्यों का मन्तव्य विवेचित है कि वे संन्यास धारण करते समय आग्रेयी इष्टि के स्थान पर प्राजापत्य इष्टि करते हैं-‘.....केचन आचार्यः प्रजापतिदेवताकां प्राजापत्यामेवेष्टि कुर्वन्ति (जाबालो० ४.२ टीका)।’ प्राजापत्य इष्टि के पुरोडाश के सम्बन्ध में कपाल संख्या का विवरण प्राप्त नहीं होता।

त्रैधातवी इष्टि काम्य इष्टि है, जिसका अनुष्ठान गवामयन सत्र (जिसका दूसरा नाम संवत्सर सत्र है), जो एक वर्ष तक होता है, के अन्त में किया जाता है। इसके प्रमुख देव इन्द्र और विष्णु हैं; क्योंकि वृत्र से युद्ध करके इन्होंने वीर्यरूप यजु, ऋक् और सामवेद प्राप्त किये थे। इन्हीं तीनों वेदों (त्रिधातु वाली विद्या) से क्रमशः इष्टि करते हैं, इसीलिए इसे त्रैधातवी इष्टि कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में इसका वर्णन इन शब्दों में मिलता है-तमनुपरामृश्य संलुप्याच्छिनत्यैषेष्टिरभवत्तदेतस्मिन्नाशये त्रिधातुरिवैषा विद्याऽशेत तस्मात्रैधातवी नाम (शत० ब्रा० ५.५.५.६)। जाबालोपनिषद् में भी त्रैधातवी इष्टि का उल्लेख मिलता है; किन्तु वहाँ इसे त्रैधातवी इसीलिए माना गया है कि इसमें प्रयुक्त अग्नि तीन रूप शुक्ल, रोहित (लोहित) और कृष्ण वर्ण वाली होती है, जो क्रमशः तीन धातुओं सत, रज और तम से युक्त होती है-.....ततस्त्रैधातवीयामेवेन्द्रदेवताकुर्यात्। तत्रोपपत्तिः। एत्यैवेष्ट्या त्रयो धातवो यदुताग्रेयं रूपत्रयं सत्त्वं शुक्लं रजो रोहितं तमः कृष्णम् (जाबालो० ४.२ टीका)। इस इष्टि में बारह कपाल हवि विशेष से (त्रैधातवी इष्टि के लिए चावल और जौ से निर्मित की जाती है) यजन किया जाता है; क्योंकि यह वर्षभर (बारह महीने) की इष्टि होती है। कात्यायन श्रौत सूत्र में इसे उदवसानीया इष्टि भी कहा गया है-‘त्रैधातव्युदवसानीया सर्वत्र’ (का० श्रौ० सू० १३.४.७)।

४१. आत्मज्ञान— द्र०-ज्ञानखण्ड-आत्मा-जीवात्मा।

४२. आत्मतत्त्व — द्र०- ज्ञानखण्ड-आत्मा-जीवात्मा।

४३. आत्मविद्या— द्र०- ज्ञानखण्ड- श्रेय-प्रेय मार्ग, आत्मा-जीवात्मा।

४४. आत्मश्राद्ध— स्वर्गस्थ देवों, ऋषियों, देवमानवों आदि की आत्माओं की शान्ति के लिए श्राद्ध कर्म का विधान है। श्राद्ध प्रायः आठ प्रकार के होते हैं-देवश्राद्ध, ऋषिश्राद्ध, दिव्यश्राद्ध, मनुष्यश्राद्ध, भूतश्राद्ध, पितृश्राद्ध, मातृश्राद्ध और आत्मश्राद्ध। जब व्यक्ति अपनी आत्मा की शान्ति के लिए स्वयं श्राद्ध करे, तो उसे आत्मश्राद्ध कहा जाता है। जब कोई क्रमिक अथवा आत्म संन्यास धारण करता है, तो वह प्रायश्चित्त स्वरूप कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत सम्पन्न करके अष्ट श्राद्ध करता है, जिसके अन्तर्गत आत्मश्राद्ध में अपना, पिता का और पितामह का श्राद्ध किया जाता है; परन्तु पिता जीवित हों, तो उनका श्राद्ध न करके अपना, पितामह का और प्रपितामह का श्राद्ध किया जाता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् में इसका उल्लेख इन शब्दों में संप्राप्य है- प्रथमंआत्मश्राद्धे आत्मपितृ पितामहान् जीवत्पितृ कश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहान्निति (ना० परि० ४.३७)।

४५. आत्म साक्षात्कार— द्र०-ज्ञानखण्ड-साक्षात्कार।

४६. आत्मा— द्र०-ज्ञानखण्ड -आत्मा-जीवात्मा।
४७. आत्मा-परमात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड -आत्मा-जीवात्मा।
४८. आनन्द— द्र०-ज्ञानखण्ड -आनन्द-परमानन्द।
४९. आपः— द्र०-ज्ञानखण्ड।
५०. आवागमन— द्र०-ज्ञानखण्ड -आवागमन चक्र।
५१. आसन— हठ योग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की मुद्राओं, बन्ध तथा आसनों द्वारा योगिक क्रियाएँ सम्पत्र की जाती हैं, जिनके द्वारा नस-नाड़ियों का शोधन करके शरीर को स्वस्थ, चित्त को प्रसन्न और एकाग्र किया जाता है।

पातञ्जल योग में 'आसन' इन शब्दों में परिभाषित है— 'स्थिरसुखमासनम् (पातं०यो० सा० पा० सूत्र-४६)' अर्थात् जो स्थिर और सुखदायी हो, वही आसन है। जिस प्रकार स्थिर होकर, अविचल होकर, कष्ट रहित होकर, सुखपूर्वक लम्बे समय तक बैठा जा सके, वह आसन है। स्थिति के अनुरूप विभिन्न साधकों के लिए पृथक्-पृथक् आसन ग्रहणीय होते हैं। वैसे तो विभिन्न प्रकार के आसनों का वर्णन पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में मिलता है; किन्तु नौ प्रकार के आसन ही प्रमुख हैं। जो इस प्रकार हैं—स्वस्तिकं गोमुखं पदम् वीरसिंहासनं तथा। भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च॥ सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुद्मव (जा०दर्शनो० ३.१-२) अर्थात् स्वस्तिक, गोमुख, पदम्, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुख ये नौ प्रकार के आसन हैं।

- क. स्वस्तिकासन— स्वस्तिक आसन का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है— जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे। समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमध्यसेत् (जा०दर्शनो० ३.२) अर्थात् जिसमें घुटनों और जंघाओं के बीच दोनों पैरों को सम्यक् प्रकार से रखकर ग्रीवा, मस्तक और शरीर को समान भाव से धारण कर (अथवा एक सीध में रखकर) अभ्यास किया जाता है, वह स्वस्तिकासन कहलाता है।
- ख. गोमुखासन— गोमुख आसन की स्थिति इस प्रकार वर्णित है— सर्वे दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपाश्चेन नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सर्वं गोमुखं तत्प्रचक्षते (जा० दर्शनो० ३.३) अर्थात् दाहिने पैर के गुल्फ (टखने) को बायीं ओर के पृष्ठ पाश्च (नितम्ब) के नीचे ले जाये और बायें पैर के गुल्फ को दायीं ओर के पृष्ठ पाश्च के नीचे ले जाकर बैठे—यह गोमुखासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में गोमुखासन में उपर्युक्त स्थिति के अतिरिक्त दायें हाथ को सिर की तरफ से तथा बायें हाथ को नीचे होकर पीठ पर ले जाकर दायें हाथ की तर्जनी अङ्गुली से बायें हाथ की तर्जनी अङ्गुली को मजबूती से पकड़ने का भी उल्लेख मिलता है।
- ग. पद्मासन— जाबालदर्शन उपनिषद् ३.४-५ में पद्मासन इस प्रकार परिभाषित है—अङ्गुष्ठावधि गृहीयाद्वस्ताभ्यां व्युत्कमेण तु॥ ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम्। पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभ्यापहम्। अर्थात् जंघाओं के ऊपर दोनों पाद तलों को स्थिर करके(रखकर)दोनों हाथों से (पांछे होकर) पैरों के अङ्गूठों को पकड़कर स्थिरता से बैठना पद्मासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में इस स्थिति में दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर रखना तथा चिबुक (ठोड़ी) को हृदय के पास सटाकर रखने का भी उल्लेख मिलता है। यह आसन समस्त रोगों के भय से मुक्ति दिलाने वाला है।
- घ. वीरासन— वीरासन की स्थिति इस प्रकार है—दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत्। ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहतम् (जा० दर्शनो० ३.६)। जाबालदर्शन उपनिषद् में वीरासन की स्थिति संक्षेप में वर्णित है; किन्तु हठयोग प्रदीपिका में इसका उल्लेख अधिक स्पष्ट है— यथा—एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम्। इतरस्मिस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् (हठ०प्र० १.२१) अर्थात् दक्षिण पाद वाम ऊरु पर और वाम पाद दक्षिण ऊरु (जंघा) पर रखकर शरीर को सीधा रखने से वीरासन की स्थिति बनती है।
- ङ. सिंहासन— सिंहासन का स्वरूप इस प्रकार है—गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्या: पाश्चयोः क्षिपेत्। दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरत्॥ हस्तौ जानौयोगिभिः सदा (जा० दर्शनो० ३.६.१-३) अर्थात् दक्षिण टखने (गुल्फ) को बायीं ओर वृषण के नीचे सीवन के बगल में रखे, इसी प्रकार बायें टखने को दायीं ओर वृषण के नीचे सीवन के बगल में रखे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर जमाकर तथा अङ्गुलियाँ फैलाकर मुख को भी खोलकर फैलाए तथा दृष्टि में रखे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर जमाकर तथा अङ्गुलियाँ फैलाकर मुख को भी खोलकर फैलाए तथा सिंह को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करे। यह सिंह नामक आसन सदैव योगियों द्वारा पूजित है। कुछ ग्रन्थों में उपर्युक्त को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करे। यह सिंह नामक आसन सदैव योगियों द्वारा पूजित है। कुछ ग्रन्थों में उपर्युक्त स्थिति में जीभ को बाहर निकाल कर ठोड़ी पर लगाने तथा सिंह की तरह आवाज निकालने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

- च. भद्रासन— भद्रासन इस प्रकार है—गुल्फों तु वृषणस्याधः सीविन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्धवा सुनिश्चलम्॥ भद्रासनं भवेदेतद्विषोरगविनाशनम् (जा०दर्शनो० ३.७) अर्थात् इस आसन में दोनों पैरों के गुल्फों (टखनों) को वृषण के नीचे सीवन के दोनों पार्श्व भागों में इस प्रकार रखा जाता है कि बायाँ टखना सीवन के बाम पार्श्व में और दायाँ टखना सीवन के दक्षिण पार्श्व भाग में स्थिर हो जाए। इसके बाद सीवन के पार्श्व भागों में स्थित पैरों का हाथों द्वारा दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर हुआ जाता है। भद्रासन विष से उत्पन्न रोगों का विनाशक है।
- छ. मुक्तासन— मुक्तासन की स्थिति इस प्रकार है—निपीद्य सीविनीं सूक्ष्मां दक्षिणेतरगुल्फतः। वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् (जा०दर्शनो० ३.८-१) अर्थात् सीवन की सूक्ष्म रेखा को बायें टखने से दबाकर, बायें टखने को दायें टखने से दबाकर बैठने की स्थिति मुक्तासन कहलाती है। इसकी दूसरी विधि इस प्रकार बतायी गई है—मेद्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि। गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने (जा० दर्शनो० ३.९) अर्थात् उपस्थ (लिङ्ग) के ऊपर बायें टखने को स्थिर करके, बायें टखने पर दायें टखने को स्थिर करके बैठने की स्थिति भी मुक्तासन कहलाती है।
- ज. मयूरासन— मयूरासन की परिभाषा इस प्रकार विवेचित है—कूर्पराग्रं मुनिश्रेष्ठं निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः॥ भूम्यां पाणितलद्वद्दं निक्षिप्यैकाग्रमानन्सः। समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः॥ मयूरासनमेतत्स्या-त्सर्वपापप्रणाशनम् (जा० दर्शनो० ३.१०-१२) अर्थात् दोनों हथेलियों को भूमि पर टिकाकर, कोहनियों के आगे के भाग को नाभि के दोनों पाथों में स्पर्श करके स्थिर चित्त होकर सिर और पादों को ऊँचा करके आकाश में दण्डवत् (पृथिवी के समानान्तर) होकर स्थित हो जाये। यह मयूर नामक आसन समस्त पापों का विनाश करने वाला है।
- झ. सुखासन— सुखासन का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते॥ तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तप्तमाश्रयेत् (जा० दर्शनो० ३.१२-१३) अर्थात् जिस प्रकार भी बैठने से सुख और धैर्य बना रहे, वही सुखासन कहलाता है। अशक्त साधकों को इसी आसन का आश्रय लेना चाहिए।
- ञ. सिद्धासन— उपर्युक्त नौ आसनों के अतिरिक्त एक अन्य आसन ‘सिद्धासन’ भी प्रचलित है। उसकी स्थिति इस प्रकार वर्णित है—बायें पैर की एड़ी को सीवन के मध्य में मजबूती पूर्वक इस प्रकार स्थिर करके कि उसका तलवा दायें पैर की ऊर (जंघा) को छूता हुआ हो। इसी प्रकार दायें पैर को लिङ्ग की जड़ के ऊपर इस तरह स्थापित करे कि उसका तलवा बायें पैर की जंघा का स्पर्श करे। तदुपरान्त बायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को दायें पैर की जंघा और पिण्डली के बीच में ले ले तथा इसी तरह दायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को बायें पैर की जंघा और पिण्डली के बीच में ले ले, यह सिद्धासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में इस स्थिति में ठोड़ी को हृदय के समीप रखकर दृष्टि को भृकुटि के मध्य में स्थिर करने का वर्णन भी मिलता है। यह आसन मोक्ष कपाट का भेदन करने वाला कहा गया है—योनिस्थानकमंधिमूलधटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेद्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्॥सिद्धासनं प्रोच्यते (हठ० प्र० १.३५)।

५२. आस्तिकता— द्र०-ज्ञानखण्ड।

५३. आहवनीय — वैदिक ग्रन्थों में अग्नियों के अनेक प्रकार वर्णित हैं। जैसे—आहवनीय अग्नि, गार्हपत्य अग्नि और दक्षिणाग्नि आदि। अथर्ववेद ९.७.१३ में इन तीनों अग्नियों की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार दी गई है— योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः अर्थात् जिस अग्नि से अतिथियों (देवों) का आवाहन किया जाता है, वह आहवनीय, गृहस्थित अग्नि गृहपति तथा अन्नपाचन करने वाली अग्नि को दक्षिणाग्नि कहते हैं। इन्हें श्रौत अग्नियाँ भी कहते हैं। महाराज मनु ने गार्हपत्य अग्नि को पिता, दक्षिणाग्नि को माता तथा आहवनीयाग्नि को गुरु की संज्ञा प्रदान की है—‘पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्निवेता गरीयसी’ (मनु० २.२३१)। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श में पारिभाषिक शब्दकोश के अन्तर्गत आहवनीय कुण्ड का भी नाम है। जिसमें आहवनीयाग्नि द्वारा देवों का आवाहन किया जाता है, उसे आहवनीय खर (कुण्ड) कहते हैं, जिसका स्थान यज्ञशाला में पूर्व की ओर होता है— आहूयनेऽस्मिन्नाहुतयित्याहवनीयः। गार्हपत्यग्निं का स्वरूप सात्त्विक है, यज्ञशाला में गार्हपत्य खर (कुण्ड) का स्थान पश्चिम की ओर होता है। दक्षिणाग्नि का स्वरूप रजोगुणी है, यज्ञशाला में इसका स्थान दक्षिण की ओर होता है। कठरुद्रोपनिषद् में भी आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य अग्नियों का उल्लेख हुआ है—गार्हपत्यदक्षिणा-ग्न्याहवनीयेषु अरणिदेशाद्यस्ममुष्टि पिबेदित्येके (कठरुद्रो०३)। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और सभ्य—ये श्रौत अग्नियाँ तथा आवस्थ्य अग्नि स्मार्त कही जाती है।

५४. इडा— द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्ना नाड़ी ।
५५. इन्द्रयोनि-वेदयोनि —द्र०-कपालाष्टक ।
५६. इन्द्रियाँ— द्र०-ज्ञानखण्ड- अंतःकरण चतुष्पृष्ठ ।
५७. इष्ट— भारतीय धर्म ग्रन्थों में इष्ट एक बहुप्रचलित शब्द है । जिसका सामान्य अर्थ है-अभिलिष्ट, चाहा हुआ अथवा वाञ्छनीय । वाचस्पत्यम् पृ० ९० में इष्ट की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- इष्ट त्रिंश क्षेत्र कर्मणि त्त । अभिलिष्टे, प्रिये । यज्ञ, संस्कार तथा एरण्ड वृक्ष आदि शब्दों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है । अपने पूजित देव के लिए भी इष्ट शब्द प्रयुक्त होता है । जैसे-किसी के इष्ट देव हनुमान् जी हैं, तो किसी के गणपति और किसी के राम और कृष्ण । इच्छा के विषय में भी इस शब्द का प्रयोग कई जगह होता है, जैसे- सहयज्ञः प्रजाः सृष्टा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् (गी०-३.१०) ।
५८. ईशान—द्र०- ऋष्वक ।
५९. ईश्वर पूजन—द्र०- नियम ।
६०. उज्ज्वलिति— द्र०- गृहस्थ ।
६१. उद्दिङ्दयान बन्ध—द्र०- बन्ध ।
६२. उत्तरायण— ज्योतिर्विदों ने सम्पूर्ण आकाश मण्डल को दो भागों में विभक्त किया है- १. विषुवत् (मध्य) रेखा का उत्तरी भाग, २. विषुवत् रेखा का दक्षिणी भाग । सूर्य वर्षभर में छः माह उत्तरी भाग और छः माह दक्षिणी भाग में दूश्यमान होता है । जब सूर्य मकर रेखा से उत्तर (कर्क रेखा) की ओर जाता है, तो उसे उत्तरायण कहा जाता है तथा जब सूर्य कर्क रेखा से दक्षिण (मकर रेखा) की ओर जाता है, तो उसे दक्षिणायण कहा जाता है । यह ६-६ मास का समय होता है । सूर्य सिद्धान्त के अनुसार-भानोर्मकरसंक्रान्ते: षण्मासा उत्तरायणम् । सूर्य मकर संक्रान्ति से छः मास तक उत्तर की ओर रहता है, इस काल को उत्तरायण कहा जाता है । उत्तरायण में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ परिगणित की जाती हैं । “शिशिरश्च वसन्तोऽपि ग्रीष्मः स्यादुत्तरायणे” (हारीत) ।
६३. उदुम्बर—द्र०-वानप्रस्थ ।
६४. उन्मनी अवस्था—द्र० - अमनस्क स्थिति ।
६५. उन्मनी भाव—द्र०- अमनस्क स्थिति ।
६६. उपदेष्टा— सामान्यतः उपदेष्टा धर्म का उपदेश करने वाले को कहते हैं, इसीलिए इसके लिए धर्मोपदेशक या उपदेशक शब्द भी प्रयुक्त होता है । वाचस्पत्यम् के अनुसार उपदेष्टा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- उपदेष्टु-पु० उप+दिश-तुच् । १. गुरौ कर्मोपदेशके २. आचार्यों अर्थात् कर्मोपदेशक और गुरु तथा आचार्य के अर्थ में उपदेष्टा शब्द का प्रयोग किया जाता है । आचार्य के अर्थ में ऋत्विजों को भी परिगणित किया गया है; क्योंकि वे यज्ञादि कर्मों में प्रत्यक्ष मार्गदर्शन (उपदेश) देते हैं । शास्त्र मान्यता है कि आचार्यों, ऋत्विजों के रूप में स्वयं भगवान् हरि ही कर्म का उपदेश प्रदान करते हैं- चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः: ” वेणी० (वाच०पृ० १२११) ।
- भारतीय संस्कृति में उपदेष्टा की बहुत महत्ता है; क्योंकि वह जो कुछ उपदेश करता है, उसे पहले अपने जीवन में उतारता है, इसलिए वह आचरणीय होता है । इसी कारण उपदेष्टा का दूसरा नाम आचार्य है । वैसे तो गुरु को गोविन्द (ब्रह्म) से भी बड़ा बताया गया है तथा प्रणाम-अभिवादन के क्रम में गोविन्द से पहले गुरु को प्रणाम करने का परामर्श दिया गया है- गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय । बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय (कबीर); किन्तु उपदेशक की अर्चना गुरु से भी पूर्व करने का शास्त्रीय विधान मिलता है- तस्योपदेष्टारमपि पूजयेच्य ततो गुरुम् (वाच०पृ० १२११) ।
६७. उपनयन—द्र०-अनुपवीत ।
६८. उपरति— जीवन के चार लक्ष्यों में मोक्ष प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है । इसकी प्राप्ति के लिए साधक को षट्सम्पत्तियों का आश्रय लेना पड़ता है । ये षट्सम्पत्तियाँ- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान कहलाती हैं । इनमें उपरति का

बहुत महत्त्व है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् के अनुसार 'उपरति' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— उप+रम+किन्। जिसके कई अर्थ होते हैं, जैसे-विरति (विरक्ति), मृत्यु, प्राप्त विषयों के प्रति इन्द्रियों की उदासीनता तथा विहित कर्म विधान का संन्यास की स्थिति में परित्याग (विहित कर्मणाम् विधानतस्त्यागरूपे संन्यासे “पुमर्थः कर्मणा नेति धीर्या सोपरतिर्भवेत्”—वाच०प० १२८३); किन्तु विषयों से वैराग्य या उनके प्रति उदासीनता के भावार्थ में ही उपरति का अधिक प्रचलन है। अध्यात्मोपनिषद् मंत्र २८ में उपरति का उल्लेख इस रूप में आया है— वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेवैवोपरतेः फलम् (अध्यात्मो० २८) अर्थात् वैराग्य का प्रतिफल बोध (आत्मज्ञान) है और बोध (ज्ञान) का फल उपरति अर्थात् विषयों से विरक्ति है। (उपरति के फलस्वरूप) आत्मानन्द से जो शान्ति प्राप्त होती है, वह उस उपरति का ही फल है। अतः आसक्ति ही अशान्ति और उपरति ही शान्ति का कारण है। उपरति धारण करने वाले साधक को उपराम कहते हैं।

६९. **उपराम— द्र०-उपरति।**
७०. **उपवीत— द्र०-अनुपवीत।**
७१. **उपाधि— द्र०-ज्ञानखण्ड।**
७२. **ऊर्ध्वपुण्ड्र— द्र०-त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र।**
७३. **ऊर्ध्वरेता— ऊर्ध्वरेता शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—ऊर्ध्वमूर्ध्वं नाथः पतत् रेतो यस्य अर्थात् जिसका रेतस् (वीर्य) अधोगामी न होकर ऊर्ध्वगामी हो गया हो, उसे ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। रेतस्, पौरुष का प्रतीक है। अधिकांश लोगों का रेतस् अधोगामी होता है; किन्तु जिसके वीर्य की गति नीचे की ओर जाने से रुककर ऊर्ध्वगामी हो जाती है, वह ऊर्ध्वरेता कहलाता है—रेतो हि पुंचिहेन प्रायः सर्वेषामधो गच्छति यस्तस्य अधोगतिं संरुणद्विं स ऊर्ध्वरेता इत्युच्यते (वाच० प० १३९२)। इसलिए अखण्ड ब्रह्मचारी को भी ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। जैसे— भीष्म, हनुमान्, सनकादिमुनि, भगवान् महादेव आदि। भीष्म (देवव्रत) ने अपने पिता शान्तनु के अभीष्ट विवाह के लिए स्वयं विवाह नहीं किया। अतः वे आजीवन ब्रह्मचारी रहने के कारण ऊर्ध्वरेता नाम से प्रख्यात हो गये। शंकर का भी एक नाम ऊर्ध्वरेता है— ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्गं ऊर्ध्वशायी नभस्थलः (वाच० १३९२)। जाबाल दर्शनोपनिषद् के नवें खण्ड में भी भगवान् शंकर की स्तुति में ऊर्ध्वरेता शब्द आया है—ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विश्वपाक्षं महेश्वरम्। सोऽहमित्यादेषैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् (जा० दर्शनो० ९.२)। इस प्रकार शास्त्रों में ऊर्ध्वरेता की बहुत महिमा गायी गई है; क्योंकि अधोगामी रेतस् जहाँ कुछ ही सृजनात्मक कार्य कर पाता है, वही ऊर्ध्वगामी रेतस् से चित्त के एकाग्र होने, चिन्तन परिष्कृत होने से लेकर विभिन्न महत्त्वपूर्ण ऋद्धियों-सिद्धियों का स्वामी बना देता है। हनुमान् जैसे भक्त इसी शक्ति के सहारे 'अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता' बन गये थे।**
७४. **ऋचा— ऋचा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है— ऋच्यते स्तूयतेऽनया (वाच०) अर्थात् जिससे देवों की स्तुति या अर्चना की जाती है, वह ऋचा है। सामान्य रूप से ऋचा का अर्थ स्तुति या पूजा से लिया जाता है। वैदिक मंत्रों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है; किन्तु विशेष रूप से ऋग्वेद के मंत्रों को ऋचा कहा जाता है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी हिन्दू धर्मकोश में लिखा है कि प्राचीन वैदिक काल में देवताओं के सम्मानार्थ उनकी जो स्तुति की जाती थी, उन्हें ऋक् या ऋचा कहते थे। ऋग्वेद ऐसी ही ऋचाओं का संग्रह है, इसीलिए उसका नाम ऋग्वेद पड़ा।**
७५. **ऋत— द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत-सत्य।**
७६. **ऋत्विक्— द्र०-ज्ञानखण्ड- ऋत्विज्।**
७७. **ऋषि— द्र०-ज्ञानखण्ड।**
७८. **एकत्व— द्र०-ज्ञानखण्ड-एकत्व-ऐक्य।**
७९. **एषणात्रय— द्र०-ज्ञानखण्ड।**
८०. **ओंकार— द्र०-ज्ञानखण्ड।**
८१. **कपालाष्टक— प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में योग विषयक विवेचन में कपालाष्टक शब्द का उल्लेख मिलता है। योग के आठ अंग बताये गये हैं। इन्हें आठ अङ्गों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को**

कपालाष्टक भी कहते हैं। कपालाष्टक की व्याख्या करते हुए उपनिषदव्याख्याकार ब्रह्मयोगी ने लिखा है-कं परमसुखमसुखकामादिवृत्तिभ्यः पृथक् कृत्य पालयन्तीति कपालानि योगाङ्गानि (परब्रह्मो० २ टीका) अर्थात् 'क' से तात्पर्य परमसुख प्रदाता और कामादिवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले असुख (कष्ट) को पृथक् करके पाल अर्थात् साधक का पालन-पोषण करने वाले कृत्य कपाल (योगाङ्ग) कहलाते हैं। इनके अष्टक को ही कपालाष्टक कहते हैं, जो कि योगदर्शन में आसन-प्राणायाम आदि आठ अङ्ग प्रख्यात हैं-तेषामष्टकं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहा-रथारणाध्यानसमाध्यात्मकं कपालाष्टकमष्टाङ्गयोगमनुसन्धाय यथावदभ्यस्य तद्वलेन चित्तगतमालिन्यं संक्षाल्य निर्विशेषज्ञानमवाप्य कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः (परब्रह्मो० २ टीका) अर्थात् यम नियमादि अष्टाङ्ग योग अथवा कपालाष्टक का यथावत् अभ्यास करने से उत्पन्न ऊर्जा द्वारा चित्तगत मलिनता धुल जाती है, जिससे साधक निर्विशेष ज्ञान को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इसी प्रक्रिया (कपालाष्टक-अष्टाङ्गयोग) द्वारा हृदय स्थल में जो स्तन या कदली पुष्पवत् लटका रहता है और योग के समय ऊपर उठता हुआ विकसित होता है। इसी में वह ईश्वर जाग्रत् रहता है। इस प्रकार अपने हृदय कमल में ध्यान करने वाला शुभाशुभ से परे होकर कर्मों से निर्लिपि हो जाता है-तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एव स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः वेदयोनिरिति।कर्मभिर्न लिप्यते (परब्रह्मो० २)।

८२. कर्मफल— द्र० - ज्ञानखण्ड।

८३. कर्म संन्यासी-द्र- अवधूत।

८४. कर्मेन्द्रियाँ— द्र०- ज्ञानखण्ड-अन्तःकरण चतुष्टय।

८५. कला— कला एक व्यापक अर्थवाला तथा बहुप्रचलित शब्द है। वाचस्पत्यम् पृष्ठ १७८३ में कला की व्युत्पत्ति इन शब्दों में विवेचित है-कलयति कलते वा कर्त्तरि अच्, कल्यते ज्ञायते कर्मणि अच् वा अर्थात् जो किसी के कर्म अथवा स्थिति को द्योतित करती है, वह कला है। जैसे चन्द्रमा के सोलहवें भाग को उसकी एक कला कहते हैं—चन्द्रमण्डलस्य षोडशे भागे यथा च चन्द्रस्य षोडशभागस्य कला शब्द वाच्यत्वम् (वाच० पृ० १७८३)। यों तो तिथियाँ पन्द्रह होती हैं; किन्तु प्रतिपदा से चतुर्दशी तक १४ तिथियाँ दोनों पक्षों (शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष) में उभयनिष्ठ हैं। इनमें चन्द्रमा के घटने-बढ़ने की १४ कलाएँ होती हैं। अमावस्या और पूर्णिमा में, एक में चन्द्रमा बिल्कुल नहीं दीखता व दूसरे में पूरा दीखता है, अतः ये भी दो कलाएँ होने से १४+२=१६ कलाएँ कहलाती हैं। चन्द्रमा की सोलह कलाओं के नाम इस प्रकार हैं-अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पूष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीतिरङ्गा, पूर्णा तथा स्वरजा। इसी प्रकार सूर्य की भी द्वादश कलाएँ वर्णित हैं। इन्हें द्वादशादित्य भी कहते हैं। सूर्य की कलाएँ इस प्रकार हैं-तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुचि, सुषुमा, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा। वैसे कुल चौंसठ कलाएँ बतायी गई हैं; जो पूर्णिमा परब्रह्म में मानी जाती हैं। वैदिक मान्यतानुसार परब्रह्म का त्रिपाद् ऊर्ध्वलोकों में और एक पाद (चतुर्थांश) भूलोक (विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में) व्याप्त है (त्रिपादूर्ध्वं उदैत्युरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः - ऋ० १०.९०.४)। इसी कारण भूलोक पर १६ कलाएँ ही विद्यमान हैं और इन्हें 'पूर्ण कला' कहा जाता है। अवतारों के विषय में भी उनकी दस कलाओं, बारह कलाओं, सोलह कलाओं का उल्लेख मिलता है, जो उनकी विशेषताओं, शक्ति व स्थिति का बोध करती हैं। जैसे राम बारह कला के और कृष्ण सोलह कला के अवतार माने जाते हैं।

वस्तुतः जीव मात्र में एक-दो कलाएँ होती हैं और जैसे-जैसे वह अपने को विकसित करता जाता है; वैसे-वैसे उसकी कलाएँ भी बढ़ती जाती हैं। जैसे उद्भिज्जों-वृक्ष, लता, गुल्म आदि में एक (अन्रमय) कला होती है अर्थात् ये भोजन ग्रहण करते व विकसित होते हैं; इसी प्रकार स्वेदजों (मक्खी, मच्छर, जूँ लीख आदि) में दो (अन्रमय व प्राणमय) कलाएँ होती हैं। अण्डजों (कबूतर, चिंडिया, तोता, मयूर आदि) में तीन (अन्रमय, प्राणमय व मनोमय) कलाएँ होती हैं। जरांयुजों (घोड़ों, कुत्तों, हथियों व गाय-भैंस आदि) में चार (अन्रमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) कलाएँ होती हैं। मानव श्रेणी उपर्युक्त जीवों के बाद की सृष्टि में गिनी जाती है। मानवों में अन्रमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय के अतिरिक्त आनन्दमय कला भी पायी जाती है। कुछ विशिष्ट मनुष्यों में उपर्युक्त पाँच कलाओं (पंचकोशों) के अतिरिक्त तीन अन्य कलाएँ भी देखी जाती हैं। जो इस प्रकार हैं- १. अतिशायिनी कला २. विपरिणामिनी कला ३. संक्रामिणी कला। प्रथम अतिशायिनी कला के कारण ही आद्यशंकराचार्य ने दस-बारह वर्ष की अवस्था में वह कार्य कर लिया था, जो सामान्य व्यक्ति के लिए कल्पनातीत होते थे।

द्वितीय विपरिणामिनी कला के द्वारा साधक अणिमा आदि आठ सिद्धियों के माध्यम से शरीर को हल्का-भारी,

छोटा-बड़ा करके परकाया प्रवेश भी कर सकते हैं। तृतीय संक्रामिणी कला के द्वारा साधक अपनी शक्ति दूसरों में भी प्रविष्ट कर सकते हैं, जैसे रामकृष्ण परमहंस जी ने स्वामी विवेकानन्द में शक्तिपात किया था और योगेश्वर कृष्ण ने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। उपर्युक्त कलाएँ मानवों तक सीमित हैं, इसके ऊपर की ९से १६ तक की कलाएँ देवों व अवतारों में होती हैं। पूर्णकलाएँ १६ मानी गई हैं अर्थात् पूर्ण अवतार घोड़श कलायुक्त होता है। देवों-अवतारों की ८ कलाएँ इस प्रकार हैं— १. प्रभ्वी २. कुण्ठिनी ३. विकासिनी ४. मर्यादिनी ५. संहादिनी ६. आहादिनी ७. परिपूर्ण ८. स्वरूपावस्थिति। इनमें प्रभ्वी का अर्थ ईश्वर की उस परिभाषा से सम्बन्धित है, जिसमें उन्हें 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ प्रभु' कहा गया है अर्थात् असम्भव को भी संभव कर दिखाना—जैसे खम्भे में से नृसिंह अवतार। कुण्ठिनी कला से पंचमहाभूत या विषादि को प्रभावरहित किया जा सकता है, जैसे शिव ने विष प्रभाव कम करके ही हलाहल पान किया था। विकासिनी कला के द्वारा ही भगवान् वामन ने तीन पगों में समूचे ब्रह्माण्ड को नाप लिया था। मर्यादिनी कला के द्वारा श्रीराम सर्वशक्ति सम्पत्र होते हुए भी मर्यादाओं में बँधे रहे व मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए।

संहादिनी कला से भगवान् कृष्ण ने अऋणु में फूल-फल आदि उत्पन्न करके प्रकृति के नियम में हस्तक्षेप कर दिया था। आहादिनी कला से ही राधिका ने नित्य कृष्ण जी के साथ रहकर उनका अनुरूपन किया था। स्वरूपावस्थिति कला के द्वारा सम्पूर्ण कलाओं को समेट कर अपने मूलरूप में अवस्थित हुआ जा सकता है, जैसे—द्वापर में श्री कृष्ण जी ने अपनी सभी कलाओं को समेटकर मूल रूप में धारण किया था, जिससे उन्हें पूर्ण अवतार माना जाता है।

उपर्युक्त कलाओं के अतिरिक्त अन्य भी लौकिक कलाएँ हैं, जैसे—वास्तुकला, चित्रकला, हस्तकला, काष्ठकला, स्थापत्यकला, वकृताकला, संगीतकला, नृत्यकला आदि।

८६. कल्पान्त— भारतीय कालगणना के क्रम में 'कल्प' का उल्लेख किया जाता है। यह एक बहुत लम्बी अवधि होती है। सृष्टि का कालचक्र चार युगों में विभक्त है। सतयुग (कृतयुग), त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। इनमें सतयुग की अवधि १७,२८,००० वर्ष, त्रेतायुग की १२,९६,००० वर्ष, द्वापरयुग की ८,६४,००० वर्ष तथा कलियुग की अवधि ४,३२,००० वर्ष मानी गई है। चारों युगों की सम्मिलित अवधि ४३,२०,००० वर्ष को एक चतुर्युगी कहते हैं। इस प्रकार की एक सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्माजी का एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात्रि होती है। एक हजार चतुर्युगी अथवा ब्रह्मा का एक दिन 'कल्प' कहलाता है। तदुपरान्त प्रलय की स्थिति आती है, जिसमें सब कुछ विनष्ट हो जाता है। इस अवधि को कल्पान्त कहते हैं। इस प्रकार कल्प का साधारण अर्थ हुआ सृष्टि रचना से लेकर उसके विनाश तक का समय। विद्वानों का कहना है कि अब तक ब्रह्माजी के ५० वर्ष बीत चुके हैं, ५१ वाँ वर्ष चल रहा है, जिसके तीन युग बीत चुके हैं, चौथा चल रहा है। युगों की काल-गणना के अनुसार एक कल्प की अवधि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष मानी जाती है। एक अन्य मान्यता के अनुसार कलियुग की आयु १२०० वर्ष, द्वापर २४०० वर्ष, त्रेता की ३६०० वर्ष और सतयुग की आयु ४८०० वर्ष है। इस प्रकार एक चतुर्युगी १२००० वर्षों की हुई तथा ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर तथा १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। अस्तु, १४ मन्वन्तरों के समापन की अवधि कल्पान्त कहलाती है।

८७. कामना— द्र०-ज्ञानखण्ड-षड्ग्रिपु-षड्वर्ग।

८८. कुटीचक— द्र० - अवधूत।

८९. कुण्डलिनी— भारतीय योग शास्त्रों में कुण्डलिनी महाशक्ति का बहुत महत्त्व है। कहते हैं कि यदि किसी साधक की कुण्डलिनी जाग जाये, तो वह सभी ऋद्धियों-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। तांत्रिक मतानुसार इसे परमेश्वर की वह पराशक्ति कहा गया है, जो प्रत्येक जीव के शरीर में प्रसुसावस्था में रहती है। यह मनुष्य देह में मेरुदण्ड से नीचे मूलाधार (गुदा और उपस्थ के मध्य स्थित चक्र) में कुण्डली मारकर सर्पिणी की तरह स्थित है, इसीलिए इसका नाम कुण्डलिनी पड़ा है। तन्त्रसार में इसे एक देवी माना गया है, जो षट्चक्रों के अन्तर्गत मूलाधार में सूक्ष्म रूप से निवास करती है। कुण्डलिनी के सन्दर्भ में उल्लेख है कि वह स्वयम्भू लिङ्ग में साढ़े तीन चक्र लगाये देवी रूप (सर्पिणी रूप) में प्रतिष्ठित है। करोड़ों विद्युत्रभा के प्रकाश की तरह देवीप्राण तथा उदीयमान सूर्य की कान्ति वाली उस कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए साधक दृढ़ासन पर बैठकर श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया (प्राणायाम) द्वारा प्राण मन्त्र (गायत्री मन्त्र) से उसे उठाकर (जाग्रत् करके) मन की एकाग्रता तथा सम्पूर्ण शुभ-शान्ति प्राप्त करते हैं—ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनि-वासिनीम्। तमिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥ कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम्। तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः॥ उद्यादिनकरोद्योतांचिन्तयेत् (श०क० खण्ड २, प० १४०)।

विवेक मार्तण्ड में कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप इस प्रकार विवेचित है कि वह कुण्डलिनी देवीप्यमान सर्पाकार कमल नाल के समान शुभ प्रतिफल प्रदान करने वाली है, जो योगविद्या के जानकारों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाली तथा इस विद्या से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए बधन का कारण है। मानवी काया में कन्दस्थल (उपस्थ के ऊपर और नाभि से नीचे स्थित नाड़ियों का गुच्छ) के ऊपर अष्टप्रकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति वलयाकार में ब्रह्मरंध के द्वार को अपने मुख से आच्छादित किए (रोके) हुए प्रसुसावस्था में हैं। साधक हठयोग, प्राण साधना द्वारा उस कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करके मानो मोक्ष प्राप्ति के द्वार ब्रह्मरंध में लगे ताले को ताली (चाभी) द्वारा खोलता है—प्रस्फुरद् भुजगाकारा पद्मतनुनिभा शुभा। मूढानां बन्धिनी सास्ति योगिनां मोक्षदायिनी॥ कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टु कुटिलाकृतिः। ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥ येन मार्गेणमोक्षद्वारं प्रभेदयेत् (विंमार्त० ५२-५६)। जबाल दर्शनोपनिषद् में कुण्डलिनी का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है— नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्वयज्ञुलं मुने। अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम (जा०दर्शन० ४.११) अर्थात् नाभि स्थल से दो अंगुल नीचे अष्ट प्रकृति (पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) से युक्त वह कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है। कुण्डलिनी शक्ति के सन्दर्भ में महायोग विज्ञान में उल्लेख है कि जिसकी मूलाधार शक्ति प्रसुप्त है, उसका सारा संसार प्रसुप्त है; जिसकी कुण्डलिनी जगी, समझना चाहिए कि उसका भाग्योदय हो गया है। योगिनी तंत्र के अनुसार कुण्डलिनी के जागते ही अन्तराल में छिपा वैभव अनायास ही दृष्टिगोचर होने लगता है। कुण्डलिनी जाग्रत् कर लेने वाले साधक के लिए जगत् में कुछ भी असंभव नहीं।

१०. कूटस्थ—द्र०-ज्ञानखण्ड।

११. **कृच्छ्र चान्द्रायण**—कृच्छ्र शब्द का सामान्य अर्थ कष्टसाध्य या कठिनाई से प्राप्त होने वाला है। शारीरिक तप या प्रायश्चित्त के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। चन्द्रमा की कलाओं के साथ जो कष्टसाध्य प्रायश्चित्त तप किया जाता है, उसे कृच्छ्र चान्द्रायण कहते हैं। प्रायश्चित्त के अतिरिक्त यह व्रत धर्म संचय के लिए भी किया जाता है। चान्द्रायण व्रत में चन्द्र कलाओं के बढ़ने एवं घटने के अनुरूप भोजन ग्रहण किया जाता है। प्राचीन काल से ही चान्द्रायण व्रत दो प्रकार से किए जाते हैं, यवमध्य (जौ के समान बीच में मोटा एवं दोनों छोरों में पतला) एवं पिपीलिका मध्य (चीटी के समान बीच में पतला एवं दोनों छोरों में मोटा) मनु० (११.२७), याज्ञ० स्म० (३.३२३), वसिष्ठ स्म० (२७.२१), बौद्धा० ध०स०० (४.५.१८) आदि में चान्द्रायण व्रत (यवमध्यप्रकार) की परिभाषा इस प्रकार दी है— मास के शुक्ल पक्ष से प्रथम दिन एक ग्रास (कौर) भोजन किया जाता है, दूसरी तिथि को दो ग्रास, तीसरी तिथि को तीन ग्रास और इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास भोजन ग्रहण किया जाता है। तत्पश्चात् कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन १४ ग्रास, दूसरे दिन १३ ग्रास, इस प्रकार एक-एक ग्रास कम करते-करते कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और अमावस्या के दिन निराहर रहकर पूर्ण उपवास किया जाता है।

दूसरी विधि (पिपीलिका मध्य) में यदि कोई कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि को व्रत आरम्भ करता है, तो वह एक-एक ग्रास कम करते हुए प्रथम दिन में केवल १४ ग्रास, फिर १३ ग्रास, फिर बारह ग्रास खाता है, इसी प्रकार ग्रासों में कमी करते हुए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को केवल एक ग्रास खाता है तथा अमावस्या को एक ग्रास भी नहीं लेता। इसके उपरान्त शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास लेता है और इस प्रकार बढ़ता-बढ़ता पूर्णमासी के दिन १५ ग्रास खाता है। इस प्रकार विहीन, यज्ञोपवीतधारी, हाथ में शिक्ष्य (छोंका) और कमण्डलु धारण करने वाले, ग्राम व शहर में निर्धारित रात्रियों तक विहार करने वाले होते हैं। वे कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत सम्पन्न करके आत्मा की प्रार्थना अर्थात् आत्म दर्शन का ही विश्राम करने वाले होते हैं। वे कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत सम्पन्न करके आत्मा की प्रार्थना अर्थात् आत्म दर्शन का प्रयास करते हैं— हंसा एक दण्डधरा: शिखा वर्जिता ...कृच्छ्र चान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते (आत्रमो० ४)।

१२. **कैवल्य**— हिन्दी विश्वकोश में कैवल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है— कैवलस्य औपाधिक सुखदुःखादि रहितस्य चित्तवृपस्य भावः अर्थात् उपाधि रूप सुख-दुःख रहित चैतन्य स्वरूप स्थिति कैवल्य है। जब व्यक्ति को विवेक का साक्षात्कार हो जाता है, तो अहंकार स्वतः ही मिट जाता है। फिर ऐसा नहीं लगता कि मैं कर्ता, सुखी व दुःखी हूँ। अहंकार विनष्ट हो जाने पर उसके कार्यरूप राग-द्वेष, धर्म और अधर्म आदि भी उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रारब्ध कर्म धीरे-धीरे मिट जाते हैं और अविद्या न रहने से फिर नया संस्कार नहीं बनता तथा संस्कार के अभाव में पुनर्जन्म नहीं

होता। वर्तमान शरीर का अवसान होने पर आत्मा चित् स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। इसी अवस्था को कैवल्य कहते हैं। पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार पुरुषार्थ से शून्य हुए गुण, जब अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, तब उस स्थिति को कैवल्य कहते हैं अथवा चिति-शक्ति का अपने वास्तविक स्वरूप (चैतन्य स्वरूप) में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है। व्यक्ति त्रिगुणातीत हो जाता है, उसकी यही स्थिति कैवल्य है— पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति (पातं० यो० सू० ४/३४)।

सांख्य दर्शन के अनुसार दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य है— आत्यन्तिको दुःख त्रयाभावः कैवल्यम्। हिन्दी विश्वकोश में वर्णित जैन मान्यता के अनुसार कैवल्य अवस्था मुक्ति से पूर्व होती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय— ये चार कर्म विनष्ट हो जाने पर आत्मा का 'केवल' (विशुद्ध) ज्ञान प्राप्त होता है, तब समस्त पदार्थों के सभी पर्यायों को यह जीव जान जाता है (तत्त्वार्थ सूत्र टीका)।

अध्यात्मोपनिषद् (१६) में कैवल्यावस्था इन शब्दों में निरूपित है— जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः। समाधिनिष्ठामेत्य निर्विकल्पो भवानघ अर्थात् जो जीवित स्थिति में ही कैवल्य-स्थिति (ब्रह्मनिष्ठ) प्राप्त कर चुका हो, वह विदेह (देहरहित) हो जाने पर ब्रह्मरूप हो जायेगा। इसलिए हे पापरहित! समाधिनिष्ठ होकर निर्विकल्प बनो। इस प्रकार जीवित रहते हुए समस्त संकल्प-विकल्पों एवं गुणों से रहित होकर केवल ब्रह्म में ही समाहित हो जाना (ब्रह्मनिष्ठ हो जाना) कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेना है।

१३. क्षेत्रपाल— तीतीस कोटि देवों में क्षेत्रपाल देवता को भी परिगणित किया जाता है। सामान्यतः क्षेत्रपाल से तात्पर्य क्षेत्ररक्षक अथवा खेत का रखवाला होता है— क्षेत्रं पालयति रक्षति (हि०वि०को० खं० ५ पृ० ६२५)। प्रयोग सार में क्षेत्रपाल के ४९ भेद वर्णित हैं। जैसे—अजर, आपकुन्त, इन्द्रसुति, ईड़ाचार, उक्त, उन्माद और ऋषिसूदन आदि। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार—'क्षेत्रपाल शिव के अनुचर हैं।'

कार्तवीर्य को भी क्षेत्रपाल कहते हैं (मत्स्य पु० ४३.२७, वा०पु० ९४.२४)। शास्त्रों में यज्ञादि देव कार्यों में भी यज्ञ की रक्षार्थ क्षेत्रपालों को आवाहित करने का विधान है—क्षेत्रपालान्नमस्यामि सर्वारिष्टनिवारकान्। अस्य यागस्य सिद्धर्थं पूजयाराधितान् मया (कर्म०भा०)। क्षेत्रपाल के तीन नेत्रों का उल्लेख मिलता है। इनका वर्ण नीलगिरि की तरह है। उनके मस्तक पर शुभ्र चन्द्र और सिर पर जटायें हैं। इनके चार हाथ हैं, जिनमें गदा, कपाल, रक्तवर्ण की पुष्टमाला और गन्धवस्त्र हैं। उनके कानों में सर्पकुण्डल हैं। क्षेत्रपाल की अर्चना से कान्ति, मेधा, बल, आरोग्य, तेज, पुष्टि, यश और सम्पत्ति आदि की वृद्धि होती है। समस्त प्रमुख पुण्य क्षेत्रों में एक-एक क्षेत्रपाल होते हैं, उनकी विधिवत् पूजा सम्पन्न होती है। कुमार्यूं क्षेत्र में क्षेत्रपाल को कहीं भूमिया और कहीं स्वयम्भू कहते हैं।

१४. खेचरी मुद्रा— द्र०-मुद्रा।

१५. गायत्र— द्र०- ब्रह्मचारी।

१६. गार्हपत्य— द्र०- आहवनीय।

१७. गुरु— द्र०- ज्ञानखण्ड- गुरु-शिष्य।

१८. गुरुकुल— द्र०- ज्ञानखण्ड-गुरु-शिष्य।

१९. गृहस्थ— आश्रम धर्म के अनुसार चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य के बाद दूसरा आश्रम गृहस्थ कहलाता है। लक्ष्य की दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से इस आश्रम में अर्थ और काम (कामनाओं) की प्राप्ति (पूर्ति) की जाती है। इसे भी २५ वर्ष का माना गया है। इसमें व्यक्ति घर में रहकर पत्नी समेत अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करता है। गरुड़ पुराण के अनुसार परिवार का नियमपूर्वक पालन-पोषण करता हुआ गृहस्थ साधक स्वाध्याय द्वारा ऋषि ऋषण, यज्ञादि द्वारा देव ऋण और सन्तानोत्पादन (अथवा अश्रितों के परिपालन) द्वारा पितृऋण से मुक्त होता है।

गृहस्थों के चार भेद हैं— वार्ताकवृत्ति; शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। आश्रमोपनिषद् में इसका उल्लेख इन शब्दों में उपलब्ध है— गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वार्ताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोर-संन्यासिकाश्वेति।

वार्ताकवृत्ति गृहस्थ वे कहलाते हैं, जो कृषि एवं पशुपालन आदि आनन्दित व्यापार करते हुए सौ वर्ष तक यज्ञादि (जीवन यज्ञ) करते हुए आत्म उपासना (जीवन देवता की साधना-आराधना) करते हैं—तत्र वार्ताकवृत्तयः

.....आत्मानं प्रार्थयन्ते (आश्रमो० २)। शालीनवृत्तिगृहस्थ उन्हें कहा जाता है, जो स्वयं तो यज्ञादि कृत्य सम्पन्न करते हैं; पर दूसरों की वह क्रिया सम्पन्न नहीं करते। स्वयं तो अध्ययन करते हैं, पर करते नहीं; इसी प्रकार स्वयं दान देते हैं, पर दूसरों से दान-दक्षिणा ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार सौ वर्ष यज्ञादि सम्पन्न करते हुए आत्म साधना करते हैं। यायावर गृहस्थ वे हैं, जो स्वयं तो यज्ञादि करते ही हैं, दूसरों को भी करते हैं; स्वयं भी अध्ययन करते हैं व दूसरों को भी तथा स्वयं (श्रेष्ठ कार्यों के निर्मित) दानादि ग्रहण करते हैं और लोकोपयोगी कार्यों के लिए दूसरों को भी दान देते हुए सौ वर्ष तक यज्ञीय जीवन जीकर आत्म प्रार्थना (आत्मा की साधना) करते हैं—यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्णतः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते (आश्रमो०२)।

घोर संन्यासिक गृहस्थ उन्हें कहा जाता है, जो पवित्र जल द्वारा दैनिक कृत्य सम्पन्न करते हुए, उच्छवृत्ति (खेतों में अवशिष्ट अनाज द्वारा आजीविका चलाना) अपनाकर अकिञ्चनवत् अपना निर्वाह करते हुए, सौ वर्ष तक यज्ञीय जीवन जीते हुए आत्म साधना करते हैं—घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्दिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतोऽच्छ-वृत्तिमुपयुज्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते (आश्रमो० २)। इस प्रकार स्थिति भेद से गृहस्थों के ये चार प्रकार होते हैं।

१००. घोर संन्यासिक — द्र०- गृहस्थ ।

१०१. चतुर्दश भुवन— सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन माने गये हैं, जिन्हें चतुर्दश भुवन भी कहा गया है। संस्कृत हिन्दी कोश प० ७४५ में इसकी पुष्टि इन शब्दों में की गई है—इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते (भर्त० ३.२३)। चतुर्दश भुवन से तात्पर्य चौदह लोकों से है। चौदह लोकों में से सात लोक ऊपर हैं एवं सात लोक नीचे हैं। ऊपर के लोकों को ऊर्ध्व लोक अथवा स्वर्गलोक कहते हैं। नीचे के लोकों को अधोलोक अथवा पाताल लोक कहते हैं। हिन्दी कोश में सात स्वर्ग अथवा ऊर्ध्वलोक इस प्रकार हैं— भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्। अधोलोक अर्थात् पाताल लोक इस प्रकार हैं— अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

भारतीय संस्कृति कोश के अनुसार अतल लोक वह है, जिसकी मिट्टी कृष्णवर्णा है तथा जहाँ मय दानव का पुत्र अपनी माया की सृष्टि रचते हुए निवास कर रहा है। वितल लोक में शंकर और पार्वती का निवास बताया गया है। सुतल लोक में राजा बलि रहते हैं, यहाँ की मिट्टी रक्तवर्णा है। तलातल लोक में दानवराज मय का निवास है, यहाँ की मिट्टी पीतवर्णा है। महातल लोक में काद्रवेय सर्पों का निवास स्थल है, जहाँ की मिट्टी मीठी बतायी जाती है। रसातल लोक में ऐसे दैत्य-दानव आदि निवास करते हैं, जो देवराज इन्द्र से भयभीत रहते हैं। यहाँ की मिट्टी पथरीली है। पाताल लोक वासुकि सहित विशालकाय सर्पों का निवास स्थल है, जहाँ की भूमि स्वर्णमयी है। इस प्रकार नीचे के ये सात लोक हैं।

उपनिषदों में इहलोक और परलोक दो ही लोक माने गये हैं, जबकि वेदादि में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन लोक वर्णित हैं।

१०२. चरु— 'चरु' शब्द वैदिक काल से ही प्रचलित है। प्राचीन काल में यज्ञीय पदार्थों (हविष्यान्त्र) को निर्मित करने के पात्र विशेष के रूप में सम्भवतः कड़ाही के रूप में इसका प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में चरु का कई बार उल्लेख हुआ है। यथा—स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृथि। असम्भयमप्रतिष्कृतः (ऋ० १.७.६)।

इस प्रकार अथर्ववेद में भी चरु का वर्णन इन शब्दों में संप्राप्य है— उत्कामातः परि चेदत्सस्तमाच्चरोरधि नाकं तृतीयम् (अथर्व० ९.५.६)। पात्र विशेष के रूप में 'चरु' शब्द का इतना प्रयोग हुआ कि बाद में उसमें पकाये जाने वाले हविष्यान्त्र को ही 'चरु' कहने लगे और हविष्यान्त्र के अर्थ में ही चरु शब्द रुढ़ हो गया। इसीलिए हिन्दी विश्वकोश में इस शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है—चर्यते भक्षयते ऽग्न्यादिभिः। यद्वा चरति होमादिकम् अर्थात् हव्यान्त्र अथवा होम के लिए पाक किया जाने वाला अन्त्र। चरु (विशेष प्रकार का हविष्यान्त्र), जिसमें तण्डुल (चावल) की प्रमुखता रहती है, के निर्माण की विधि बहुत लम्बी है। जिसका सम्पूर्ण उल्लेख स्थानाभाव के कारण यहाँ सम्भव नहीं है। इसे कात्यायन श्रौत के निर्माण की विधि बहुत लम्बी है। श्रौत पदार्थ निर्वचनम्' नामक ग्रन्थ में भी चरु का उल्लेख पक्व तण्डुल के रूप में सूत्र ४.१.६.७ में देखा जा सकता है। 'श्रौत पदार्थ निर्वचनम्' नामक ग्रन्थ में भी चरु का उल्लेख पक्व तण्डुल के रूप में मिलता है— ते च परिपक्वास्तण्डुलाः चरुपदवाच्याः (श्रौ०प०न० ४० १९)। उपनिषद् ग्रन्थों में भी चरु का वर्णन मिलता है। कठरुद्रोपनिषद् के संन्यास प्रकरण में चरु का उल्लेख द्रष्टव्य है— द्वादशरात्रस्यान्ते ऽग्ने वैश्वानराय प्रजापतये आया है। कठरुद्रोपनिषद् के संन्यास प्रकरण में चरु का उल्लेख द्रष्टव्य है— द्वादशरात्रस्यान्ते ऽग्ने वैश्वानराय प्रजापतये आया है।

च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं अग्निम् (कठरुद्रो० ३)।

१०३. चातुर्मास्य— द०-ज्ञानखण्ड -चातुर्मास्य-आग्रयण।

१०४. चान्द्रायण व्रत—द्र०-कृच्छ्र चान्द्रायण।

१०५. चित्त शुद्धि— द्र०-ज्ञानखण्ड -चित्त।

१०६. चिदात्मा— द्र०-चिदधन।

१०७. चिदानन्द— द्र०-चिदधन।

१०८. चिदधन—परमात्मा को सत्, चित् और आनन्दस्वरूप कहते हैं। तीन तत्त्वों सत् (सत्य), चित् (चैतन्यता) और आनन्द (परम सुख-आनन्दिक सुख) की सघनता के कारण ही उसे सद्धन, चिदधन और आनन्दधन कहते हैं। इसीलिए उपर्युक्त गुणों से युक्त ईश्वर को समस्तपद के रूप में सच्चिदानन्दधन कहते हैं। अध्यात्मोपनिषद् में इसी तथ्य का उल्लेख इन शब्दों में है—परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेय..... विक्रियम्। सद्गुरुं चिद्गुरुं नित्यमानन्दधनमव्ययम् (अध्यात्मो० ६१) अर्थात् उस परब्रह्म को परिपूर्ण, आदि और अन्त से रहित, परिमाप रहित, विकार शून्य, सन्मय (सद्धन,) चिन्मय (चिदधन), नित्य आनन्दमय (नित्य और आनन्दधन) तथा अविनाशी कहा गया है। कई अन्य विशेषताओं के कारण उस परमात्मा के और भी कई नाम हैं। जैसे— चैतन्य स्वरूप होने के कारण उसे चिदात्मा कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है— चित् चैतन्यमात्मा स्वरूपमस्य (हि०वि०को०ख००६, पृ० ३९१) अर्थात् चैतन्य स्वरूप परब्रह्म ही चिदात्मा है। चैतन्य रूप होने से ही उसे चैतन्य व चिदरूप भी कहते हैं। चैतन्य और आनन्द स्वरूप होने से उसे ही चिदानन्द कहते हैं। चित् शब्द में मयट् प्रत्यय लगने से उस परमेश्वर को चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय कहते हैं। निर्दोष, माया से रहित और विकाररहित होने के कारण उस ब्रह्म को ही निरञ्जन तथा निर्विकार कहते हैं— निरञ्जनो निर्विकारः नास्ति (आत्मो० १-घ)। कलाओं से रहित अथवा कलातीत होने के कारण उस ईश्वर को ही निष्कल कहते हैं—तेनेदं निष्कलंपञ्चेभिः (ब्रह्मविद्यो० १७)। श्रेष्ठ (परम) पुरुष होने के कारण उस ब्रह्म को ही परम अथवा पुरुषोत्तम भी कहते हैं। ज्योतिस्वरूप होने के कारण उसे ही परम-ज्योति कहते हैं। प्राचीनतम होने के कारण उस ईश्वर को ही पुराण पुरुष तथा सम्पूर्ण सृष्टि का मूल तत्त्व होने से उसे ही परम तत्त्व कहते हैं। इसी तरह सबसे परे अथवा परे से भी परे होने के कारण उस परब्रह्म का एक नाम 'परात्पर' भी है। परमात्मा के उपर्युक्त गुणों का निरन्तर चिन्तन करते रहकर सतत आनन्दित रहने वाले परमात्म भाव में स्थित रहते हैं। इस प्रकार उस एक ही परब्रह्म के ये अनेक नाम हैं।

१०९. चिन्मय— द्र०-चिदधन।

११०. चैतन्य— द्र०-चिदधन।

१११. जगत्— द्र०-ज्ञानखण्ड।

११२. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति— द्र०-ज्ञानखण्ड।

११३. जालन्धर बन्ध— द्र०-बन्ध।

११४. जितेन्द्रिय — धर्म पथगामी मुमुक्षु के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। जितेन्द्रिय का सामान्य अर्थ है—इन्द्रियों को जीत लेने वाला अथवा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने वाला। प्रख्यात संस्कृत कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में जितेन्द्रिय इन शब्दों में परिभाषित है—जितानि वशीकृतानीनीन्द्रियाणि येन अर्थात् जिसके द्वारा समस्त इन्द्रियाँ वश में कर ली गईं या जीत ली गई हैं, वह जितेन्द्रिय है। महाराज मनु ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है—श्रुत्वा स्पृष्टवाथ दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्ट्वा ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः (वाच०पृ० ३१२०)। इसका अभिप्राय है, किसी भी प्रकार का विषय सुनकर, कुछ भी स्पर्श करके, कुछ भी देखकर, कुछ भी भक्षण करके तथा कुछ भी सूँघ कर जो व्यक्ति न तो हर्षित होता है और न ही ग्लानि अनुभव करता है, उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिए। महर्षि पतञ्जलि के योग दर्शन में इस विषय में उल्लेख है कि आत्म शुद्धि हो जाने पर सत्त्वगुण प्रकट होता है, तब रजोगुण और तमोगुण नहीं आ सकते। कारण-कार्य न्याय से चित् शुद्धि हो जाने पर रज और तम सत्त्वगुण से प्रभावित हो जाते हैं, जिससे वे चित्त में चञ्चलता उत्पन्न करने रूप कार्य को नहीं कर पाते; वरन् सत्त्वगुण की सहायता करके हर विषय में अनासक्ति पैदा कर देते हैं, जिससे न किसी से राग होता है, न द्वेष या क्षोभ। निश्चित विषय (ईश्वर) में चित्त अनुरक्त होने के कारण अन्य विषयों (श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषयों) में मन नहीं रमता, जिससे इन्द्रियाँ पराजित हो जाती हैं। इस जितेन्द्रिय स्थिति के प्राप्त हो जाने पर आत्म दर्शन और मोक्ष का पथ प्रशस्त होता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् (३.३८) में भी उपर्युक्त मनु कथित

श्रोक की तरह ही कुछ पाठ भेद से जितेन्द्रिय की परिभाषा उल्लिखित है— श्रुत्वा स्पृष्टवा च भुक्वा च ... जितेन्द्रियः ।

११५. ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी- द्र०-अवधूत ।

११६. ज्ञान-संन्यासी-द्र०-अवधूत ।

११७. ज्ञानाग्नि—ज्ञान और अग्नि दो शब्दों का समस्त पद ज्ञानाग्नि है, जिसका सामान्य अर्थ है—ज्ञान की अग्नि अथवा ज्ञानरूपी अग्नि । जिस प्रकार अग्नि का कार्य जलाकर भस्म कर देना है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि अज्ञान जनित विकारों को जलाकर भस्म कर देती है । श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लेख है कि जिसके सभी कार्य कामना और संकल्प से रहित हो जाते हैं, उसके सभी कर्म (प्रारब्ध कर्म) ज्ञानाग्नि से दाध हो जाते हैं । ऐसे उस पुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं— यस्य सर्वे समारभाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं ब्रुधाः (गी० ४.१९) ।

वेदान्त दर्शन में जीवन्मुक्त की स्थिति के सन्दर्भ में विवेचन है कि ज्ञानरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान और अज्ञान द्वारा संचित कर्म—संशय, विपर्यय आदि बाधित हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति समस्त बन्धनों से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है—अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते । जीवन्मुक्तो नाम स्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन.....साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्य सञ्चित कर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादरिखल बन्धरहितो ब्रह्माण्डः (वे०सा० खं० ३४) । मुण्डक उपनिषद् में भी ब्रह्मज्ञानरूप ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मों के विनष्ट होने तथा हृदयग्रन्थि के खुल जाने से समस्त संशयों के विनष्ट होने का वर्णन है—भिद्यते हृदयग्रन्थिष्ठद्यन्ते सर्वं संशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे (मुण्डको० २.२.८) ।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में ज्ञानाग्नि को ध्रुवाग्नि भी कहा गया है; क्योंकि ध्रुव (स्थिर) ज्ञानरूपी अग्नि का प्राकट्य हो जाने के बाद अज्ञान जनित समस्त विकार विनष्ट हो जाते हैं । स्व अज्ञान एवं उसके कार्यरूप प्रपञ्च के रूइ के समान पर्वत (अम्बर) को जला देने में ज्ञानाग्नि ही सक्षम है, इसलिए इसे ध्रुवाग्नि कहा गया है—स्वाज्ञान तत्कार्य स्वातिरिक्त प्रपञ्चतूलाचलभस्मीकरणपटुत्वात् ध्रुवाग्निःप्रक्षक्षते (ब्रह्मविद्यो० १ ब्रह्म० भा०) ।

११८. ज्ञानेन्द्रियाँ— द्र०-ज्ञानखण्ड—अन्तःकरण-चतुष्टय ।

११९. तत्त्वमसि— द्र०-ज्ञानखण्ड -महावाक्य ।

१२०. तप— द्र०-ज्ञानखण्ड -नियम ।

१२१. तारक ब्रह्म-तारक मन्त्र— उपनिषदों में तारक ब्रह्म और तारक मंत्र की महत्ता प्रतिपादित की गई है । अथर्वशिखोपनिषद्

में तारक को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है—सर्वेभ्यो दुःखभयेभ्यः संतारयतीति तारणात्तारः (अथर्वशिख० २.१) अर्थात् जो समस्त दुःखों और भयों से मुक्त कर दे, वही तारक है । इसी प्रकार अथर्वशिर उपनिषद् में तारक का अर्थ किया गया है कि जिसके (जिस तारक मंत्र के) उच्चारण करने से ही गर्भ, जन्म, जरा-मरण एवं संसार के महाभयों से मुक्ति मिल जाती है, वह तारक ब्रह्म या तारक मंत्र है— अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्यार्यमाण एव गर्भजन्मजरामरणसंसारमहाभयात् संतारयति तस्मादुच्यते तारम् (अथर्वशिर० ४९) । अद्यतारकोपनिषद् में तो तारक का विस्तार से वर्णन किया गया है । उसमें भी तारक ब्रह्म का स्वरूप इसी प्रकार विवेचित है—गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयति तस्मात्तारकमिति (अद्यता० ३) । उपनिषद्कार ने तारक योग का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि नेत्र बन्द अथवा अर्धोन्मीलित रखकर भ्रूमध्य के ऊपरी स्थान में अन्तर्दृष्टि से इस प्रकार का भाव करे कि मैं चैतन्य स्वरूप हूँ । इस प्रकार का ध्यान करते रहकर सञ्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने वाला तद्रूप (तारक रूप) हो जाता है—योगी स्वान्तःब्रह्माहमस्मीत्यालोकयन् तद्रूपः तारकरूपो भवति (अद्यता० २ ब्रह्म० भा०) । तारक ब्रह्म को प्रत्यगात्मा माना गया है—संसारतारकत्वात् तारकं प्रत्यगात्मेत्यर्थः (अद्यता० ३ ब्रह्म० भा०) । हिन्दी विश्वकोश में षडक्षर मंत्र को तारक मंत्र बताया गया है, जिसमें श्रीराम को इसका अधिष्ठाता माना गया है, भा०) हिन्दी विश्वकोश में षडक्षर मंत्र को तारक मंत्र बताया गया है, जिसमें श्रीराम को इसका अधिष्ठाता माना गया है, यह षडक्षर मंत्र 'ॐ रामाय नमः' है । उपनिषदों (रामोत्तरतापनीयोपनिषद् २.३, अथर्वशिर० ४४ आदि), में 'ॐ कार' को भी तारक ब्रह्म—तारक मन्त्र कहा गया है ।

१२२. तुरीयातीत— द्र०-ज्ञानखण्ड—अवधूत ।

१२३. तुरीयावस्था— द्र०-ज्ञानखण्ड-तुरीय-तुरीयातीत ।

१२४. तुर्यावस्था— द्र०-ज्ञानखण्ड -तुरीय-तुरीयातीत ।

१२५. तैजस— द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१२६. त्रय शरीर— द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१२७. त्रिगुणातीत-निर्गुण— द्र०-ज्ञानखण्ड—निर्गुण-सगुण ।

१२८. त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र— संन्यासाश्रम में अनेक प्रकार के संन्यासी होते हैं। उनकी कई शाखाएँ हैं, जिनके अनुसार उनके चिह्न भी पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे कुछ संन्यासी एक दण्ड और कुछ त्रिदण्ड धारण करते हैं। इसी प्रकार कुछ त्रिपुण्ड्र, कुछ ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं। प्रख्यात संस्कृत शब्दकोश 'शब्द कल्पद्रुम' में त्रिदण्ड के सम्बन्ध में उल्लेख है— 'त्रिदण्डं चतुरङ्गुलगोबालवेष्टनादन्योन्यसम्बन्धं अस्त्यस्येति' (श०क०ख० २ प० ६५६) अर्थात् त्रिदण्ड यतियों का वह चिह्न है, जिसमें चार-चार अङ्गुल के तीन दण्ड एक दूसरे में बैंधे रहते हैं। यह तो त्रिदण्ड का स्थूल स्वरूप हुआ। इसके धारण करने के मूल में भाव यह है कि त्रिदण्डधारी-त्रिदण्डी यतियों के कायदण्ड, मनोदण्ड और वाग्दण्ड बुद्धि में स्थापित रहते हैं अर्थात् वे (त्रिदण्डी) ज्ञानशक्ति से मन, वचन और कर्म को नियन्त्रित रखते हैं— वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते (श०क० ख० २, प० ६५६)। हिन्दूधर्म कोश के अनुसार त्रिदण्डी संन्यासी श्री वैष्णव संन्यासी कहे जाते हैं, जो शैव दशनामी संन्यासियों से भिन्न हैं। इनमें केवल ब्राह्मण वर्णोत्पन्न ही ग्रहण किए जाते हैं, वे ही त्रिदण्ड धारण कर सकते हैं। नारद परिव्राजकोपनिषद् में उपनिषद्कार ने यतिचर्या का विवेचन करते हुए लिखा है कि यति को सतत सर्वभूतहितरत रहते हुए शान्त, त्रिदण्डी तथा कमण्डलुधारी होकर आत्मा में रमण करते हुए परिव्रज्या करनी चाहिए और एकाकी ही विचरण करना चाहिए, उसे मात्र भिक्षा के लिए ही ग्राम में प्रवेश करना चाहिए, अन्य कार्यों के लिए नहीं— सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः। एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थ ग्राममाविशेत् (ना०परि० ३.५५)। काया, मन और वाणी को नियन्त्रित रखने वाले त्रिदण्डी को महायति की संज्ञा देते हुए उपनिषद् भाष्यकार ब्रह्मयोगी ने श्रुति का एक श्रोक उद्घृत किया है—वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः। यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः (ना०परि० ३.५४.६२ ब्रह्म० भा०)। शैव सम्प्रदाय का धार्मिक चिह्न त्रिपुण्ड्र है, जो भृकुटी (भौंहों) के ऊपर मस्तक के एक सिरे से दूसरे तक भ्रम की तीन आड़ी रेखाओं के द्वारा अंकित किया जाता है। हिन्दी विश्वकोश में त्रिपुण्ड्र शब्द का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है— त्रयाणां पुण्ड्राणां इक्षुवदाकाराणां समाहारः अर्थात् ईख के आकार की तीन रेखाओं का समुच्चय त्रिपुण्ड्र है। इसे ललाट के अतिरिक्त वक्षस्थल, भुजाओं एवं अन्य अंगों पर भी अंकित किया जाता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् में बहूदक संन्यासी के लक्षण के सन्दर्भ में त्रिपुण्ड्र का उल्लेख किया गया है—बहूदकः शिखादि कन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारीकबलाशी (ना०परि० ५.१३)। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय के सन्तों के ऊर्ध्व पुण्ड्र (मस्तक पर ऊपर की ओर खड़ी रेखा) धारण करने का विधान भी कुछ ग्रन्थों में मिलता है। कुटीचक के लक्षण में भी श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिदण्ड धारण करने का उल्लेख है—एकत्रान्नादन परः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः (ना०परि० ५.१२)।

१२९. त्रिपाद ब्रह्म— ब्रह्म की अनेक संज्ञाओं में एक संज्ञा त्रिपाद ब्रह्म भी है। वेदों, उपनिषदों और पुराणों में सभी जगह त्रिपाद ब्रह्म का उल्लेख मिलता है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—“त्रयः पादा अस्य संख्या सुपूर्वस्य।” जिसके पैरों (पादों या चरणों) की संख्या तीन हो, वह अर्थात् विष्णु भगवान्। पुराणों में उल्लेख है कि एक बार भगवान् विष्णु ने वामन रूप धारण करके राजा बलि से तीन पांग भूमि की याचना की, बलि ने वह देना स्वीकार कर लिया, तब वामन ने अपना मूल स्वरूप (विराट् स्वरूप) दिखाया। बलि को ऐसा अनुभव हुआ कि पृथिवी उनके (विराट् भगवान् के) पादद्वय, अन्तरिक्ष मस्तक, सूर्य और चन्द्र दोनों नेत्र हैं आदि। इसे देखकर वे सम्मोहित हो गये। उस समय भगवान् के एक पाद से बलि की समस्त भूमि (पृथिवी), शरीर से आकाश, भुजाओं से समस्त दिशाएँ छा गईं। उनके दूसरे पाद में स्वर्ग के सभी लोक आ गये, परन्तु तीसरा पाद रखने की जगह शेष न बचने पर उनने उसे स्वर्ग लोक से लेकर मर्त्यलोक, जनः लोक, तपःलोक और सत्यलोक में विस्तारित किया। श्रीमद्भागवत में यह प्रकरण इस प्रकार विवेचित है— “क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे, नभः शरीरण दिशश्च बाहुभिः। पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्ट्यं, न वै तृतीयाय तदीयमणवपि। उरुक्रमस्याइग्निरुपरूपर्यथो, महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः” (भा० ८.२०.३३-३४)। वेद के मत में संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष ही त्रिपाद ब्रह्म है। उस ब्रह्मस्वरूप पुरुष (त्रिपाद ब्रह्म) के सन्दर्भ में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के ऋषि नारायण द्वारा दृष्ट एक-ऋचा में तीन पादों का वर्णन इस प्रकार है—त्रिपादोर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि (ऋ० १०.९०.४) अर्थात् ऊपर (दिव्यलोक में)

जिसके तीन चरण हैं, उस विराट् पुरुष के एक भाग से यह जगत् पुनः प्रकट हुआ। इसके पश्चात् उसने (विराट् पुरुष ने) अन्नभोजी (प्राणियों) तथा अन्न न खाने वाले (वनस्पति आदि) को संब्यास किया। परब्रह्मोपनिषद् में भी जीव के, हृदयाकाश में 'रमा' आदि तीनों नाड़ियों के आत्रय से जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं तथा बन्ध-मोक्ष आदि की अवस्था में विचरण करने एवं उस जीव का त्रिपाद् ब्रह्म ही शेष रहने का उल्लेख किया गया है—सर्वत्र हिरण्मये परेतस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रेष्य ततोऽनु तिष्ठति (परब्रह्मो०२) ।

१३०. त्रिपुटी— त्रिपुटी शब्द का उल्लेख प्रायः सभी कोशग्रन्थों में मिलता है। प्रख्यात कोशग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में त्रिपुटी इस प्रकार व्याख्यायित है— त्रीणि पुटानि सन्त्वस्याः अर्थात् जिसमें तीन पुट हों वह त्रिपुटी कहलाती है। त्रिवृता, निसोथ, सूक्ष्मैला (छोटी इलायची) आदि के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों पुटों का समाहार त्रिपुटी कहलाता है—त्रयाणां ज्ञातृज्ञानज्ञेयस्त्रयाणां पुटानामाकाराणां समाहारः।भूतोत्पत्ते: पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात्। ज्ञातृज्ञानज्ञेयस्त्रपा त्रिपुटी प्रलये हि नो (श०क० खं०२, पृ०६५९)। बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के अतिरिक्त ध्याता, ध्यान, ध्येय और द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन का समाहार भी त्रिपुटी कहलाता है। मंडलब्राह्मण उपनिषद् में भी त्रिपुटी का उल्लेख हुआ है— एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गं समुद्रविन्निवातस्थित दीपवदचल संपूर्णभावाभावविहीन कैवल्यं ज्योतिर्भवति (मं० ब्रा०उ० २.३.१) अर्थात् कैवल्यावस्था प्राप्त साधक की जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी निरस्त हो जाती है, तब लहररहित सागर और वायुरहित स्थल में रखे दीप के समान वह स्थिर हो जाता है तथा सम्पूर्ण भाव और अभावों से रहित होकर केवल ज्योति रूप अवशिष्ट रहता है।

१३१. त्रिष्टुप्—द्र०-अनुष्टुप्।

१३२. त्रैधातवी इष्टि—द्र०-आग्रेयी इष्टि ।

१३३. त्र्यम्बक— त्र्यम्बक देव का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। कोशग्रन्थों के अनुसार त्र्यम्बक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—त्रीणि अम्बकानि, नयनान्यस्य, त्रयाणां लोकानां अम्बकः पितेति वा (वाच०प० ३१९६) अर्थात् तीन नेत्रों वाले भगवान् शिव या तीनों लोकों के पिता भगवान् रुद्र ही त्र्यम्बक हैं। त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में महेश या महादेव को रुद्र भी कहा जाता है; क्योंकि वे सृष्टि के संहारक हैं। रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति से उनका रुद्र नाम और भी सार्थक हो जाता है—रुद्रो रौतीति सतो, रोस्यमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा (नि० १.१.५) अर्थात् वे (संहार करके) रुलाते हैं अथवा जीवों को कठोर दण्ड प्रदान करके रोने को विवश करते हैं, इसलिए ही वे रुद्र कहलाते हैं। रुद्रों की संख्या ग्यारह मानी गई है। एकादश रुद्रों में से एक का नाम त्र्यम्बक है। यजुर्वेद ३.६० में त्र्यम्बक देव की स्तुति इस प्रकार की गई है— त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम्, उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योमुक्षीय माऽमृतात्। शिवजी को महेश या महेश्वर भी कहते हैं। महेश्वर का अर्थ है, महान् ईश्वर। हिन्दी विश्वकोश खं० १७ पृ०२९१ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—महांश्चासावीश्वरश्च कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं वा समर्थः यद्वा महत्या महामायया ईश्वरः शिव, महादेव। ब्रह्मवै० पु० २.५.६.६७ में उल्लेख है— विश्वस्थानाज्व सर्वेषां प्रहतामीश्वरः स्वयम्। महेश्वरञ्च तेनेमं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ इसी प्रकार उपनिषद् में भी रुद्र को ही परब्रह्म, ईशान, महेश्वर और महेश्वर उपन्यस्त किया गया है—तत् परंब्रह्मेति स एकः स एको रुद्रः स ईशानः स भगवान् स महेश्वरः स महादेवः (अर्थर्वशिर०३)। ज्ञानाकंक्षी भक्तों को ज्ञान प्रदान करने, समस्त भावों का परित्याग कर आत्मज्ञान और योगैश्वर्य से अपनी महिमा में ही स्थित रहने के कारण इन्हें महेश्वर कहा गया है—.....योगैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः (अर्थर्वशिर०४)। नोट— त्र्यम्बक के स्थान पर पाठ भेद से कुछ ग्रन्थों में त्र्यम्बक अथवा त्रियम्बक शब्द भी मिलता है।

१३४. दक्षिणाग्नि—द्र०-आहवनीय।

१३५. दक्षिणायन—द्र०- उत्तरायण।

१३६. दर्शयज्ञ— आर्ष ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है, जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञ आदि। दर्श और यौर्णमास यागों (यज्ञों) का नामकरण इनके समय की स्थिति के अनुसार किया गया है। वाचस्पत्यम् में दर्श को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—दृश्येते शास्त्रदृष्ट्या सूर्यचन्द्रौ एकत्र स्थितौ यत्र।सूर्येन्दु सङ्गमकाले अमावास्या तिथौ 'एकत्रस्थौ चन्द्रसूर्यो दर्शनात् दर्श उच्यते (वाच०प० ३४७३) अर्थात् तिथि को चन्द्र और सूर्यदेव एक ही

स्थान पर एकत्र हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। चन्द्रमा और सूर्य के एक स्थान पर दृश्यमान होने के कारण इस अमावस्या तिथि को ही दर्श कहते हैं एवं इस तिथि में सम्पन्न होने वाले यज्ञ को दर्शयज्ञ कहते हैं। इसी प्रकार जिस दिन चन्द्र पूर्ण कलायुक्त दिखाई देता है, उसे पूर्णिमा तिथि कहते हैं- पूर्णः कलाभिः पूर्णोमाश्नन्दपा यत्र। पूर्णिमायाम् (वाच० पृ० ४४०२)। पूर्णिमा को सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ को पूर्णमास या पौर्णमास यज्ञ कहते हैं। श्रुतियों में भी प्रतिपक्ष दर्श और पूर्णमास यज्ञ सम्पन्न करने का वर्णन मिलता है, 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्', 'सर्वेभ्यो दर्श पूर्णमासौ श्रुतिः' (वाच० पृ० ४४०२)। इसीलिए इन्हें श्रौतयाग कहा जाता है। दर्शपौर्णमास याग (यज्ञ) क्रमशः पूर्णिमा और अमावस्या को किये जाते हैं। समस्त कामनाओं की सिद्धि हेतु अग्निहोत्री इन अनुष्ठानों को प्रतिपक्ष करते रहते हैं- सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ (आप० श्रौ० सू० ३.१४.९)। दर्श और पौर्णमास में प्रमुखता पौर्णमास याग की ही है, इसी कारण पूर्णिमा को अग्नि परिग्रह के पश्चात् प्रथम पूर्णिमा आने पर ही पौर्णमास यागानुष्ठान प्रारम्भ होता है। अग्नि परिग्रह अमावस्या और पूर्णिमा दोनों को ही किया जा सकता है। यदि अमावस्या को अग्नि परिग्रह किया गया हो, तो पूर्णमासी आने तक प्रतीक्षा करने के बाद ही याग अनुष्ठान प्रारम्भ होता है। श्रौत ग्रन्थों में अग्निहोत्री को दर्श और पौर्णमास याग का अनुष्ठान सम्पूर्ण जीवन अथवा तीस वर्ष तक अथवा शारीरिक सामर्थ्य रहने तक करने का विधान है- त्रिंशतवर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत् (का० श्रौ० सू० ४.२.४७)। यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत्।त्रिंशतं वा वर्षाणि जीर्णो वा विरमेत् (आप० श्रौ० सू० ३.१४.१२-१३)। कठरुद्रोपनिषद् में उच्चस्थिति के संन्यासी की स्थिति बताते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि उसके द्वारा अमावस्या को किया गया भोजन ही उसका दर्शयज्ञ तथा पूर्णिमा को किया गया भोजन ही उसका पौर्णमास यज्ञ है-यदर्शो तद्वर्षा यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यंवापयेत्सोऽस्याग्निष्टोऽप्तिः (कठरुद्रो० ३)। दर्श और पौर्णमास यज्ञ को दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि भी कहते हैं।

१३७. दहर पुण्डरीक— द्र०- अष्टदल कमल।

१३८. दीक्षा— भारतीय संस्कृति में जीवन की सफलता तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए दीक्षा अति आवश्यक मानी गयी है। हिन्दी विश्वकोश में दीक्षा शब्द की रचना इस प्रकार वर्णित है- दक्षी भावे अ स्त्रियां टाप्। इसके कई अर्थ हैं, जैसे नियम-संकल्प पूर्वक अनुष्ठान, अभीष्ट देवमन्त्र ग्रहण, यज्ञ, पूजन, व्रत-संग्रह, उपनयन संस्कार आदि। उपनयन संस्कार में भी गुरु या आचार्य यज्ञोपवीत प्रदान करते समय शिष्य को गायत्री मंत्र की दीक्षा प्रदान करते हैं। तन्त्र ग्रन्थों में दीक्षा का विस्तार से वर्णन हुआ है। एक तन्त्र ग्रन्थ के अनुसार दीक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना। तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः (वाच० पृ० ३६००) अर्थात् जो विमल ज्ञान देकर कर्म वासना का क्षय कर देती है, उसे तन्त्रज्ञ मुनियों द्वारा दीक्षा कहा गया है। प्रख्यात तन्त्र ग्रन्थ रुद्रयामल में दीक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम्। अतो दीक्षेति संप्रोक्ता दीक्षा तन्त्रार्थवेदिभिः (वाच० पृ० ३६०२) अर्थात् जिससे शिव (कल्याणकारी) से तादात्म्य प्राप्त होता है तथा मलत्रय (लोभ, मोह, अहंकार) का प्रक्षालन होता है, उसे तन्त्रज्ञ मुनियों द्वारा दीक्षा कहा है। योगिनी तन्त्र तृतीय भाग के षष्ठ पटल में भी दीक्षा की महत्ता बताते हुए तन्त्रकार ने लिखा है-दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्। अतो दीक्षेति देवेश! कथिता तत्त्वचिन्तकैः अर्थात् जो ज्ञान-मति प्रदान करती तथा पाशबन्धनों को क्षीण करती है, उसे तत्त्वचिन्तकों ने दीक्षा नाम दिया है। दीक्षा से जीवन जीने की कला में दक्षता प्राप्त हो जाती है, जिससे व्यक्ति स्वयं तो सुख-शान्तिमय जीवनयापन करता ही है, समाज और संस्कृति के उत्कर्ष के लिए भी बहुत कुछ कर गुजरने को समुदाय होता है। सद्गुरु से दीक्षा लिए बिना व्यक्ति 'निगुरा' कहलाता है, जो एक प्रकार की गाली है। अस्तु प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठ गुरु से दीक्षा अवश्य लेनी चाहिए। दीक्षा के बिना मंत्र का जप करना उसी प्रकार समुचित फलदायक नहीं होता, जिस प्रकार पत्थर की चट्टान में बोया बीज अंकुरित नहीं होता-अदीक्षितस्य निन्दामाह तन्त्रसारे-अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जप पूजादिकाः क्रियाः। न भवन्ति श्रियै तेषां शिलायामुमबीजवत् (वाच० पृ० ३६०२)।

यों तो शुभकार्य जितना शीघ्र हो, कर लेना चाहिए; किन्तु दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ समय श्रेष्ठ माने गये हैं। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार-शुक्ल पक्ष में दीक्षा शुभफल प्रदायक होती है। कृष्ण पक्ष में भी पंचमी तिथि तक ली जा सकती है। श्रीकामी को शुक्ल पक्ष में और मुमुक्षु को कृष्ण पक्ष में मंत्र दीक्षा लेना उचित है। विद्वानों का मत है कि रविवार को दीक्षा लेने से धन संचय, चन्द्रवार को शान्ति, भौमवार को आयुः क्षय, बुधवार को सौन्दर्य प्राप्ति, गुरुवार को ज्ञान प्राप्ति, शुक्रवार को सौन्दर्य और शनिवार को यशनाश होता है। ये बातें सामान्य स्थलों पर लागू होती हैं; किन्तु

गङ्गादि पुण्य तीर्थ स्थलों, काशी, प्रयाग, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों में दीक्षा लेने के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया जाता। दीक्षा के अनेक प्रकार हैं—जैसे—मंत्रदीक्षा, अग्निदीक्षा, प्राणदीक्षा। तान्त्रिकों में प्रचलित दीक्षा भी कई प्रकार की होती है, जैसे—समयीदीक्षा, लोकदीक्षा, क्रियादीक्षा और कला दीक्षा आदि। उपनिषद् ग्रन्थों में भी दीक्षा की कई स्थानों पर महिमा गायी गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है—कस्मिन् दीक्षा प्रतिष्ठित सत्य इति (बृह० ३० ३.९.२३)। इसी प्रकार सोम की प्रतिष्ठा दीक्षा में निर्दिष्ट है—सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायाम् (बृह० ३० ३.९.२३)। निर्वाणोपनिषद् में अवधूत लक्षण में दीक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है कि परब्रह्म से संयोग ही उसकी दीक्षा है। उसके लिए किसी स्थूल कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है—परमहंसः सोऽहम्संयोग दीक्षा (निर्वाणो २-१४)।

१३९. देव—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१४०. देवयजन—वेदों, उपनिषदों आदि आर्ष ग्रन्थों में देवयजन शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। हिन्दी विश्वकोश में 'देवयजन' शब्द की रचना इस प्रकार विवेचित है—देवा इन्यतेऽत्र यज आथरे ल्युट्। इसके तीन अर्थ हैं— वेदिस्थान (यज्ञवेदी), यज्ञ करने का स्थल और पृथिवी। सामान्यतया इस शब्द का अर्थ 'देवताओं के लिए यज्ञ क्रिया' जैसा प्रतीत होता है; किन्तु इसका वास्तविक अर्थ यज्ञवेदी, यज्ञकुण्ड, यज्ञस्थल आदि है। शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौत सूत्र आदि ग्रन्थों में इसका अर्थ यज्ञवेदी, यज्ञ स्थल होने की पुष्टि की गई है—“वेदीमार्जन प्रशंसार्थमितिहासमाप्त्। आ समन्नात् मृतं सर्वदा नश्वरमामृतं तद्विपरीतं यदेवयागाधिकरणभूतं स्थानम्” (वाच०प० ३७३९)। जाबालोपनिषद् में देवयजन का दार्शनिक स्वरूप इस प्रकार विवेचित है—“याज्ञवल्क्य के यह पूछने पर कि प्राणों का क्षेत्र तथा इन्द्रियों का देवयजन क्या है? बृहस्पति ने कहा कि अविमुक्त ही प्राणों का स्थल (कुरुक्षेत्र) है और वही इन्द्रियों का देवयजन (यज्ञस्थल) है तथा वही प्राणियों का ब्रह्मसदन भी है—यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् (जाबालो १.१)। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श में उल्लेख है कि यागोचित स्थल में ही देवयजन का निर्माण किया जाता है। देवयजन के निर्मित उस स्थल की कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए, जैसे—जहाँ कृष्णसार मृग स्वाभाविक रूप से विचरते हों, वह स्थान देवयजन के लिए उपयुक्त होता है— कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः (मनु० २.२३)।

१४१. द्रष्टा— आर्ष ग्रन्थों में 'द्रष्टा' शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः 'देखने वाले' के अर्थ में ही द्रष्टा शब्द प्रचलित है; किन्तु विशेषणों सहित इसके कई प्रकार के शब्द व अर्थ बनते हैं; जैसे—मूकद्रष्टा (चुप रहकर देखने वाला), भविष्यद्रष्टा (भविष्य देखने वाला), दूरद्रष्टा (दूर तक देखने वाला), युगद्रष्टा (वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान खोजने वाला अथवा भावी युग के दृश्य को पहले से देख लेने वाला) आदि। इसी प्रकार ईश्वर का एक नाम भी सर्वद्रष्टा (सब कुछ देखने वाला) है। इसीलिए मैत्रेयी उपनिषद् में साधक कहता है कि मैं जगत् का सर्वद्रष्टा नहीं हूँ अर्थात् वह ईश्वर ही जगत् का सर्वद्रष्टा है— न जगत्सर्वद्रष्टास्मि (मैत्र० ३.१४)।

निरुक्तकार यास्क मुनि ने मन्त्रों का दर्शन करने वाले ऋषियों को भी 'द्रष्टा' की संज्ञा प्रदान की है। उनके अनुसार मन्त्रों अथवा ऋचाओं का दर्शन या साक्षात्कार करने के कारण ही वे ऋषि कहलाते हैं— दर्शनात् ऋषिः (निं० २.३.१२)। इसीलिए ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा गया है—साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः।ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मन्त्रकाले बभूवुः (निं० १.६.२०)। पातञ्जल योग सूत्र में आत्मा को द्रष्टा तथा अन्तःकरण को दृश्य बताते हुए सूत्रकार ने इन दोनों के संयोग को दुःख का हेतु कहा है—द्रष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः (पातं० यो० सू० २.१७)। मैत्रेयी उपनिषद् २.२९ में उल्लेख है कि मुमुक्षु को चाहिए कि वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को वासना के साथ ही त्यागकर उस आत्मा का ही भजन करे (उसी में रमण करे), जिसमें दर्शन का सर्वप्रथम आभास होता है—द्रष्टदर्शन दृश्यानि त्यक्त्वाकेवलं भज। भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में देहस्थित पुरुष को साक्षी होने से उपद्रष्टा कहा है—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्युरुषः परः (गी० १३.२२)।

१४२. द्वैत—द्र०-ज्ञानखण्ड-अद्वैत।

१४३. धर्म— द्र०-ज्ञानखण्ड-धर्म-अधर्म।

१४४. धारणा— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४५. धृति— सामान्यतः धृति का उल्लेख धर्म के दस लक्षणों के अन्तर्गत आता है। मनुस्मृति ६.९२ में धृति (धैर्य या सन्तोष) को धर्म का प्रथम लक्षण माना गया है— धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ धृ+किन् से निर्मित धृति शब्द के कोश ग्रन्थों में कई अर्थ हैं जैसे— धारण करना, तुष्टि, सन्तोष, तुसि, धैर्य, मन की दृढ़ता और बोड़श मातृकाओं में से एक का नाम आदि। श्री महिनाथ ने रघुवंश की अपनी टीका में धृति को धैर्य या प्रीति माना है— 'धृतिधैर्यं प्रीतिर्वा' (वाच०पृ० ३९०६)। मानसिक धारणा को भी धृति कहते हैं। गीता (१८.३३-३५) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इसके सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन भेद बताये हैं— धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयते अर्जुन। प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुच्यति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

औपनिषदिक परिप्रेक्ष्य में यमों के भी दस प्रकार हैं। पातञ्जल योग के अनुसार सामान्यतः पाँच यम व पाँच नियम माने जाते हैं; किन्तु जाबाल दर्शनोपनिषद् में इन्हें दस-दस माना गया है। जिनमें एक यम 'धृति' भी है— अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽर्जवम्। क्षमा धृतिर्पिताहारः शौचं चेति यमा दश (जा०दर्शनो० १.६)। उपनिषद्कार ने धृति को इन शब्दों में परिभाषित किया है— वेदादेव विनिर्माक्षः संसारस्य न चान्यथा। इति विज्ञान निष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः (जा०दर्शनो० १.१७) अर्थात् वेदादि की अनुकूलता (वैदिक मार्ग पर चलने) से ही सांसारिक प्राणियों को मोक्ष प्राप्त होता है। इससे भिन्न मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। इस प्रकार के दृढ़ निश्चय या दृढ़ धारणा को ही ज्ञानी जनों द्वारा धृति कहा गया है।

१४६. ध्यान— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४७. ध्यानग्री-द्र०-ज्ञानग्री।

१४८. नवद्वार— आध्यात्मिक सन्दर्भ में मानव शरीर में स्थित नवद्वारों की चर्चा की जाती है। ये नव (९ की संख्या) द्वार शरीर में स्थित विभिन्न इन्द्रियों के छिद्र ही हैं। प्रख्यात कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में नवद्वार इन शब्दों में विवेचित है— नवद्वा-राणीव चित्तवृत्त्यादेव्हिर्हिर्गमन साधनत्वात् यत्र। देहे तत्र नवभिद्वौरिश्चित्तादेव्हिर्हिर्गमनात्स्य तथात्वम्। तथा हि द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके च मुखमेकमिति शीर्ष स्थानि सप्त द्वे पायूपस्थे अधः स्थे इति नवच्छिद्र रूपाणि द्वाराणि देहे सन्ति (वाच.पृ. ३९८८) अर्थात् देहस्थित नवद्वारों के माध्यम से चित्त वृत्तियाँ बहिर्गमन करती हैं, इसीलिए दो कान, दो आँखें, दो नासिका छिद्र, एक मुख, एक उपस्थिति तथा एक गुदा इन नौ छिद्रों वाली इन्द्रियों को नवद्वार कहते हैं। शास्त्रों की ऐसी मान्यता है कि इस शरीर से जब प्राण बहिर्गमन करता है, तो इन्हीं नौ द्वारों में से किसी एक से होकर निकलता है; किन्तु योगीजन सहस्रार चक्र से प्राण निष्क्रमण करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लेख है— नवद्वारे पुरे देही हः सो लेलायते बहिः (श्वेता० ३.१८) तात्पर्य यह है कि वह परम पुरुष-आत्मा प्रकाश स्वरूप है, जो नवद्वार वाले शरीर रूप नगर में अन्तर्यामी होकर विद्यमान है, वही बाह्यजगत् में विविध प्रकार से लीलाएँ कर रहा है— मैत्रेयी उपनिषद् में शरीरगत नौ छिद्रों को मल निष्कासन करने वाला कहकर यह विधान बताया गया है कि इसे (इस शरीर को) छूकर स्नान करना चाहिए अथवा पवित्र रखना चाहिए— विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्टवा स्नानं विधीयते। नवद्वारमलस्वावं सदाकाले स्वभावजम् (मैत्र० २.५-६)।

१४९. नाद— द्र०-अनाहत नाद।

१५०. निःस्पृह-द्र०-ज्ञानखण्ड।

१५१. निदिध्यासन— भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म साक्षात्कार अथवा आत्मानुसन्धान के विविध आयामों में श्रवण, मनन आदि के क्रम में निदिध्यासन का भी उल्लेख है। वेदान्त दर्शन में यह उल्लेख इन शब्दों में है— एवं भूतस्वरूप चैतन्य साक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षित तत्त्वात्तेऽपि प्रदशर्यन्ते (वै०सा० ३०) अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप चैतन्य (ब्रह्म) के साक्षात्कार हो जाने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, ये अनुष्ठान आवश्यक हैं। ब्रह्म साक्षात्कार हेतु साधना का प्रथम चरण 'श्रवण' है। श्रुति वाक्यों द्वारा ब्रह्म के सन्दर्भ में सुनना (श्रवण करना) चाहिए; तदुपरात ही उस पर मनन, निदिध्यासन व समाधि (ध्यान की उच्चतम स्थिति) सम्भव है। इन सबके बाद ही ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है। साधक द्वारा किसी सुयोग्य गुरु की शरण में जाकर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों

को सुनकर षड्विधलिङ्ग द्वारा ब्रह्म के सन्दर्भ में उनका अभिप्राय निर्धारित करना वेदान्त की भाषा में 'त्रवण' कहलाता है- श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यविधारणम् (वे०सा०३०)। अध्यात्मोपनिषद् में भी 'त्रवण' इसी प्रकार निर्दिष्ट है- इत्यं वाक्यैस्तथार्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् (अध्यात्मो०३३) अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म ऐक्य का अर्थानुसन्धान 'त्रवण' है। इसे और सरल शब्दों में कहें, तो इस प्रकार कह सकते हैं कि आस पुरुषों अथवा गुरु आदि के द्वारा जीव-ब्रह्म ऐक्य, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना 'त्रवण' अथवा 'सिद्धान्त त्रवण' कहलाता है। वेदान्तसार रचयिता श्री सदानन्द ने 'त्रवण' के अगले उपक्रम 'मनन' का अर्थ, त्रवण की गई अद्वितीय वस्तु का वेदान्तानुरूप तर्कों द्वारा चिन्तन करना बताया है- मननं तु श्रुतस्यद्वितीय वस्तुनो वेदान्तानुगुण युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम् (वे०सा०३०)। उपनिषद् में भी शब्दान्तर से मनन की यही परिभाषा वर्णित है- युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् (अध्यात्मो०३३) अर्थात् त्रवण किए गए तथ्य के अर्थ पर तर्क पूर्वक विचार करना 'मनन' कहलाता है। मनन का अगला चरण निदिध्यासन है। इसमें साधक त्रवण और मनन किए गए विषय में सन्देहरहित होकर, उसमें चित्त को एकाग्र कर स्थिर कर लेता है, चित्त का यही एकतानत्व निदिध्यासन कहलाता है। उपनिषद्कार ने निदिध्यासन की स्थिति इस प्रकार बतायी है- ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे- चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्विद्व निदिध्यासनमुच्यते (अध्यात्मो०३४)।

वेदान्तसार में निदिध्यासन की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है- विजातीय देहादि प्रत्ययरहिता द्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम् (वे०सा०३०)। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर आदि जड़ होने से (आत्मा के) विजातीय हैं, इन विजातीय विचारों से रहित तथा अद्वितीय वस्तु ब्रह्म विषयक सजातीय विचारों का सतत (तैलधारावत्) अविच्छिन्न प्रवाह ही निदिध्यासन है। दूसरे शब्दों में आत्मा की सजातीय प्रतीतियों में चित्त का अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होना ही निदिध्यासन है। निदिध्यासन के बाद अन्तिम अवस्था समाधि है। चित्त की एकाग्रता का नाम समाधि है। इसकी व्युत्पत्ति से ही इसका अर्थ स्पष्ट है- सम्यक् आर्थीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहत्य मनः यत्र स समाधिः (वे०वि०प०० २७९) अर्थात् विक्षेपों का परिहार हो जाने पर जब मन एकाग्र हो जाता है, उस स्थिति को 'समाधि' कहते हैं। स्थिति के अनुरूप इसके कई भेद भी होते हैं। इस सन्दर्भ में १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में समाधि प्रकरण में विस्तृत उल्लेख किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य बताते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मदर्शन-आत्म साक्षात्कार को ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य बताया है- आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदः सर्वं विदितम् (बृह०३०२.४.५.)।

१५२. नियम— योग दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए नियम पालन आवश्यक है। जिस प्रकार पातञ्जल योग में पाँच यम वर्णित हैं, उसी प्रकार पाँच नियम-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान भी हैं। योगदर्शन में उल्लेख है- शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (पातं०यो० सू०-३२)। अध्यात्म पथ के पथिक को अपने जीवन क्रम में इन नियमों को समाविष्ट करना आवश्यक है। शब्द कल्पद्रुम में नियम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- नियमः पुं- (नियमनमिति । नि+यम) अर्थात् आत्म नियमन=नियन्त्रण। यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मवर्य और अपरिग्रह) को स्वभाव का अंग बनाने के लिए इन नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर पूजन) आवश्यक है। वस्तुतः यम और नियम अन्योन्याश्रित हैं। कुछ उपनिषदों व शास्त्रों में दशविध नियम वर्णित हैं- तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव हीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु (जा०दर्शनो० २.१) अर्थात् तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ही (लज्जा), मति, जप और व्रत ये नियम हैं; किन्तु ऊपर वर्णित योग दर्शन के पाँच नियम (शौच, सन्तोष, तप आदि) ही अधिक प्रचलित हैं।

प्रथम-नियम शौच है। शौच अर्थात् पवित्रता, १. बाह्यशौच २. आध्यन्तर शौच। मिट्टी और जल से शरीर, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि को शुद्ध रखना बाह्य शौच है। मैत्री आदि से ईर्ष्या, अभिमान, वृणा-आदि मलों को साफ करना आन्तरिक या आध्यन्तर शौच है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में उल्लेख है- स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृजलाभ्यां महामुने। यत्तच्छौचं भवेद् बाह्यं मानसं मननं विदुः। अहं शुद्ध इति ज्ञानं रपते नरः (जा०दर्शनो० १.२०-२२) अर्थात् मिट्टी और जल से शरीर को पवित्र रखना बाह्य शौच है; किन्तु ज्ञानीजन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ' ऐसा भाव रखने को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते हैं। शरीर तो बाहर-भीतर उभयविध अशुद्ध है; पर इसमें निवास करने वाला देही अत्यन्त निर्मल है। ऐसा ज्ञान होने

पर उसे पवित्र किया जाए। अतः हे मुने! जो ज्ञान रूप पवित्रता को छोड़कर बाह्य पवित्रता में ही रमा रहता है, वह स्वर्ण के स्थान पर मिट्टी के ढेलों का ही संग्रह करता है।

दूसरा-नियम सन्तोष है। अपनी स्थिति के अनुरूप उचित प्रयास करने पर जो भी फल प्राप्त हो, उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है। सन्तोष को सुख का मूल और इसके विपरीत स्थिति को दुःख का मूल कहा गया है—सन्तोषं परमास्थाय रहना सन्तोष है। सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः (मनु० ४.१२)। इसी तथ्य की पुष्टि जाबाल दर्शनोपनिषद् में भी मिलती है—यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्यां जायते नृणाम्। तत्सन्तोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकं तत्पराः (जा० दर्शनो० २.५)। प्रभु इच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसी में सन्तुष्ट रहना विद्वानों ने सन्तोष कहा है। सर्वत्र अनासक्त भाव से रहकर ब्रह्मलोक तक के सुख से, विरक्ति और हर स्थिति में प्रसन्नता यही सर्वश्रेष्ठ सन्तोष है।

तीसरा-नियम तप है। अश्व विद्या के कुशल सारथी द्वारा चञ्चल घोड़ों को साधने के समान, साधक द्वारा शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को समुचित प्रकार से वश में करना तप कहलाता है। जाबालदर्शन उपनिषद्कार ने तप की परिभाषा इस प्रकार की है— वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यज्ञतप इत्युच्यते बुधैः (जा० दर्शनो० २.३) अर्थात् वेदोक्त कृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत करके शरीर को क्षीण करना ही तप है, ऐसा विद्वान् कहते हैं। वस्तुतः उच्च आदर्शों के लिए कष्ट सहन करने का नाम ही तप है। महर्षि पतञ्जलि ने तप तीन प्रकार के माने हैं— शरीरं का तप, वाणी का तप और मन का तप। शारीरिक तप के अन्तर्गत युक्त आहार- उचित आहार, सादा-सत्त्विक, सुपाच्य और मिताहार तथा युक्त विहार के अन्तर्गत संतुलित यात्रा, चलना-फिरना आदि है। इसी प्रकार युक्त कर्मचेष्टा अर्थात् नियमित रूप से कर्तव्य पालन, न अधिक त्रैम, न आलस्य-प्रमाद बरतना, युक्त स्वप्रावबोध अर्थात् न अधिक सोना, न अधिक जागना। इस सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक—'युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। युक्त स्वप्रावबोधस्य योगो भवति दुःखहा' (गी०६.१७)। वाणी के तप का अर्थ है—वाणी को संयमित रखना। हितकर, प्रिय, मधुर और मित बोले। मन का तप मन को संयमित रखना है। द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि के भाव मन में न रखना मन का तप है।

चौथा-नियम स्वाध्याय है। जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन आदि की सतत आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार विचार संस्थान भन-मस्तिष्क को सुव्यवस्थित-सन्तुलित रखने के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता अनिवार्य रूप से है। स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है— स्व-अपना, अध्याय-अध्ययन। अपना अध्ययन अर्थात् आत्मावलोकन ही स्वाध्याय है। वाचस्पत्यम् में स्वाध्याय की व्युत्पत्ति इन शब्दों में दी है— स्वः स्वकीयत्वे विहित अध्यायः। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इति श्रुतिः। स्वाध्याय के द्वारा वेद, शास्त्र, उपनिषद्, गीता व अन्य आर्षग्रन्थों का अध्ययन करके उससे प्राप्त ज्ञान के दर्पण में साधक अपने को देखकर आत्म समीक्षा करता है, जिससे आत्म सुधार होता है व आध्यात्मिक उन्नति होती चली जाती है। पातञ्जल योग के अनुसार औंकार सहित गायत्री मंत्र का जप ही स्वाध्याय है।

पाँचवाँ-नियम ईश्वर प्रणिधान है। फल सहित समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। यह समस्त नियमों में प्रमुख है। पातञ्जल योग प्रदीप में साधन पाद सूत्र- ३२ की व्याख्या में ग्रन्थकार ने महर्षि वेदव्यास कृत भाष्य का उद्धरण देते हुए ईश्वर प्रणिधान का फल इस प्रकार विवेचित किया है—शाय्यासनस्थोऽथ पथि ब्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीण वितर्कजालः। संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्त्रित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥ जो योगी पुरुष शश्या और आसन पर विराजमान या पथ पर गमन करता हुआ अथवा एकान्तस्थ हो, हिंसा आदि वितर्कजाल को विनष्ट करके ईश्वर प्रणिधान करता है, वह अविद्या आदि क्लेशों का विनाश करता हुआ नित्य स्वरूप परमात्मा से युक्त हुआ जीवन्मुक्त का सुख प्राप्त करता है। अतः सभी यमों और नियमों को परब्रह्म में अर्पण करके ईश्वर प्रणिधान करे। जाबालदर्शनोपनिषद् ने ईश्वर प्रणिधान को ईश्वर पूजन कहा है, जिसकी परिभाषा इस प्रकार दी है— रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना। हिंसादिरहितं कर्म यज्ञदीश्वर पूजनम् (जा० दर्शनो० २.८) अर्थात् अनृत भाषण आदि दोषों से रहित तथा हिंसा आदि कूरता से मुक्त कर्म ही ईश्वर पूजन है।

१५३. निरञ्जन— द्र०- चिद्घन।

१५४. निरहंकारिता— द्र०- अमानित्व गुण।

१५५. निर्गुण— द्र०- ज्ञानखण्ड -निर्गुण-संगुण।

१५६. निर्वाण— निर्+वा+क्त से निर्मित निर्वाण शब्द का प्रयोग प्रायः निवृत्ति, शान्ति, अस्तगमन, वाणशून्य, शून्य, विश्रान्ति और मुक्ति या मोक्ष के अर्थ में होता है। दर्शन में इसका मुक्ति के अर्थ में ही अधिक प्रयोग हुआ है। सामान्य धारणा यह

है कि शरीर छूटने के उपरान्त पूर्व कर्मानुसार पुनर्जन्म होता है, पर किसी-किसी योगी के समस्त कर्मक्षय हो जाने पर मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म नहीं होता, यही स्थिति निर्वाण अथवा मोक्ष अथवा मुक्ति कहलाती है; किन्तु दर्शन ग्रन्थों में तृष्णा की सम्यक् निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है-तृष्णाया विप्रहाणेन निर्वाणमिति कथ्यते (हिं०विं०को० खं० १२) अर्थात् यह जगत् कल्पित और आधाररहित है। अतः इस मिथ्या संसार के साथ अपने को सम्बद्ध रखने की प्रबल आकांक्षा का नाम ही तृष्णा है। इस तृष्णा के विनष्ट हो जाने पर ही संसारोच्छेद, आत्माभिमान का विनाश और निर्वाण प्राप्त होता है। प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ के अनुसार अपनेपन और संसार के अभाव का नाम ही निर्वाण है। जिस अवस्था में न संसार है, न मैं हूँ, वह स्थिति दुर्बोध और गम्भीर है, यही स्थिति निर्वाण है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। वहाँ सर्वत्र इसका अभिप्राय मुक्ति से ही लिया गया है। उनका मन्त्रव्य है कि जिस प्रकार ईंधन न होने पर अग्नि निर्वाण को प्राप्त हो जाती है (बुझ जाती है), ठीक उसी तरह काम, क्रोध, लोभ और मोह जनित संस्कार के समूल नष्ट हो जाने से सत्ता या अस्तित्व का विलोप हो जाता है। सत्ता का निरोध ही निर्वाण कहलाता है। अश्वघोष ने बुद्ध चरित में उल्लेख किया है- करुणायमाना ज्यायस्यो मृत्युभयविमोहिताः। नैर्वाणे स्थापनीयास्तत् पुनर्जन्मनिवर्त्तके (हिं०विं०को०खं० १२ पृ० ७१) अर्थात् निर्वाण द्वारा पुनर्जन्म से निवृत्ति हो जाती है। समस्त (अच्छे या बुरे) संस्कारों का क्षय हो जाने पर पुनर्जन्म से निवृत्ति हो जाती है (हिं०विं०को०)। अस्तु, संस्कार समूह के क्षय हो जाने पर ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। बोधिचर्यावतार ग्रन्थ में उल्लेख है कि सर्वत्याग (जगत्, सुख-दुःख और अभिमान आदि सभी का त्याग) का ही दूसरा नाम निर्वाण है-सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थिं च मे मनः (हिं०विं०को०खं० १२ पृ० ७२)।

निरालम्ब उपनिषद् के अनुसार मुक्ति या मोक्ष (निर्वाण) नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से नश्वर संसार के सुख-दुःख प्रदाता सम्पूर्ण विषयों से ममत्व रूप बन्धन को नष्ट कर देना है-मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तु विचारादनित्य संसारसुखदुःखविषयसमस्तक्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः (निरा० २९)। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने ज्ञानाग्नि द्वारा समस्त कर्मों के क्षय का उपदेश दिया है-ज्ञानाग्निः सर्वकर्मणि भस्मसात् कुरुते तथा (गी० ४.३७)। आत्मज्ञान हो जाने पर समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। ब्रह्म की अनुभूति हो जाने पर साधक अपने को अजर, अव्यय, सूक्ष्म, अक्षर, अविकल, निर्मल और निर्वाण मूर्ति अनुभव करने लगता है। “एकोऽहमनिर्वाणमयसंविदम्” (मैत्र० १.१४)।

१५७. निर्विकल्पक — द्र०-ज्ञानखण्ड -समाधि।

१५८. निर्विकार — द्र०-चिदधन।

१५९. निष्कल — द्र०-चिदधन।

१६०. निष्काम कर्म — द्र०- ज्ञानखण्ड।

१६१. पञ्चकोश — द्र०- ज्ञानखण्ड।

१६२. पञ्चतत्त्व-पञ्च तन्मात्राएँ — सम्पूर्ण सृष्टि पञ्चतत्त्वों अथवा पञ्चमहाभूतों से निर्मित मानी जाती है। यह शरीर भी पञ्चतत्त्वों का ही बना हुआ है। ये पाँच तत्त्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। ये ही पाँचों तत्त्व समस्त पद के रूप में पंच तत्त्व कहलाते हैं। प्रख्यात कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में उल्लेख है-पञ्चानां तत्त्वानां समाहारः। पञ्चसु भूतेषु स्वरोदयः। तंत्र ग्रन्थों में पञ्च मकार-मध्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को पञ्च तत्त्व कहा गया है- “मद्यं मासं तथा मत्स्यो मुद्रा मैथुनमेव च। पञ्चतत्त्वमिदं प्रोक्तं देविः। निर्वाणहेतत्वे। मकारपञ्चकं देविः। देवानामपि दुर्लभम्। पञ्चतत्त्वविहीनानां कलौ सिद्धिर्न जायते (वाच० पृ०-४१८६) ” अर्थात् मद्य-मांसादि पञ्च तत्त्व देवों को भी दुर्लभ हैं। इनके बिना कलियुग में निर्वाण सिद्धि नहीं मिल पाती। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह आलङ्कारिक वर्णन है। प्रत्यक्षतः इनका सेवन करके सिद्धि प्राप्त होने की बात नहीं कही गई है। अन्य तन्त्रग्रन्थों में गुरुतत्त्व, मंत्र तत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यान तत्त्व इन्हें पञ्चतत्त्व माना गया है- गुरुतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि! देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं पञ्चतत्त्वं प्रकीर्तिम् (निर्वाण तंत्र)। सृष्टि में विद्यमान जिन पञ्चतत्त्वों का वर्णन है, वे पृथ्वी आदि पञ्चतत्त्व ही हैं। रामचरित मानस के किञ्चित्त्वा काण्ड में एक चौपायी में इन तत्त्वों का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है-छिति, जल, पावक, गगन समीरा। पञ्च रचित अति अथम सरीरा ॥ त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में इस अखिल जगत् की उत्पत्ति के क्रम में भी पञ्च तत्त्वों का उल्लेख मिलता है-इन तत्त्वों का अनुपात इस प्रकार है-पृथ्वी १/२+जल १/८+अग्नि १/८+आकाश १/८+वायु १/८=पृथिवीतत्त्व, इसी प्रकार अन्य चारों तत्त्वों के १/२ अंश में शेष चारों तत्त्वों का अनुपात १/८, १/८ होने पर ही वे

पूर्ण तत्त्व बनते हैं। जाबाल दर्शनोपनिषद् में शरीर स्थित अङ्ग विशेषों में तत्त्वों की प्रधानता के सन्दर्भ में इस प्रकार उल्लेख है— देहमध्यगते व्योग्मि बाह्याकाशं तु धारयेत्। प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे। आकाशांशस्तथा प्राज्ञः मूर्धीशः परिकीर्तिः (जा०दर्शनो० ८.१-५) अर्थात् तत्त्वाधिक्य की दृष्टि से पाँव से घुटने तक का भाग (पृथिवी तत्त्व के आधिक्य के कारण) पृथिवी तत्त्व का भाग कहलाता है, घुटने से गुदा तक जलीय अंश, गुदा से हृदय तक का अन्यंश, हृदय से भौंहों तक वायंश तथा मस्तक क्षेत्र आकाशांश कहा गया है। इन तत्त्वों में देवों के ध्यान के सन्दर्भ में वर्णन है कि पृथिवी तत्त्वांश में ब्रह्मा का, जलतत्त्वांश में विष्णु का, अग्नितत्त्वांश में महेश का, वायुतत्त्वांश में ईश्वर का तथा आकाश तत्त्वांश में सदाशिव का ध्यान करना चाहिए—ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा। अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चनिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत् सदाशिवम् (जा०दर्शनो० ८.५-६)।

१६३. पञ्चमहायज्ञ—द्र०-वानप्रस्थ।

१६४. पञ्चमात्रा—द्र०-अवधूत।

१६५. परब्रह्म—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म।

१६६. परमगति—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६७. परमज्योति—द्र०-चिदधन।

१६८. परम तत्त्व—द्र०चिदधन।

१६९. परम पद—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१७०. परमपुरुष—द्र०-चिदधन।

१७१. परम व्योम—वेद, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों में परमव्योम शब्द का उल्लेख हुआ है। व्योम शब्द सामान्यतः अन्तरिक्ष या आकाश के लिए प्रयुक्त होता है; किन्तु इसमें परम विशेषण जोड़ देने से इसका अर्थ पराचेतना हो जाता है, जो सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। ऋग्वेद १.१६४.३९ में वेदों की ऋचाओं के परमव्योम में स्थित होने का वर्णन है— ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः अर्थात् अविनाशी ऋचाएँ परमव्योम में विद्यमान हैं, जहाँ सम्पूर्ण देव शक्तियों का वास है। कहा जाता है कि प्रलय हो जाने पर भी यह दिव्य ज्ञान तथा सृष्टि के तत्त्व कभी नष्ट नहीं होते; वरन् अपनी परम चेतना, पराचेतना या परमव्योम में समाहित हो जाते हैं और जब पुनः सृष्टि का आविर्भाव होता है, तब प्रकट होते हैं। यों तो यह बात कल्पित जैसी लगती है; किन्तु इसकी यथार्थता को कम्प्यूटर तन्त्र के मास्टर कम्प्यूटर के उदाहरण से स्पष्टतया समझा जा सकता है— जिस प्रकार मास्टर कम्प्यूटर के साथ माइक्रोवेव टार्वर्स द्वारा विभिन्न कम्प्यूटर जुड़े रहते हैं। देश के किसी भी कम्प्यूटराइज्ड रेलवे स्टेशन से कहीं के भी रेलवे का टिकट बुक कराने से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय आँकड़ों को जानने तक में कम्प्यूटर की इस प्रणाली का उपयोग किया जाता है, किन्तु यदि किसी कम्प्यूटर में गड़बड़ी हो जाये, तो उसके पर्दे पर आँकड़े न आने पर भी वे पूर्णतः नष्ट नहीं होते, वरन् अपने मास्टर कम्प्यूटर में समा जाते हैं। जब मशीनरी ठीक हो जाती है, तो वे आँकड़े पुनः उस कम्प्यूटर पर भी आने लगते हैं, जो कुछ समय पहले खराब हो गया था। ठीक इसी तरह पराचेतना-परमव्योम में सम्पूर्ण ज्ञान व सृष्टि के सभी तत्त्व अवस्थित रहते हैं। पृथिवी आदि किसी एक केन्द्र (ग्रह) के नष्ट हो जाने पर भी वे नष्ट नहीं होते तथा परम व्योम में समाहित हो जाते हैं और नये सिरे से पुनः प्रकट होते हैं। ऋग्वेद में वाणीरूपी गौ के सहस्राक्षरों से युक्त होकर परम व्योम में संव्यास होने की बात इस मंत्र में द्रष्टव्य है— गौरीरीर्माय ...सहस्राक्षरा परमे व्योम (ऋ० १.१६४. ४१)। एकाक्षरोपनिषद् में भी उस अक्षर ब्रह्म को संसार का आदि कारण, समस्त प्राणियों का स्वामी, पुराण पुरुष तथा समस्त भुवनों का रक्षक कहकर उस पराचेतना का ही संकेत दिया गया है— एकाक्षरांत्वक्षरेऽत्रास्ति ...भुवनस्य गोमा (एकाक्षरो० १)। उस एकाक्षर ब्रह्म को हिरण्यगर्भ स्वरूप कहकर प्राणियों के हृदय व्योम (हृदयाकाश) में प्रकाशित होने वाला विवेचित किया गया है— वितत्य बाणं तरुणाक्वर्णं व्योमान्ते भासि हिरण्यगर्भःअरिष्टनेमि: (एकाक्षरो०४)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उस विराट् ब्रह्म को त्रिपादूर्ध्वं कहकर यह बताया गया है कि उसके एक चरण में ये समस्त प्राणी हैं तथा तीन चरण अनन्त दिव्य लोक (परम व्योम) में स्थित हैं— ...पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (ऋ० १०.१०.३) त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्युनःअभिः (ऋ० १०.१०.४)। अध्यात्मोपनिषद् में उल्लेख है कि जिस प्रकार घटाकाश (शरीर स्थित आकाश), महाकाश (परमव्योम) में स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके योगी को

सतत शान्त रहना चाहिए-घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परमात्मनितूष्णीं भव सदा मुने (अध्यात्मो० ७)।

१७२. परमसिद्धान्तश्रवण—द्र०-निदिध्यासन।

१७३. परमहंस—द्र०-अवधूत।

१७४. परमात्मभाव—द्र०-अद्वयानन्द।

१७५. परमानन्द—द्र०-अद्वयानन्द।

१७६. परलोक—द्र०-ज्ञानखण्ड-परलोक, सप्तलोक।

१७७. परात्पर—द्र०-चिदघन।

१७८. परिव्रजक—द्र०-ज्ञानखण्ड-परिव्रज्या, परिव्राजक।

१७९. पश्चिमलिङ्ग—भारतीय संस्कृति में चार आश्रम माने गये हैं, जो जीवन को चार भागों में विभाजित करते हैं। जीवन के प्रथम चरण का आश्रम ब्रह्मचर्य, द्वितीय चरण का गृहस्थ, तृतीय चरण का वानप्रस्थ और चतुर्थ चरण का आश्रम संन्यास कहलाता है। संन्यास आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को परिव्राजक भी कहते हैं। इनका प्रमुख कार्य अपने को पूर्णरूपेण परिष्कृत करके सतत लोकोपयोगी कार्यों में अपने को निरत रखकर परिव्रज्या करना होता है। संन्यासियों के कुछ चिह्न भी होते हैं, जैसे- शिक्य, कमण्डलु, दण्ड आदि। इन चिह्नों को धारण करने वाले संन्यासी (परिव्राजक) व्यक्त विष्णुलिङ्ग कहलाते हैं। उल्लेखनीय है कि परिव्राजकों (संन्यासियों) को विष्णुरूप मानने के कारण उन्हें विष्णुलिङ्ग कहते हैं। इनमें कुछ पूर्व लिङ्ग तथा कुछ पश्चिम लिङ्ग परिव्राजक कहलाते हैं—परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गः (निर्वाणो० ३)। पूर्वलिङ्ग (व्यक्त विष्णु लिङ्ग) परिव्राजक होते हैं, जो संन्यास के गुणों, दया, क्षमा, करुणा, निरहंकारिता, निर्विकारिता आदि गुणों को धारण करके संन्यासी के बाह्य लिङ्ग (चिह्न) शिक्य, कमण्डलु, दण्ड आदि भी धारण करते हैं। पश्चिम लिङ्ग अथवा (अव्यक्त विष्णुलिङ्ग) परिव्राजक (संन्यासी) उन्हें कहते हैं, जो बाह्य चिह्न धारण न करके भी अन्तःकरण में संन्यासियों के समस्त गुण धारण किये रहते हैं। इन्हें ही अव्यक्त विष्णु लिङ्ग परिव्राजक भी कहते हैं। अड्यार से प्रकाशित निर्वाणोपनिषद् की टीका में ब्रह्मयोगी ने लिखा है—पश्चिममन्तः संन्यासलक्षणमव्यक्तविष्णुलिङ्गिनश्चेति....स्वबाह्यान्तर्विलसितविक्षेपग्रासव्यक्तविष्णुलिङ्गधारिण इत्यर्थः (निर्वाणो० १.५८ टीका)।

१८०. पाप-पुण्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पाप-पुण्य।

१८१. पिङ्गला—द्र०-ज्ञानखण्ड -सुषुप्ता नाड़ी।

१८२. पितर —द्र०-ज्ञानखण्ड।

१८३. पुनर्जन्म—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१८४. पुराण-पुरुष—द्र०-चिदघन।

१८५. पुर्यष्टक—यह शरीर विभिन्न तत्त्वों से निर्मित है। प्रत्यक्षतः यह स्थूल शरीर ही दिखाई देता है। यह भी पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश तत्त्वों के सम्मिलन से निर्मित है। इसके अतिरिक्त इसी के अन्दर दो अदृश्य शरीर और हैं, जिन्हें सूक्ष्म व कारण शरीर कहा जाता है। इन दोनों शरीरों की रचना में पृथिवी आदि स्थूल पञ्चतत्त्व न होकर इनके सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। वेदान्त में सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं। इसे देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता; वरन् अनुमान किया जा सकता है। सुख-दुःखादि की अनुभूति सूक्ष्म शरीर द्वारा ही होती है। लिङ्ग शरीर का अर्थ करते हुए स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है— लिङ्गयते ज्ञायते प्रत्यगात्मसद्भाव एथिरिति लिङ्गानि, तानि च तानि शरीराणि च लिङ्गशरीराणि (वै०सा० टीका खं० १३) अर्थात् जिसके माध्यम से प्रत्यगात्मा के सद्भाव का ज्ञान होता है, वह लिङ्ग शरीर है। स्थूल शरीर के अन्त हो जाने पर, यह सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) ही निकलकर अन्य स्थूल शरीर में प्रविष्ट होकर, नूतन जन्म धारण करता है। वेदान्त में सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्त्व (अंग) माने गये हैं। ये तत्त्व पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च वायु (प्राण), मन और बुद्धि हैं। शारीरकोपनिषद् में सूक्ष्म शरीर के अंग इन शब्दों में वर्णित हैं— ‘बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः सुसूक्ष्मं लिङ्गमुच्यते (शारीरको० ५)। ब्राह्मणग्रंथों में सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर के सत्रह अंगों की गणना एक अन्य प्रकार से भी की गई है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) और पंच वृत्तियों (प्राण,

पौर्णमास्य यज्ञ

अपान, उदान, व्यान और समान) वाला एक प्राण ये सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं। सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर के इन सत्रह अवयवों को आठ अंगों में भी समाहित किया जाता है, इसीलिए इसे पुर्यष्टक भी कहते हैं। पुर्यष्टक का शाब्दिक अर्थ आठ पुरियों का समूह है। आठ अंगों को सम्भवतः आलंकारिक रूप से आठ पुरियाँ कहा गया होगा, इसलिए इसे पुर्यष्टक नाम दिया गया। पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर) के आठ अंग इस प्रकार वर्णित हैं—ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च। मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्॥ प्राणोऽपानस्तथाअविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदुः (पंच०) अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रिय पञ्चक, प्राण पञ्चक, सूक्ष्म पञ्चभूत, अन्तःकरण चतुष्टय इन सभी को एक-एक इकाई मानकर कुल पाँच हुए। इसके अतिरिक्त काम, कर्म और अविद्या ये तीन मिलकर कुल आठ होते हैं। इन्हीं आठ अवयवों से मिलकर बने सूक्ष्म शरीर को पुर्यष्टक कहते हैं। पैङ्गलोपनिषद् में पुर्यष्टक इन शब्दों में विवेचित है—अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं विद्यादिपञ्चकमन्तःकरणं चतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम् (पैङ्गलो० २.५)।

१८६. पौर्णमास्य यज्ञ—द्र०-दर्शयज्ञ।

१८७ प्रज्ञा—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१८८. प्रज्ञात्मा— उपनिषदों में कई स्थलों पर 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका सामान्य अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान या श्रेष्ठ बुद्धि है। विवेकवान्, विद्वान् या चैतन्य पुरुष को प्रज्ञावान् अथवा प्रज्ञान कहते हैं। इस प्रकार जिसके द्वारा बौद्धिक वृत्तियों, ज्ञातव्य विषयों तथा कामनाओं को ग्रहण किया जाता है, उसी का नाम प्रज्ञा है—केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति। प्रज्ञयेति प्रब्रूयात् (कौ०ब्रा०उ० १.६)। प्रज्ञा+आत्मा दो शब्दों से मिलकर प्रज्ञात्मा शब्द विनिर्मित हुआ है। सामान्यतः इसका अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान सम्पन्न अथवा विवेकवान् व्यक्ति हुआ; किन्तु कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के तृतीय अध्याय में इसे एक विशेष अर्थ में लिया गया है, वहाँ प्रज्ञा को ही प्राण और प्राण को ही प्रज्ञा कहा गया है; क्योंकि दोनों एक ही साथ रहते व एक साथ ही शरीर से उत्क्रमण करते हैं—यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः स ह होतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्कामतः (कौ०ब्रा०उ० ३.४)। इन्द्र-प्रतर्दन वार्तालाप में इन्द्र ने अपने को प्राणस्वरूप, आयुस्वरूप और अमृत स्वरूप बताते हुए, इसी रूप में उन्हें जानने के लिए कहते हुए, अपने को प्राण और प्रज्ञारूप आत्मा (प्रज्ञात्मा) कहा है— स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञाऽऽत्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्वायुः प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतम्ऽमृतत्वमाप्नोति (कौ०ब्रा०उ० ३.२) अर्थात् प्राण ही आयु है; क्योंकि जब तक प्राण रहता है, तभी तक आयु रहती है। शरीर से प्राण निकल जाने पर आयु भी समाप्त हो जाती है। प्राण ही अमृत है; क्योंकि शरीर के मृत हो जाने पर भी प्राण मृत नहीं होता। इसी प्रकार प्राण को ही प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान) भी कहा गया है; क्योंकि समस्त इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्राण अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करती हैं। समस्त इन्द्रियाँ रहते हुए भी यदि शरीर में प्राण नहीं है अथवा मरणासन्निस्थिति में अल्प मात्रा में ही प्राण शेष रह गया है, तो न आँखें देख सकती हैं (अर्थात् अपने प्रियजन को भी पहचानने में समर्थ नहीं हो सकती), न कान शब्द सुनते हैं, न मुख (वाणी) से शब्द निकलते हैं, न ब्राणेन्द्रिय गन्ध ले सकती है, न त्वचा को स्पर्शज्ञान होता है, न हाथ-पैर चलते हैं, न उपस्थ और गुदा ही अपना कार्य समुचित रूप से कर पाते हैं तथा मन भी सोच-विचार नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में क्रिया शक्ति का बोधक प्राण (प्रज्ञा) ही है, जो ज्ञान में प्रवृत्त करने वाला प्रज्ञा से युक्त आत्मा अर्थात् प्रज्ञात्मा है। यही शरीर को सभी ओर से आबद्ध करके विभिन्न क्रियाएँ करता रहता है। जिस प्रकार रथ की नैमि अरों से तथा अरे उसकी नाभि से जुड़े होते हैं, उसी प्रकार समस्त भूत मात्राएँ (पंचभूत या तन्मात्राएँ) प्रज्ञामात्राओं (इन्द्रियों में विद्यमान प्रज्ञा के अंश) में अर्पित हैं तथा प्रज्ञामात्राएँ मुख्य प्राण (उक्थ) में अर्पित हैं। यह प्राण-प्रज्ञात्मा ही अजर-अमर और आनन्द स्वरूप है—तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरपितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्रा: प्रज्ञामात्रास्वर्पिता: प्रज्ञामात्रा: प्राणोऽर्पिताः। स एष प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतःस म आत्मेति विद्यात् (कौ० ब्रा०उ० ३.१)।

१८९. प्रज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१९०. प्रणव — द्र०-प्रणव सन्धान।

१९१. प्रणव सन्धान—योग शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन है। ब्रह्म प्राप्ति या ब्रह्म सन्निध्य हंतु अनेक प्रकार की नाद साधनाएँ भी बतायी गई हैं। नादबिन्दुपनिषद् में उल्लेख है कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब प्रारब्ध कर्म क्षीण

हो जाते हैं, तब ३० कार स्वरूप परब्रह्म के साथ अपनी आत्मा के एकत्व का चिन्तन (ध्यान) करने से नादरूपी स्व प्रकाशित शिव (कल्याणकारी तत्त्व) का प्रादुर्भाव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार मेघाच्छादन हट जाने से स्वयं सूर्य भगवान् प्रकाशित हो जाते हैं- ब्रह्मप्रणवसंधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः । स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेऽशुमानिव (नादबिन्दु० ३०) अर्थात् प्रणव ही ब्रह्मरूप है और वही नादरूप ब्रह्म है, उसे ही ३० कार कहते हैं । इस ३० कार की नाद साधना को ही प्रणव सन्धान कहते हैं । नादबिन्दूपनिषद् में ही प्रणव संन्धान प्रक्रिया का उल्लेख इस प्रकार है कि साधक को सिद्धासन में बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के अन्तर्गत उठती अनाहत ध्वनि (नाद) का निरन्तर श्रवण करना चाहिए ।

१९२. प्रतिष्ठा—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१९३. प्रत्यगात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१९४. प्रत्याहार—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१९५. प्रपञ्च—आध्यात्मिक सन्दर्भों में 'प्रपञ्च' शब्द का उपयोग बहुत होता है, जिसे भवसागर या संसार के अर्थ में लिया जाता है । कोशग्रन्थों में प्रपञ्च शब्द की रचना इस प्रकार वर्णित है- प्रगञ्च्यते इति प्र-पचि व्यक्तीकरणे घज् (हिन्दी विश्व कोष) । इसके कई अर्थ हैं १. विस्तार, फैलाव । २. उलट-पलट, इधर का उधर । ३. पञ्चतत्त्वों का उत्तरोत्तर अनेक भेदों में विस्तार । ४. संसार, भवजाल । ५. सांसारिक व्यवहारों का विस्तार, दुनिया का जंजाल आदि । इनमें से तृतीय क्रमांक वाले अर्थ में ही इसका सर्वाधिक उपयोग किया जाता है । सम्भवतः जगत् का निर्माण- विस्तार वेदान्तवर्णित पञ्चीकरण (पंचभूतों के पञ्चीकृत विभाजन) प्रक्रिया द्वारा होने से इसे प्रपञ्च कहा जाने लगा होगा । उपनिषद् ग्रन्थों में 'प्रपञ्च' शब्द का उपयोग भवसागर, माया आदि के रूप में हुआ है । आत्मबोधोपनिषद् में आत्मबोध प्राप्त साधक का कथन है कि आत्मबोध हो जाने पर यह प्रपञ्च (जगत् या माया) मुझे सत्य (ब्रह्मरूप) ही लगता है । मिथ्या होने पर ही बन्ध-मोक्षादि व्यवहार सत्य जान पड़ते हैं । जिस प्रकार सर्पादि में रजु (रस्सी) का अस्तित्व है, उसी प्रकार प्रपञ्च आदि में केवल ब्रह्म सत्ता ही आधारभूत होकर वर्तती है-विवेक युक्ति बुद्ध्याऽहंप्रतीयते । निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मेब्रह्मसत्तैव केवलम् (आत्मबोधो० २.११-१२) । महोपनिषद् में इस जगत् रूप प्रपञ्च को अस्थिर और क्षणिक बताते हुए ऋभुपुत्र निदाघ ने अपने पिता से इस संसार से विरक्त होने की अपनी इच्छा प्रकट की है- जायते मृतये लोको मिथ्यते जननाय च । अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचर चेष्टिताः ।आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभद्गुरम् । उम्मत्त इव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम् (महो० ३.४,९) ।

१९६. प्रमेय-अप्रमेय— प्रमेय शब्द की संरचना से ही स्पष्ट है कि जो वस्तु या पदार्थ प्रमा योग्य अर्थात् अपना वास्तविक ज्ञान कराने के योग्य अथवा प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये जाने योग्य है, उसे प्रमेय कहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में जगत् का प्रत्येक पदार्थ जो प्रत्यक्ष, शब्द या अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है, उसे प्रमेय कहेंगे । जैसे अग्नि में से धूम्र निकलता प्रत्यक्ष दिखाई दे, तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणित हो गया कि वह धूम्र अग्नि से ही निकल रहा है । इसी प्रकार यदि कहीं केवल धूम्र निकलता दिखाई दे, तो अनुमान द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि वहाँ अग्नि सुनिश्चित रूप से होगी ही । अनुमान प्रमाण का 'यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः' का सिद्धान्त सर्वविदित है । इस जगत् के कारण रूप परब्रह्म को प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रमाणित करना बुद्धिगम्य है और परब्रह्म बुद्धि से परे है, इसलिए उसका एक विशेषण अप्रमेय है । वेद, शास्त्र, उपनिषदों आदि में ईश्वर अथवा ब्रह्म की जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे उसके स्वरूप के बहुत निकट तो हैं, किन्तु पूर्ण नहीं; क्योंकि इन आर्षग्रन्थों में भी अन्तः नेति-नेति (इतना ही नहीं, इतना ही नहीं) लिखा है । इस प्रकार परब्रह्म का अप्रमेय नाम सार्थक ही है । मण्डल ब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म को सर्वेश, अप्रमेय, अज, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि का लक्षण स्वरूप और सबका कारण कहा गया है—तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परं ब्रह्मात्मन्येवप्राप्नोति (मं० ब्रा०उ० ३.१.३) ।

१९७. प्रवृत्त्या—द्र०-अवधूत ।

१९८. प्रजापत्य—द्र०-ब्रह्मचारी ।

१९९. प्रजापत्य इष्टि—द्र०-आग्रेयी इष्टि ।

२००. प्रजापत्य यज्ञ—द्र०-आग्नेयी इष्टि ।

२०१. प्राज्ञ—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

२०२. प्राण—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्राण-सञ्चय ।

२०३. प्राणहंस—प्रणवहंस (मुख्यप्राण)—आषग्रन्थों में जीवात्मा के लिए अनेक स्थलों पर 'हंस' शब्द का प्रयोग हुआ है—प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः । हंस एव परं सत्यं हंस एव तु सत्यकम् (ब्रह्मविद्यो० ६०); पर कुछ स्थलों पर प्रणव हंस अथवा प्राण हंस का उल्लेख मुख्य प्राण के लिए भी मिलता है । मुख्य प्राण के विषय में कौशितकि ब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि प्राणी के अन्दर निवास करने वाले मुख्य प्राण से ही उसकी इन्द्रियों में निवास करने वाले अन्य समस्त प्राण सम्बद्ध हैं । इसीलिए व्यक्ति एक ही समय में बोल, देख, सुन और सूँघ नहीं सकता; क्योंकि जिस समय वह बोलता है, उस समय मुख्य प्राण तो वाणी में सक्रिय रहता ही है; साथ ही अन्य इन्द्रियों के प्राण भी उसी के सहयोग में लग जाते हैं । इसीलिए किसी वस्तु को ध्यान से देखते समय वह कुछ बोल, सुन या सूँघ नहीं सकता; क्योंकि समस्त प्राणों की शक्ति देखने में ही लग जाती है—तद्दैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति न हि कश्चन शक्यात् सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातमित्येकभूयं वै प्राणा एकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति (कौ०ब्रा०उ० ३.२) चूँकि जीवात्मा को हंस कहा जाता है और वह जीवात्मा वस्तुः मुख्य प्राण ही है, अतः मुख्य प्राण को भी प्राण हंस कहते हैं । इसी प्रकार प्रणव अर्थात् ३० (अ, उ और म्) का उच्चारण भी मुख्य प्राण की स्वसंचालित प्रक्रिया (श्वास-प्रश्वास) द्वारा होता रहता है । यह अजपा जप सोऽहं अर्थात् हंस (अहं सः) ही कहलाता है । इसीलिए मुख्य प्राण को प्रणव हंस भी कहते हैं । हंस और प्रणव में अभेद है; क्योंकि ३० और सोऽहं मंत्र का अजपाजप एक साथ चलता रहता है, इसीलिए पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में इन दोनों का अभेद वर्णित है—हंस प्रणवयोरभेदः (पाशुपत० पूर्व १९) । प्रणव हंस को ब्रह्म सूत्र अथवा यज्ञ सूत्र भी कहा गया है; क्योंकि प्रणव ३० ही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय अथवा स्वयं ब्रह्म है— प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्म यज्ञमयम् । प्रणवान्तवर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम् (पाशुपत० पूर्व १७) । परब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म की स्थिति निरूपित करते हुए उपनिषद्कार ने उसे सदैव प्रसन्नता देने वाला, असङ्ग, चिद्रूप, पुरुष और प्रणवहंस (परब्रह्म) बताया गया है । यहाँ प्रणव हंस प्राणहंस (मुख्य प्राण) के रूप में विवक्षित नहीं है; वरन् परब्रह्म के रूप में विवक्षित है । इसका स्पष्टीकरण देते हुए ब्रह्मयोगी ने लिखा है—संप्रसादः अन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः स एव प्रणवार्थ तुर्य-तुर्य हंसः परं ब्रह्मेत्युच्यते । अत्र न प्राणहंसो मुख्यः प्राणो विवक्षितः परब्रह्मप्रकरणत्वात् (परब्रह्म० २ टीका) ।

२०४. प्राणायाम— योग शास्त्रों में प्राणायाम की महिमा सर्वत्र गायी गयी है । कोशग्रन्थों में प्राणायाम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है— प्राणस्य वायुविशेषस्य आयामः रोधः यद्वा प्राण आयम्यन्तेऽनेनेति— अर्थात् प्राण वायु का गति-विच्छेद कारक व्यापार भेद । अष्टाङ्गयोग में यम, नियम, आसन के उपरान्त प्राणायाम का क्रम आता है । चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' । चित्तवृत्तियों अथवा मन की एकाग्रता में प्राणायाम बहुत सहायक सिद्ध होता है । योग सूत्र के अनुसार वायु प्रच्छर्दन करके अर्थात् प्राणवायु आकर्षण सहित त्याग करके विधारण करना (अर्थात् खींची हुई वायु को शास्त्रोक्त विधान के अनुसार धारण करना) प्राणायाम कहलाता है—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य (पातं० योग० सू०स०पा०-३४) । पातञ्जल योग में प्राणायाम की परिभाषा इन शब्दों में उल्लिखित है— तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः । अर्थात् आसन के स्थिर होने के पश्चात् श्वास-प्रश्वास की गति रोकने को प्राणायाम कहते हैं । अधिक स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि श्वास-प्रश्वास की गतियों के प्रवाह को रोक, पूरक और कुम्भक के माध्यम से बाहर और भीतर दोनों स्थानों में रोकना (विराम देना) ही प्राणायाम है । श्वास के भीतर जाने को श्वास (पूरक), बाहर निकलने को प्रश्वास (रोक) तथा अन्दर और बाहर रुकने को विराम (कुम्भक) कहते हैं । प्राण के पाँच भेद हैं, इहें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान कहते हैं । प्राणायाम प्रक्रिया में प्राण और अपान का मिलन होता है । इसीलिए योगी यज्ञवल्क्य नामक ग्रन्थ में उल्लेख है— प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः । प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः (योगियाज्ञ० ६.२) ।

उपनिषदों में भी प्राणायाम का महत्त्व विवेचित है । अमृतनादोपनिषद् में प्राणायाम को समस्त इन्द्रियों के दोष उसी तरह दूर करने वाले बताया गया है, जिस प्रकार स्वर्ण को तपाने से उसके समस्त दोष दूर हो जाते हैं—यथा

पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनाम्मला: । तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात् (अमृतनादो० ७) । इसी उपनिषद् के ग्यारहवें मंत्र में प्राणायाम की परिभाषा इन शब्दों में निर्दिष्ट है— सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्चते अर्थात् ३० कार और व्याहृतियों सहित गायत्री मंत्र का तीन बार पाठ करते हुए पूरक-कुम्भक और रेचक प्रक्रिया करने को (एक) प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम को प्रणव ही माना गया है; क्योंकि प्रणव (३० या ३० कार) में तीन अक्षर अ, उ और म् हैं तथा रेचक, पूरक और कुम्भक में भी तीन-तीन वर्ण ही हैं । अतः यह प्रत्यक्ष प्रणव उपासना ही है—वर्णत्रियात्मकाः प्रोक्ता रेचक पूरक कुम्भकाः । स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्स्यः (जाठदर्शनो० ६.२) ।

यों तो पूरक-कुम्भक और रेचक एक ही प्राणायाम की प्रक्रियाएँ हैं; किन्तु कुछ योग शास्त्रों व उपनिषदों में रेचक, पूरक और कुम्भक को प्राणायाम के ही प्रकार माने गये हैं । अमृतनादोपनिषद् (१२) में रेचक प्राणायाम का स्वरूप इस तरह बताया है—उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम् । शून्यभावे नियुज्जीयादेचकस्येति लक्षणम् अर्थात् जिस प्राणायाम में प्राणवायु को आकाश में निकालकर हृदय को वायु से रहत और मन को चिन्तन शून्य कर दिया जाता है, वह रेचक प्राणायाम है । इसी प्रकार पूरक प्राणायाम का स्वरूप इस तरह बताया है—वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः । एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् (अमृतनादो० १३) । इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार मुख से कमल नाल द्वारा जल को खींचते हैं, उसी प्रकार धीरे-धीरे वायु को अपने अन्दर खींचना पूरक प्राणायाम है । इसी उपनिषद् में कुम्भक प्राणायाम का लक्षण इस प्रकार उल्लिखित है—नोच्छवसेन्न च निश्वसेनैव गात्राणि चालयेत् । एवं भावं नियुज्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम् अर्थात् कुम्भक प्राणायाम में न तो श्वास खींचते हैं और न ही निकालते हैं; वरन् शरीर को निश्चल करके स्थिर रखकर प्राणवायु को (अन्दर या बाहर) रोके रखते हैं । कुम्भक प्राणायाम आठ प्रकार के होते हैं—सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा । भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकाः (गोरक्ष सं० १९५, वेर० सं०) अर्थात् क्रिया भेद से कुम्भक प्राणायाम के आठ प्रकार—सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और केवली हैं । कुछ विद्वानों ने सहितकुम्भक और केवली कुम्भक के स्थान पर सीत्कारी (शीतकारी) और प्लाविनी कुम्भक नामक प्राणायाम का उल्लेख किया है । वैसे तो १६ प्रकार के प्राणायाम होते हैं; पर इन सबका सविस्तार वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है; वर्तमान समयानुरूप सरल और उपयोगी कुछ प्राणायामों का संक्षिप्त वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है । ये प्राणायाम हैं—

अ. प्राणाकर्षण प्राणायाम— जिन्होंने कभी प्राणायाम की किसी विधि का अभ्यास नहीं किया, उनके लिए सर्वप्रथम प्राणाकर्षण प्राणायाम का अभ्यास करना आवश्यक है । यह अन्य साधनाओं से पूर्व उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार बीज बोने से पूर्व भूमि को कई बार ज़ोतकर पौधों की जड़ें सुगमता से भूमि के अन्दर जाने योग्य बनाया जाता है । इससे नस-नाड़ियाँ सशक्त बनतीं और शरीर इस योग्य हो जाता है कि अन्य शक्तिशाली साधना विधियों के प्रभाव को ग्रहण कर सके । इसकी प्रक्रिया यह है— प्रातःकाल किसी शांत और एकान्त स्थल पर सुखासन में कमर सीधी करके बैठकर नेत्र बन्द करके दोनों नासिका छिद्रों से श्वास खींचते हुए यह भावना की जाती है कि हमारे चारों ओर प्राण का दिव्य सागर लहरा रहा है और वह (प्राण) श्वास के माध्यम से हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग में पहुँच रहा है । इस पूरक प्रक्रिया के बाद कुछ (एकाध मिनट) देर तक अन्दर ही रोक कर अन्तःकुम्भक करके उस प्राण तत्त्व को अंग-प्रत्यंग में स्थापित होने का भाव किया जाता है; तदुपरान्त रेचक करते हुए, श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालते समय यह भावना भी की जाती है कि अन्दर के दोष-दुर्गुण, कषाय-कल्पष बाहर निकल रहे हैं । इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि पूरक से रेचक में अधिक समय लगे । यदि यह न बन पड़े, तो पूरक जितना समय तो रेचक में लगना ही चाहिए । श्वास खींचने व निकालने की प्रक्रिया धीरे-धीरे ही की जाती है, जल्दी से या झटके से नहीं । श्वास बाहर निकल जाने के पश्चात् कुछ सेकेण्ड बाह्य कुम्भक अर्थात् थोड़ी देर श्वास को बाहर ही रोका जाता है । प्रारंभ में यह प्राणायाम ५ बार से अधिक नहीं किया जाता । बाद में बढ़ाते-बढ़ाते २० तक भी किया जा सकता है । इस प्राणायाम से सुस्ती, निरुत्साह, शिङ्क आदि दूर होकर अन्दर एक प्रचण्ड शक्ति का अनुभव होने लगता है ।

ब. लोम-विलोम (सूर्यभेदन) प्राणायाम— जब प्राणाकर्षण प्राणायाम द्वारा पूरक, कुम्भक और रेचक का अभ्यास दूढ़ हो जाता है, तब लोम-विलोम अथवा सूर्य भेदन (सूर्यभेदी) प्राणायाम किया जाता है । इसमें भी पूर्वोक्त प्रकार से बैठकर कमर सीधी करके दायें हाथ की अँगुलियों और अँगूठे की सहायता से सर्वप्रथम बायें नथुने को बन्द करके, दायें से धीरे-

धीरे श्वास खींचते हैं तथा अन्तः कुम्भक करते समय नाभिस्थित सूर्यचक्र के जाग्रत् और प्रकाशित होने का भाव करते हुए यह भावना करते हैं कि हमारा अंग-प्रत्यंग नवजीवन प्राप्त कर रहा है। रेचक के उपरान्त बाह्य कुम्भक के समय भी यह भाव किया जाता है कि नाभि स्थित सूर्यचक्र से अग्नि सदृश तेज लपटें उठ रही हैं, वे सुषुम्ना नाड़ी, फेफड़ों, हृदय, कण्ठ आदि अवयवों को तेजस्वी बना रही हैं। इसमें सूर्यचक्र जाग्रत् हो जाता है तथा हर कार्य में उत्साह, उमंग एवं शरीर में स्फूर्ति आती है।

स. **नाड़ी शोधन प्राणायाम-** मनुष्य के अशुद्ध खान-पान व अनुपयुक्त रहन-सहन से शरीर में विभिन्न प्रकार के मल एकत्र हो जाते हैं। ये केवल मलाशय में ही एकत्र नहीं होते; वरन् दूषित गैसें प्रकट कर रक्त को भी दूषित कर समस्त नस-नाड़ियों में भी पहुँच जाते हैं। जिससे अनेक रोग हो जाते हैं, इसके लिए नाड़ी शोधन प्राणायाम सर्वोत्तम है। इसके लिए भी पूर्वोक्त प्रकार से खुली वायु में बैठकर दायीं नासिका का छिद्र बन्द करके बायें से धीरे-धीरे श्वास को इतना खींचते हैं कि वह फेफड़ों के अतिरिक्त पेट में भी भर जाय (इससे नाभिचक्र भी प्रभावित होता है), साथ ही (श्वास खींचते समय) यह भावना की जाती है कि वह नाभिस्थित चन्द्रमा [बायें नथुने से श्वास खींचते समय श्वास इड़ा नाड़ी (जिसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं) द्वारा अन्दर जाती है] को स्पर्श कर शीतल और प्रकाशवान् बना रही है। इसमें अन्तः कुम्भक और बाह्य कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं है। श्वास बाहर भी बायें नथुने से ही यह भाव करते हुए निकाली जाती है कि इड़ा नाड़ी शैत्य और शुद्धि प्राप्त कर पुष्ट हो रही है। यह क्रम तीन बार दुहराते हैं। तदुपरान्त बायें नथुने को बन्द करके तीन बार वही उपक्रम दायें नथुने से करते हुए नाभि स्थित सूर्य चक्र की ऊषा और प्रकाश से पिंगला अथवा सूर्यनाड़ी के शुद्ध और सशक्त होने की भावना करते हैं। इसके बाद दोनों नथुनों से श्वास खींचकर एकबार मुख मार्ग से बाहर निकाल देते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण क्रिया करने पर एक नाड़ी शोधन प्राणायाम होता है। इससे नाड़ियाँ मलरहित, शरीर हल्का और शक्तिसम्पन्न बनता है। ये तीनों प्राणायाम सर्वोपयोगी और सरल हैं, इन्हें हर कोई सम्पन्न कर सकता है तथा खतरा कुछ भी नहीं। प्राणायाम के उपरान्त ही योग के अन्य अंग प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की ओर बढ़ सकना सम्भव होता है।

२०५. प्रारब्ध—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२०६. प्लुतमात्रा—द्र०-भूचर सिद्धि।

२०७. फेनप—द्र०-वानप्रस्थ।

२०८. बन्ध— हठयोग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के बन्धों का उल्लेख है। विभिन्न उपनिषदों जैसे योग कुण्डल्युपनिषद्, योग-चूडामणि उपनिषद्, योगतत्त्व उपनिषद्, योग शिखोपनिषद् और शाण्डिल्योपनिषद् में भी बन्धों का वर्णन है। इनका मूल उद्देश्य शरीरात वायु को नियन्त्रित करना है। योग शिखोपनिषद् में इनकी महत्ता इन शब्दों में प्रतिपादित है—बन्धव्रयमथेदानी प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्न्यात् (यो०शि० १०१)। पाँच बन्धों में प्रायः तीन बन्ध प्रमुख हैं। ये हैं मूलबन्ध, उड़ियानबन्ध और जालन्धर बन्ध, इसके अतिरिक्त महाबन्ध और महावेद का भी उल्लेख पाया जाता है। योगतत्त्वोपनिषद् में मूलबन्ध का यह स्वरूप प्रतिपादित है—पार्ष्विभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्जयेददृढ़म्। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकृताम् (यो.त. १२०-१२१) अर्थात् लिङ्ग स्थान और मूल (गुदा) के रन्ध को बन्द करने एवं अपान वायु का ऊर्ध्वगमन करके प्राण वायु के साथ एकत्र ही मूलबन्ध है। इसमें बाएँ पैर को सीवन (एड़ी को गुदा और लिङ्ग के बीच) में दृढ़तापूर्वक लगाकर और उसे सिकोड़कर अधोगामी अपान वायु का ऊर्ध्वगमन किया जाता है। उससे कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर चढ़ती है। उड़ियान बन्ध का स्वरूप उपनिषदों में इस प्रकार निरूपित है—बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड़ीयते यतः। उड़ियाणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहतः (यो०त० ११९)। इस बन्ध में दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को आपस में मिलाकर नाभि से नीचे और आठ अंगुल ऊपर के पेट के हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड में इस प्रकार लगाया जाता है, जिससे पेट में गङ्गा जैसा दीखने लगता है। इससे प्राण, पक्षी की तरह सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है। जिसके कारण ही इसका नाम उड़ियान बन्ध पड़ गया है। जालन्धर बन्ध के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् कहता है—कण्ठमाकुञ्ज्य हृदये स्थापयेददृढ़या धिया। बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी (यो०त० ११८) अर्थात् कण्ठ का आकुञ्जन करके ठोड़ी को कण्ठ कूप में दृढ़तापूर्वक इस प्रकार स्थापित करे कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर मात्र चार अंगुल का रह जाय और सीना आगे की ओर तना हुआ हो। कण्ठ क्षेत्र के समस्त नाड़ी जाल को बाँध कर उस प्रदेश की सभी विकृतियों

को दूर करने के कारण ही इसे जालन्धर बथ कहते हैं। जालन्धर बन्ध के सन्दर्भ में विवेक मार्तण्ड में उल्लेख है—
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति (वि० मार्त० ६७)।

महाबन्ध प्रायः: पूर्वोक्त तीनों बन्धों का सम्मिलित स्वरूप होता है। योग तत्त्व उपनिषद् (११२-११४) में उल्लेख है— पार्षिवामस्य पादस्य.....उभयत्रैवमध्यसेत् । महावेद में मूलबन्धपूर्वक पदमासन से बैठकर प्राण और अपान वायु को नाभि प्रदेश पर एक करके, दोनों हाथ तानकर नितम्बों से मिलाते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों को आसन के साथ ही उठाकर बार-बार भूमि पर ताङ्गित किया जाता है। इससे प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुण्डलिनी का जागरण होता है।

२०९. बन्धन—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

२१०. बहूदक—द्र०-अवधूत ।

२११. बिन्दु—सामान्यतः: बिन्दु शब्द जल कण, बूँद के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हाथी के मस्तक पर शोभा हेतु लगाई जाने वाली बिन्दी के अर्थ में तथा मनुष्यों द्वारा भी दोनों भौंहों के बीच लगाये जाने वाले गोल तिलक के अर्थ में भी बिन्दु या बिन्दु शब्द प्रयुक्त होता है। रेखा गणित में भी नियत स्थान पर जिसका विभाग न हो सके, उसे बिन्दु कहते हैं। शब्दों के ऊपर अनुस्वार रूप में लगने वाली बिन्दी को भी बिन्दु कहते हैं। ब्रह्मचर्य प्रकरण में वीर्य के अर्थ में भी बिन्दु का प्रयोग किया जाता है— एवं संरक्षयेद्विन्दुं मृत्युं जयति योगवित्। मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात् (हठ०प्र० ३.८८) अर्थात् बिन्दु (वीर्य) का संरक्षण करने वाला योग तत्त्व का ज्ञाता मृत्यु को जीत लेता है, क्योंकि बिन्दु धारण ही जीवन तथा बिन्दु पतन ही मरण है। इसकी महत्ता यहाँ तक बतायी गयी है कि बिन्दुधारण से शरीर में सुगम्भि उत्पन्न हो जाती है तथा जिसके शरीर में वीर्य (बिन्दु) है, उसे मृत्यु का भय कहाँ-सुगम्भो योगिनों देहे जायते बिन्दुधारणात्। यावद्विन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः (हठ०प्र० ३.८९)।

श्रीमद्भागवत और शारदा तिलक में उल्लेख है कि सच्चिदानन्द विभव परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु का प्रादुर्भाव हुआ है—सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्। आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्विन्दुसमुद्भवः ॥। हिन्दी विश्वकोश खं० २९ पृष्ठ ४२६ में कुञ्जिका तन्त्र में वर्णित बिन्दु को सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला (अर्थात् ब्रह्म) माना गया है—आसीद्विन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिः समुद्भवा । क्रियासार नामक ग्रन्थ में बिन्दु को शिवात्मक (कल्याणकारी) और बीज को शक्त्यात्मक माना गया है। इन दोनों के संयोग से ही नाद और नाद से त्रिशक्ति उत्पन्न हुई है— बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम् । तयोःजातास्त्रिशक्तयः ॥ (हि०वि० १०खं० २१ पृ० ४२६) नाद से बिन्दु का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही प्रायः नाद और बिन्दु शब्दों का उल्लेख एक साथ ही मिलता है। मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् में उस परब्रह्म को नाद बिन्दु-कलातीत और अखण्डमण्डलाकार कहा गया है— तत्त्वादबिन्दुकलाऽतीतमखण्डमण्डलम् (मं० ब्रा०उ० २.१.४)। योगशिखोपनिषद् में नाद को ही बिन्दु और बिन्दु को ही चित्त कहा गया है, अर्थात् तीनों एक ही तत्त्व हैं—यो वै नादः स वै बिन्दुस्तद्वै चित्तं प्रकीर्तिंतम् । नादो बिन्दुश्च चित्तं च त्रिभिरैक्यं प्रसाधयेत् (यो०शि० ६.७२)। इसी प्रकार (बिन्दु की) उत्पत्ति, स्थिति और कारण वाला मन ही बिन्दु है; क्योंकि मन से बिन्दु उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार दूध से धूत-मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थिति कारणम् । मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं धृतात्मकम् (यो०शि० ६.७३)। इस प्रकार बिन्दु शब्द के अनेक अर्थ हैं। योग और ध्यान सन्दर्भों में यह ब्रह्म, चित्त, मन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

२१२. बृहन् (बृहत्)—द्र०-ब्रह्मचारी ।

२१३. बोध—द्र०-ज्ञानखण्ड- बोध-प्रतिबोध ।

२१४. ब्रह्म—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म-परब्रह्म ।

२१५. ब्रह्मचर्य—द्र०-यम ।

२१६. ब्रह्मचारी— भारतीय आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन को चार भागों में बाँटा गया है। इन चारों भागों की अवधि को ही चार आश्रम कहते हैं, जो इस प्रकार है— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। आर्ष मान्यता के आधार पर प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष मानी गई है; क्योंकि ऋषियों की परिकल्पना थी कि जीवन १०० वर्ष का होता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का विस्तृत विवेचन इसी खण्ड के परिभाषा कोश, परिशिष्ट में 'यम' शब्द के अन्तर्गत किया जा चुका है। ब्रह्मचारी की परिभाषा इस

एक ही वाक्य से स्पष्ट हो जाती है - ब्रह्मणि वेदे चरति इति ब्रह्मचारी अर्थात् जो वेद-ब्रह्म के चिन्तन-मनन में नित्य तल्लीन रहता है, वह ब्रह्मचारी है।

आश्रमोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ब्रह्मचारी के चार भेद वर्णित हैं। गायत्र, ब्राह्म (ब्राह्मण), प्राजापत्य और बृहन् (बृहत्) - तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहन्निति। इनमें जो ब्रह्मचारी उपनयनोपरान्त तीन रात्रि तक अलवण (बिना नमक का) भोजन ग्रहण करके गायत्री मंत्र का जप करते हैं, उन्हें गायत्र कहते हैं-य उपनयनादूर्ध्वंगायत्रीमधीते स गायत्रः (आश्रमो० १)। जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त वेद के पठन-पाठन हेतु ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं अर्थात् प्रत्येक वेद का पाठ १२ वर्ष तक करते हुए ब्रह्मचर्य पालते हैं, वे ब्राह्म या ब्राह्मण कहलाते हैं। जो २४ वर्ष तक गुरुकुल में रहे। (ध्यातव्य है कि प्रचलित ब्राह्मण शब्द की व्याख्या १०८ उपनिषद् के ज्ञानखण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में की जा चुकी है। यहाँ ब्राह्म के पर्याय स्वरूप लिखा गया ब्राह्मण शब्द ब्रह्मचारी के एक भेद के सन्दर्भ में आया है।) जो गृहस्थ होते हुए केवल ऋतुकाल में अपनी पत्नी से ही संसर्ग करने वाले तथा परदारा (दूसरे की स्त्री) को त्यागने या निषिद्ध मानने वाले हैं, उन्हें प्राजापत्य कहते हैं-स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः (आश्रमो० १)। उन्हें भी प्राजापत्य ही कहा जाता है, जो ४८ वर्ष तक गुरुकुल में निवास करें। जो (ब्रह्मचारी) जीवन पर्यन्त गुरु का परित्याग न करे, ऐसा नैष्ठिक बृहन् या बृहत् कहलाता है- आं प्रायणादगुरोरपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति (आश्रमो० १)। इस प्रकार आचरण भेद से ब्रह्मचारी के ये चार प्रकार हैं।

२१७. ब्रह्मतत्त्व—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रहा-परब्रह्म।

२१८. ब्रह्मनिष्ठ—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म विद्या।

२१९. ब्रह्मपुर—द्र०-अष्टदल कमल।

२२०. ब्रह्मज्ञ—द्र०-वानप्रस्थ।

२२१. ब्रह्मरन्ध—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२२. ब्रह्मलीन—द्र०-ज्ञानखण्ड-जीवमुक्त।

२२३. ब्रह्मविद्या—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२४. ब्रह्मवेत्ता—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२५. ब्रह्माण्ड—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२६. ब्रह्मानन्द—द्र०-अद्वयानन्द।

२२७. ब्राह्म—द्र०-ब्रह्मचारी।

२२८. ब्राह्मण—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२९. भद्रासन—द्र०-आसन।

२३०. भवसागर—द्र०-ज्ञानखण्ड- जीवमुक्त।

२३१. भिक्षु—द्र०-अवधूत।

२३२. भूचर सिद्धि—योग साधनाओं से विभिन्न प्रकार की सिद्धियों का वर्णन योग शास्त्रों में मिलता है। अष्टसिद्धियों का कई स्थलों पर उल्लेख है। ये हैं- अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्रासि, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। योग सम्बन्धी उपनिषदों में शरीर के नीरोग रहने की सिद्धि, दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूरस्थ व्यक्ति की प्राणशक्ति द्वारा सहायता करना आदि अनेकों सिद्धियों का विवेचन है। कुछ सिद्धियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रयोग या तो निषिद्ध है अथवा इनका प्रयोग बहुत ही सावधानी पूर्वक करने का निर्देश दिया गया है। प्राणायाम के अनेक प्रकारों द्वारा अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं में से एक सिद्धि है- भूचर सिद्धि। दत्तात्रेय स्मृति और योगतत्त्वोपनिषद् में इसका उल्लेख है। केवल-कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर योगी के लिए त्रिलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल-कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर रेचक और पूरक का त्याग कर दिया जाता है। उसके बाद अभ्यास के समय निकले पसीने को शरीर में ही मल लिया जाता है। देह में कम्प और दर्दुर भाव (मेंढक के उछलने जैसी चेष्टा) के बाद योगी का शरीर पद्मासन स्थिति

में ही भूमि से ऊपर उठने लगता है। इसके पश्चात् और भी अतिमानुषी चेष्टाएँ होने लगती हैं; पर इन्हें किसी के समक्ष प्रदर्शन न करने का स्पष्ट निर्देश है— केवले कुम्भके सिद्धे न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् (यो० त० ५०-५६)। शरीर वृत्तियों में और भी अनेक परिवर्तन होने पर भूचर सिद्धि हो जाती है। इसके प्राप्त हो जाने पर सभी भूचरों (पृथ्वी पर चलने वाले) जीवों पर विजय प्राप्त हो जाती है। व्याघ्र, शरभ, गवय (नीलगाय), सिंह आदि योगी के हस्त ताडन मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर अनंग (कामदेव) के समान सुन्दर हो जाता है—येन भूचरसिद्धिः स्याद्बूचराणां जये क्षमः। व्याघ्रो वा शरभो वाऽपि गजो गवय एव वा।। सिंहो वा योगिना तेन प्रियन्ते हस्तताडिताः। कन्दर्पस्य यथारूपं तथा स्यादपि योगिनः (यो०त० ५९-६०)।

इस सिद्धि में अपेक्षित नैषिक ब्रह्माचर्य धारण करने से शरीर सुगम्भित रहने लगता है, जिससे काम सम्बन्धी अनेक विष्व आते हैं। अतः स्त्रियों का चिन्तन नहीं करना चाहिए और एकान्त स्थल में प्लुत मात्रा में (३० के उच्चारण में जितना समय लगता है, उससे तिगुने समय में) प्रणव (३०) का जप करना चाहिए, इससे पूर्वार्जित पापों का शमन होता है—वर्जयित्वा स्त्रियां संगं..... प्रणवं प्लुतमात्रया। जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे (यो०त० ६२-६३)।

२३३. भूमा—कोशग्रन्थों में भूमा शब्द का अर्थ है— भारी परिमाण, प्राचुर्य, यथेष्टता बड़ी संख्या आदि। दौलत, पृथ्वी, प्रदेश, प्राणी आदि अर्थों में भी भूमा शब्द का प्रयोग मिलता है। उपनिषदों में भूमा शब्द ब्रह्म (ईश्वर) की एक विशेषता के रूप में प्रतिपादित है। छान्दोग्योपनिषद् में ईश्वर को भूमा (निरतिशय) कहते हुए उसे सुख कहा गया है—यो वै भूमा तत्सुखं नाल्ये सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमा भगवो विजिज्ञास इति (छान्दो० ७.२३.१) अर्थात् सुनिश्चित रूप से भूमा (आधिक्य, निरतिशयत्व) ही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही विशिष्टः जानने योग्य है। भूमा का लक्षण क्या है ? यह बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है—(किं लक्षणोऽसौ भूमेत्याह) यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ ...महिमीति (छान्दो० ७.२४.१) अर्थात् जहाँ कुछ अन्य नहीं देखता, कुछ अन्य श्रवण नहीं करता तथा न ही कुछ जानता है, वही भूमा है; किन्तु जहाँ कुछ और देखता, सुनता व जानता है वह अल्प है; क्योंकि जो अल्प है, वह मरणधर्मा और जो भूमा (निरतिशय) है, वह अमृत है। वह भूमा कहाँ प्रतिष्ठित है, इसके उत्तर में कहा गया है वह भूमा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। वस्तुतः वह अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है; क्योंकि संसार में गौ, अश्वादि को भी महिमा कहते हैं ; वह भूमा इनमें प्रतिष्ठित नहीं है, वह तो निरालम्ब अर्थात् अवलम्बन रहित है। वह भूमा नीचे—ऊपर, बायें—दायें, आगे—पीछे सभी ओर है। उसी भूमा में (व्यक्तिभाव से) अहंकारवश इस प्रकार कहा जाता कि मैं ही ऊपर—नीचे, दायें—बायें और सब ओर हूँ—स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स ...ऽहमुत्तरोऽहमेवेद श्वर्वमिति (छान्दो० ७.२५.१)। जिसका विभाजन न हो सके, जिसकी सीमा न हो या जो अन्तर रहित हो ऐसा भूमा है और ऐसे अखण्ड आनन्द को भूमानन्द कहा गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में उपनिषद्कार ने ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर अथवा ब्रह्म से एकीभूत हो जाने पर आत्म स्वरूप का वर्णन करते हुए एक साधक का कथन इन शब्दों में उद्धृत किया है—नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्यहं सदा। रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाश विग्रहः। भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्यहं सदा। सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिदधनोस्म्यहम् (ते०बि०३.१२-१३)।

इसी रूप में आत्मबोधोपनिषद् में भी आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति अपने को भूमा स्वरूप बताता हैपरमानन्दघनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहं (आत्मबोधो० २.८)। शतपथ ब्राह्मण में श्री को ही भूमा कहा गया है—श्रीवै भूमा (श०ब्रा० ३.१.१.१२)। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुष्टि को भूमा की संज्ञा प्रदान की गई है— पुष्टिवै भूमा (तैत्ति०ब्रा० ३.९.८.३)। भूमा स्थिति प्राप्त कर लेने वाले साधु—सन्तों को भी कई लोग भूमा कहने लगते हैं।

२३४. भूकुटि—द्र०-त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड।

२३५. मन—द्र०-ज्ञानखण्ड-मानस।

२३६. मनन—द्र०-निदिध्यासन।

२३७. मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग—भारतीय दर्शन में विभिन्न प्रकार के योगों का वर्णन मिलता है। योग का सामान्य अर्थ जोड़ना, मिलाना, संयोग संबंधी, संगति, ध्यान, युक्ति और चित्तवृत्ति निरोध आदि है। व्यावहारिक दृष्टि से योग के कई प्रकार हैं, जैसे— मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि। योगतत्त्वोपनिषद् में इनका उल्लेख इन शब्दों में हुआ है— योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः (यो०त० १९)। ये सभी योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।

मिलकर महायोग कहलाते हैं “मन्त्रो लयोमहायोगोऽभिधीयते” (यो०शि० १२९)। सभी योगों की चार अवस्थाएँ होती हैं। ये हैं- आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति अवस्था-आरम्भश्च घटश्चैवपरिकीर्तिता (यो०त० २०)। मन्त्रयोग के लक्षण का उपनिषद्कार ने इन शब्दों में उल्लेख किया है.....मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्। क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्। अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः (यो०त० २१-२२) अर्थात् जो साधक मातृकायुक्त बारह सौ मन्त्र का जप करता हुआ मन्त्रयोग सिद्ध करता है, वह क्रमशः अणिमा आदि सिद्धियों का ज्ञान प्राप्त करता है। योगशिखोपनिषद् में मंत्रयोग को हंस (सोऽहम्) मंत्र पर आधृत होने का विवेचन है। समस्त प्राणियों द्वारा निरन्तर श्वास-प्रश्वास के द्वारा हंस मंत्र का जप होता रहता है; किन्तु जब गुरु उपदेश से साधक सुषुमा नाड़ी में (प्राण प्रविष्ट हो जाने पर) इसी मंत्र का उल्टा (हंस के स्थान पर) सोऽहम् का जप करता है, तब इसे मन्त्र योग कहते हैं- हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेष्युनः। हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वेर्जीवैश्च जप्यते ॥ गुरुवाक्यात्मन्त्रयोगः स उच्यते (यो०शि० १.१३०-१३१)। जो साधक चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-खाते, चित्त को निष्कल परमात्मा में लगाते हैं अर्थात् परमात्मा में ध्यान को एकाग्र करते हैं, वे लययोग करते हैं-लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तिः। गच्छंस्तिष्ठन्वपभुज्जन्म्या-येन्निष्कलमीश्वरम्। स एव लययोगःशृणु (यो०त० २३-२४)। अन्यत्र भी लययोग का यही स्वरूप निर्दिष्ट है कि जब जीव और परमात्मा का ऐक्य होकर साधक का चित्त ब्रह्म में विलीन हो जाता है, तब शरीर स्थित पवन (प्राण) स्थैर्य को प्राप्त हो जाता है और लययोग का उदय होता है। लययोग से सुख और आत्मानन्दपूर्वक परम पद की प्राप्ति होती है-क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्।पवनः स्थैर्यमायाति लय योगोदये सति ॥ लयात्परं पदम् (यो०शि० १.१३४-१३६)।

यमनियमादि योग के आठ अंगों, मुद्रा-बन्ध आदि के साथ जो योग करते हैं, वह हठ योग है। इसमें हठ पूर्वक इन्द्रियों को सहजधारा से अलग हटाकर निश्चित धारा में लगाने के कारण इसे हठ योग कहते हैं। हठयोग का विस्तृत वर्णन इसी परिभाषा कोश परिशिष्ट के ‘हठयोग’ प्रकरण में किया जा चुका है, विशेष जानकारी हेतु उसे देखना चाहिए। विभिन्न अंग-उपाङ्गों सहित हठयोग द्वारा जब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तब उनके (योगियों के) लिए हठयोग की क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती। वे सिद्धियाँ उनके लिए सहज हो जाती हैं। इसी को राजयोग कहते हैं- हठयोगसिद्धोऽयं राजयोगः योगराजत्वात् (यो०त० १३० टीका) अर्थात् हठयोग द्वारा जो पुरुष सिद्ध हो जाता है, वही राजयोगी है। एक अन्य उपनिषद् में राजयोग की परिभाषा इस प्रकार की गई है-योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसंनिभम्। रजो वसति जन्मनां देवीतत्त्वं समावृतम्। रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः (यो०शि० १.१३६-१३८) अर्थात् प्रत्येक जन्म (जीव) के योनि मध्य (मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच स्थित कन्द), जिसे महाक्षेत्र की संज्ञा प्रदान की गई है, में जपा और बन्धूक के पुष्पों के समान लाल रंग वाला रज निवास करता है, जो देवी तत्त्व से समावृत है। जब योगिक क्रियाओं (कुण्डलिनी साधना) द्वारा साधक शरीर के ऊर्ध्व भाग स्थित शिवस्वरूप रेतस् और अधोभाग स्थित रज का योग करता है, तब प्राण और अपान भी उन्हीं में लीन हो जाते हैं, इससे वह समस्त सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। रज और रेतस् योग की इस क्रिया को ही राजयोग कहते हैं- प्रकृत्यष्टुकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।इत्यधोर्घरजः शुक्ले शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च (यो०कु० १.७४-७५)। भौतिक जगत् में भी नारी के शरीर में स्थित रज और पुरुष के शरीर में स्थित रेतस् (वीर्य) के योग से ही नूतन जीवन (शिशु) का प्रादुर्भाव होता है; किन्तु योगी जनों के एक ही शरीर में यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है और वे शनैः-शनैः इस अभ्यास से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं-एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः। चिरात्संप्राप्यते मुक्तिर्मक्टक्रम एव सः (यो०शि० १.१४०)।

राजयोग की प्रशंसा कई ग्रन्थों में उल्लिखित है। हठयोग प्रदीपिका में उल्लेख है कि आत्मज्ञान, विदेहमुक्ति, अणिमा आदि सिद्धियाँ, गुरु कृपा से प्राप्त राजयोग द्वारा उपलब्ध होती हैं-राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः। ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते (हठ०प्र० ४.८)।

२३८. ममता—द्र०-ज्ञानखण्ड -मोह-ममता-आसक्ति।

२३९. महापातक—पातक शब्द पाप का पर्यायवाची है। किसी को किसी भी प्रकार से पीड़ा पहुँचाना ही पाप है। इसी प्रकार किसी को सुख पहुँचाना अथवा परोपकार करना ही पुण्य है। पाप-पुण्य को सामान्यतः इस श्रोक से स्पष्ट समझा जा सकता है- अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥ पाप कई प्रकार के

होते हैं। उनकी श्रेणी के अनुसार उनके अलग-अलग नामकरण किये गये हैं, जैसे- उपपातक, महापातक आदि। छोटे पापों को उपपातक कहते हैं। कोशग्रन्थों के अनुसार इनकी संख्या प्रायः पचास है; जिनमें गोवध, परदारगमन, मातृत्याग, पितृत्याग, गुरुत्याग, आत्मविक्रिय, अपत्यविक्रिय, दारविक्रिय, स्त्रीवध आदि प्रमुख हैं। महान् या बड़े पापों को महापातक कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है- महदतिशयितं पातकं इति महापातकम्। महापातक पाँच प्रकार के माने गये हैं- ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपतीगमन, चोरी करना तथा इन सभी पापियों के साथ संर्सा। मनुस्मृति में यह तथ्य इन शब्दों में विवेचित है-ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वद्वनागमः। महान्ति पातकान्याहुःसंसर्गश्चापि तैः सह (मनु० ११.५४)।

जो पापी उपर्युक्त इन पापों को करते हैं, उनको नरक भोग के बाद असाध्य रोगों का भी भोग करना पड़ता है। इस प्रकार सात जन्मों तक यह क्रम चलता रहता है, तब महापातक से निवृत्ति मिलती है। प्राचीन ग्रन्थों में महापातक शमन के अनेक उपाय वर्णित हैं। कार्तिक, वैशाख और माघ मास में नित्य प्रातःकाल स्नानादि करके हविष्य भोजन व नैषिक ब्रह्मचर्य पालन से महापातक का विनाश होता है-तुलामकरमेषेषु प्रातः स्नानं विधीयते। हविष्यं ब्रह्मचर्यञ्च महापातकनाशनम् (हिं०विं०को०खं० १७ प० १४७)। इसी प्रकार कृष्ण नाम जप को भी महापातक का शामक कहा गया है- कृष्णोति मङ्गलं नाममहापातककोटयः (हिं०विं०को०प० १४७)। जाबाल्युपनिषद् में भी विद्वान् ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा यति द्वारा भस्म का त्रिपुण्ड्र (ललाट पर तीन आड़ी रेखाएँ) धारण करने और उन तीनों रेखाओं के तत्त्वदर्शन को समझने व जीवन में धारण करने से (जिसका वर्णन जाबाल्युपनिषद् के ही २१ वें मंत्र में है) महापातकों और उपपातकों के शमन का उल्लेख है- त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति (जाबाल्य० २२)।

२४०. महाबन्ध—द्र०-बन्ध।

२४१. महामुद्रा—द्र०-मुद्रा।

२४२. महावाक्य—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२४३. महावेद्ध—द्र०-बन्ध।

२४४. महेश्वर—द्र०-त्र्यम्बक।

२४५. माया—द्र०-ज्ञानखण्ड -अविद्या, माया; अज्ञान।

२४६. मुक्तात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड-जीवन्मुक्त।

२४७. मुक्ति—द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२४८. मुद्रा— योग के अन्तर्गत चित्तशोधन व प्राण के ऊर्ध्वगमन के निमित्त विभिन्न मुद्राएँ प्रतिपादित की गयी हैं- जैसे खेचरी मुद्रा, महामुद्रा, अश्विनीमुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, योनिमुद्रा, योगमुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, तड़ागीमुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली, अमरोली, सहजोली मुद्रा आदि। इनमें कुछ प्रमुख मुद्राएँ इस प्रकार हैं- खेचरी मुद्रा में जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट करकर दृष्टि को भ्रूमध्य में एकाग्र किया जाता है। ध्यान की स्थिरता में इस मुद्रा से बहुत सहायता मिलती है। इसके अभ्यासी को क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्च्छा आदि से त्राण मिलता है। चित्तशून्य (अन्तरिक्ष-खे) में रमण (चर) करने के कारण इसका नाम खेचरी मुद्रा पड़ा है। उपनिषद्कार ने इस मुद्रा के विषय में लिखा है-अन्तः कपाल कुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्। भ्रूमध्यदृष्टिरथ्येषा मुद्रा भवति खेचरी (यो०त० ११७)। इस मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा वृद्धि हेतु छेदन, दोहन व चालन आदि कृत्य किये जाते हैं।

महामुद्रा में मूलबन्धपूर्वक वाम पाद की एड़ी से गुदा और उपस्थ के बीच का स्थान (सीवन) दबाते हैं और दक्षिण पाद को फैलाकर उसकी अङ्गुलियों को दोनों हाथों से पकड़ते हैं। इसके बाद बायें नथुने से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाते हैं, तत्पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिने नथुने से रेचक करते हैं। इसी प्रकार दाहिने ओर से भी यही मुद्रा करनी चाहिए। अश्विनी मुद्रा में पदमासन अथवा सिद्धासन से बैठकर योनि प्रदेश को अश्व (घोड़े) की तरह बारम्बार आकुंचन-प्रकुंचन किया जाता है। इससे प्राण का उत्थान व कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायता मिलती है।

शाम्भवी मुद्रा में मूल और उड़ियानबन्धपूर्वक पद्म अथवा सिद्ध आसन में बैठकर नासाग्र अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान लगाया जाता है। वज्रोली मुद्रा में साधक प्रारम्भ में उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र को ऊपर खींचने और पुनर्विसर्जित करने का अभ्यास करता है। बाद में जल, दूध, तेल, घृत, शहद और पारे को भी खींचने और छोड़ने का

अभ्यास बन जाता है। इसका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर स्त्री योनि में रेतस् विसर्जित करके उसके रज को ग्रहण किया जाता है; पर इस क्रिया में किसी अनुभवी का मार्गदर्शन अपेक्षित है, अन्यथा शारीरिक हानि के साथ ही आध्यात्मिक पतन की सम्भावना भी रहती है। वज्रोली के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् में उल्लेख है—किं नाम वज्रोली? कांस्यपत्रे गोक्षीरं निक्षिप्य वज्रोलीतुल्य लिङ्गनालेन ग्रसित्वा पुनर्विरच्य पुनर्ग्रसनादिकमध्यस्याथ स्त्रीयोनिमण्डले रेतो विसृज्य तच्छोणितेन साकं ग्रसेदिति यत्सैव वज्रोलीत्युच्यते (यो०त० १२६. १२७)।

अमरोली मुद्रा वज्रोली का ही अगला चरण है। इसमें अमरी (मूत्र) की प्रथम और अन्तिम धारा को छोड़कर, मध्य धारा को हाथ या पात्र में लेकर प्रतिदिन पीकर तथा नस्य (नासिका द्वारा लेकर) करते हुए, वज्रोली क्रिया का अभ्यास किया जाता है। यही अमरोली मुद्रा कहलाती है— अमरी यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने-दिने। वज्रोलीमध्य-सेन्नित्यममरोलीति कथ्यते (यो०त० १२८)। सहजोली मुद्रा वह कहलाती है, जिसमें अमरोलीसिद्ध को अमरीपान और नस्य के बिना ही (सहज ही) सिद्धि प्राप्त हो जाती है— एवममरोलीसिद्धस्यामरीपाननस्यं विना या सिद्धिद्वरुदेति सैव सहजोलीत्युच्यते (यो०त० १२८ टीका)।

षष्ठमुखी मुद्रा का प्रयोग योगमार्ग में, मन पर विजय प्राप्त करने, वायु को वश में करने आदि के लिए किया जाता है; जिससे प्राण ऊर्ध्वगामी हो चित्त एकाग्र होता है तथा आनन्दानुभूति होती है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित है—स्वस्तिकासनमात्माय समाहितमनास्तथा। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैःशनैः। हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक् कणादिकरणानि चमहामुने (जा०दर्शनो० ६. ३२-३५) अर्थात् स्वस्तिक आसन पर बैठकर मन एकाग्र करके अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर शनैः—शनैः प्रणव (ओंकार) का जप करते हुए दोनों अँगूठों से कानों को, तर्जनी से नेत्रों को और अन्य अँगुलियों से नासा पुटों को बन्द करके मूर्धा में मन (प्राण) को तब तक धारण करे (ध्यान लगाये), जब तक आनन्द की अनुभूति हो। इस प्रकार प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है। यही षष्ठमुखी मुद्रा है। साधक द्वारा वैष्णवी मुद्रा का प्रयोग मूलाधारदि चार चक्रों में मन को एकाग्र करने के लिए किया जाता है। इसमें मूलाधार, अनाहत, आज्ञा तथा सहस्रार चक्रों में विराजमान क्रमशः विराट् सूत्र, बीज, तुरीय अथवा अन्तर्लक्ष्य में बहिर्दृष्टि रखते हुए (खुले नेत्रों से) अपलक होकर मन को एकाग्र किया जाता है। इस सन्दर्भ में शाण्डल्य उपनिषद् में उल्लेख है— मूलाधारानाहताज्ञा सहस्रारेषु यथाक्रमं विराट् सूत्रं बीजं तुरीयं वा अन्तर्लक्ष्यं तदेकतानं मनः बहिर्दृष्टिस्तु अन्तर्दृष्टिर्भूत्वा यदा निमेषोन्मेषवर्जिता भवति तदा दृष्टिरियं वैष्णवीमुद्रा भवतीत्यर्थः (शाण्डल्यो० १.७. १४ टीका)।

२४९. मुनि—संस्कृत के विकास में ऋषि-मुनियों का आदिकाल से ही योगदान रहा है। ये ही समय-समय पर विकृत परम्पराओं में संशोधन करके नया चिन्तन व साहित्य समाज को देकर उसे नई दिशा प्रदान करते रहे हैं। 'ऋषयोमन्त्र द्रष्टारः तथा दर्शनादृषिः'—यह परिभाषा ऋषि के स्वरूप का स्पष्ट बोध करती है। ऋषि के सन्दर्भ में ज्ञानखण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। मुनि, ऋषियों से कुछ भिन्न होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में मुनि की परिभाषा इस प्रकार निर्दिष्ट है—दुःखेष्वनुद्विग्मनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते (गी० २.५६) अर्थात् जो दुःख में उद्विग्न नहीं होता तथा सुख में अनासक्त रहता है, जिसे राग, भय, क्रोध-आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते, वही मुनि कहलाता है। गरुड़ पुराण में उल्लेख है कि मुनि समस्त वासनाओं को त्याग कर एकमात्र विष्णु में ही सतत लीन रहकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे होम, संध्यावन्दन, तर्पण आदि क्रियाएँ करके धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष प्रदाता भगवान् विष्णु को प्राप्त करते हैं। हिन्दौ विश्वकोश खं० १८ पृ० ९० में मुनि की व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है—मनुते जानाति यः इति अर्थात् मौनव्रती, मननशील महात्मा। अभिप्राय यह है कि चित्त को एकाग्र करके (मौन रहकर) तपस्वी जीवन जीते हुए मनन करने वाला मुनि है। नैषध महाकाव्य में मुनि की सादृश्यता इन शब्दों में निर्दिष्ट है—फलेन मूलेन च वारिभूहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः (नैषधी० १.१३३)।

महोपनिषद् में साधक को गुरु और शास्त्र वचन व स्वानुभूति से स्वयं को ब्रह्मरूप में जानने और शोकादि को त्यागकर मुनि बनने की आज्ञा दी गई है—गुरु शास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिदघने। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः (महो० ४.२५)। मरीचि, नारद, कर्दम, अत्रि, दक्ष और वशिष्ठ आदि मुनियों की श्रेणी में ही आते हैं। साधकों की एक अन्य श्रेणी में मुमुक्षु का नाम भी आता है, जिसका अर्थ कोश ग्रन्थों में इस प्रकार विवेचित है—मुमुक्षु मोक्षमिच्छतीति अर्थात् मुक्ति का अभिलाषी, मोक्ष की इच्छा रखने वाला अथवा वह व्यक्ति जो मुक्ति की कामना करता हो। श्रुति आदेश है कि मुक्तिकामी को चाहिए कि वह वर्जनीय और काम्य कर्म का त्याग करके श्रवण और मनन आदि

के द्वारा ईश्वराराधना में ही निरत रहे। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के प्रति स्पृहा न रखने के संदर्भ में भगवान् कृष्ण अर्जुन को उनके पूर्वज मुमुक्षुओं के पदचिह्नों पर चलने का उपदेश देते हैं—एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वोरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मेव तस्मात्त्वं पूर्वेः पूर्वतरं कृतम् (गी० ४.१५)।

२५०. मुमुक्षु—द्र०-मुनि।

२५१. मूलबन्ध—द्र०-बन्ध।

२५२. मूलाधार—द्र०-कुण्डलिनी।

२५३. मृत्यु—द्र०-ज्ञानखण्ड-अमृत-मृत्यु।

२५४. मोक्ष—द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२५५. यज्ञ—द्र०-ज्ञानखण्ड -यज्ञ-अग्निहोत्र।

२५६. यज्ञसूत्र (जनेऊ-ब्रह्मसूत्र)—द्र०-ज्ञानखण्ड -यज्ञोपवीत उपनयन।

२५७. यज्ञा — यज् धातु से निर्मित यज्ञा शब्द का प्रयोग याज्ञिक अथवा यज्ञकर्ता के अर्थ में किया जाता है। कोश ग्रन्थ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है— यज्ञन्-यज्+वनिप् अर्थात् सविधि (शास्त्रोक्त ढंग से) यज्ञ करने वाला। ब्रह्मोपनिषद् में उपनिषद्कार ने शिखा और यज्ञोपवीत धारण करने का मर्म समझाते हुए कहा है कि जो ज्ञानरूपी शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते हैं, सच्चे अर्थों में वे ही ब्राह्मण हैं—शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मणं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः (ब्रह्मो० १४)। यहाँ ज्ञान को ही यज्ञोपवीत की विशेषता बताया गया है, (वैसे सामान्यतः यज्ञोपवीत को यज्ञ का धारा माना जाता है) इसलिए अगले मंत्र में ज्ञान को यज्ञोपवीत और परम परायण कहा गया है। वस्तुतः ज्ञानी और यज्ञमय-त्याग परायण जीवन जीने वाला ही यज्ञोपवीती (यज्ञोपवीतधारी) है। ऐसे साधक को ही यज्ञरूप और यज्ञा (यज्ञन्) कहा गया है—इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्। स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञस्तं यज्ञानं विदुः (ब्रह्मो० १५)।

२५८. यति—द्र०-ज्ञानखण्ड -संन्यासी-यति।

२५९. यम—आर्षग्रन्थों में प्रमुखतः योग के आठ अंग प्रतिपादित हैं। ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम और नियमों के अन्तर्गत भी पाँच-पाँच गुण समाविष्ट हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम कहलाते हैं— अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (पातं०यो०प्र०सा०पा०सूत्र-३०)। प्रथम—यम अहिंसा शब्द का अर्थ है—अद्रोह, अनपकार, किसी प्रकार भी किसी को पीड़ा न पहुँचाना। वाचस्पत्यम् में इसका अर्थ इन शब्दों में परिभाषित किया गया है—वेदोक्ते एकारेण विना सत्यं तपोधन। कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा ॥ आत्मावेदान्त वेदिभिः अर्थात् वेदोक्त रीति के बिना मन, वाणी और शरीर के द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है; किन्तु किसी के कल्याण के लिए यदि उसे उक्त तीनों प्रकार से कष्ट पहुँचे, तो वह अहिंसा ही कही जायेगी, जैसे—शिक्षार्थ किसी को ताड़ना देना या रोग निवारण हेतु किसी को कटु औषधि देना, आपरेशन करना अहिंसा ही है, वस्तुतः समस्त यम नियमों का मूल अहिंसा है, क्योंकि अहिंसा को परम धर्म कहा गया है—अहिंसा परमोर्धर्मः।

दूसरा—यम सत्य है। किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान सत्य कहलाता है। शरीर द्वारा इसका प्रयोग शरीर का सत्य है। वाणी द्वारा इसका प्रयोग वाणी का सत्य, मन के द्वारा इसका प्रयोग मन का सत्य है। साधारणतः सत्य को वाणी द्वारा व्यक्त करने का ही विषय माना जाता है। इन्द्रियों द्वारा जैसा देखा, सुना और सूँचा है, उसे वाणी द्वारा वैसा कह देना सत्य है—चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं ग्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत् सत्यं विप्र तत्त्वान्यथा भवेत् (जा०दर्शनो० १.९)। वेदान्त में परब्रह्म को ही सत्य माना गया है; क्योंकि वह सर्वकाल में शाश्वत है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्य नहीं है—सर्व सत्यं परं ब्रह्म(जा०दर्शनो० १.१०)। वाणी द्वारा यदि ऐसा सत्य कहा जाता है, जो किसी का अहित करता है, तो इसे ऋषियों ने सत्य नहीं माना है। इसीलिए उसने सत्य की मर्यादा सुनिश्चित कर दी है—सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात् सत्यमप्रियम् (मनु०) अर्थात् वह सत्य बोले जो प्रिय (हितकर) हो। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। महाभारत ने भी इसी प्रकार के सत्य की पुष्टि की है— सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।

तृतीय— यम अस्तेय अर्थात् चोरी न करना है; किन्तु यह स्थूल धन की चोरी न करने तक ही सीमित नहीं है। किसी के अधिकारों का हनन न करना तथा नैतिक मूल्यों की रक्षा करना भी अस्तेय है। इसके विपरीत अधिकारियों द्वारा

रिश्त लेना, दुकानदारों द्वारा निश्चित या उचित मूल्य से अधिक लेना, कम तौलना, मिलावट करना ये सभी अस्तेय विरोधी हैं। जाबाल दर्शनोपनिषद् में अस्तेय इन शब्दों में निरूपित है- अन्यदीये तृणे रते काञ्चने मौक्किकेऽपि च। मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधा:। आत्मन्यनात्मभावेनमुने (जा०दर्शनो० १.१०-१२) अर्थात् किसी दूसरे के तृण (तिनके), रत, मणि, मुक्ता, सुवर्ण, धन सम्पदा पर मन भी न चलना अस्तेय है। संसार के सभी व्यवहार अनात्म हैं अर्थात् आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा मानने वाले ज्ञानीजन अस्तेय का ही पालन करते हैं।

चौथा-यम ब्रह्मचर्य है। शास्त्रों में इसकी बहुत महिमा गायी गई है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार ब्रह्म अर्थात् वेदार्थ का आचरण ही ब्रह्मचर्य है- ब्रह्मचर्य, क्ली; (ब्रह्मणे वेदार्थं चर्यं आचरणीयम्)। सामान्यतः ब्रह्मचर्य का अर्थ अष्ट प्रकार के मैथुन का प्रतिषेध है- ब्रह्मचर्ये अष्टाङ्गमैथुन प्रतिषेधः (श०क० खं० ३ पृ० ४४४)। किसी भी प्रकार से वीर्य का क्षय न करना ब्रह्मचर्य माना जाता है। इसकी महिमा बताते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार ने कहा है- मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणम् अर्थात् बिन्दु (वीर्य) का पात मरण तथा बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में ब्रह्मचर्य इन शब्दों में विवेचित है- कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिवर्जनम्। ऋतौ भार्या तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ॥ ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप (जा०दर्शनो० १.१३) अर्थात् मन, वाणी और शरीर से नारी प्रसंग का परित्याग तथा धर्म बुद्धि से ऋतु काल में ही स्त्री प्रसंग ब्रह्मचर्य है। अर्थवेद में उल्लेख है कि ब्रह्मचर्य तं प के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है- ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (अर्थव० १.७.१९)

पाँचवाँ-यम अपरिग्रह है। अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं, धनादि का परित्याग अपरिग्रह कहलाता है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार करना भी अपरिग्रह है। महर्षि व्यास के अनुसार विषयों में विभिन्न दोष देखकर उन्हें ग्रहण न करना ही अपरिग्रह है-विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगंहिसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः (साङ्गयोग दर्शन-व्यास भाष्य)। इस प्रकार प्रमुखतः ये पाँच यम ही प्रचलित हैं। कुछ ग्रन्थों में दशविध यम वर्णित हैं। ये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सभी के प्रति समान भाव), क्षमा, धृति, मिताहार और शौच हैं- अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽर्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश (जा०दर्शनो० १.६)।

२६०. यायावर— द्र०-गृहस्थ ।

२६१. योग — द्र०-ज्ञानखण्ड ।

२६२. योगनिद्रा— यौगिक क्रियाओं में योगनिद्रा का भी उल्लेख मिलता है। सामान्यतः निद्रा सुषुप्तावस्था को कहते हैं; किन्तु यौगिक प्रक्रिया से उत्पन्न निद्रा योगनिद्रा कहलाती है, जिसे कोश ग्रन्थों में समाधि का एक अंग कहा गया है। हिन्दी विश्वकोश खं० १८ पृ० ६२२ में उल्लेख है-योगश्चित्तवृत्ति निरोधलक्षणः समाधिस्तद्रूपा निद्रा अर्थात् योग, चित्त वृत्ति का निरोध है, उसका चरमोत्कर्ष समाधि है। समाधि में बाह्यज्ञान नहीं रहता। इसलिए यह अवस्था योगनिद्रा कहलाती है। मण्डलब्राह्मण उपनिषद् में भी शुद्ध, अद्वैत, चैतन्य और सहज अमनस्क स्थिति को योगनिद्रा की उपमा दी गई है- शुद्धाद्वैताजाइयसहजामनस्कयोगनिद्रा.....जीवमुक्तो भवति (मं०ब्रा००३० २.५.२)। इस मंत्र की टीका में ब्रह्मयोगी ने उपर्युक्त स्थिति को निर्विकल्प समाधि कहा है-अजाइय.....निर्विकल्प समाधिः (मं०ब्रा००३० २.५.२ टीका)।

२६३. योगी— द्र०-ज्ञानखण्ड -योग ।

२६४. योनि— द्र०-ज्ञानखण्ड ।

२६५. राजयोग— द्र०-मन्त्रयोग ।

२६६. रुद्र— द्र०-त्र्यम्बक ।

२६७. लक्ष्यत्रय— इस शब्द का उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। भूमध्य स्थित सच्चिदानन्द स्वरूप चेतन पुञ्ज ब्रह्म (तारक ब्रह्म) का दर्शन प्राप्त करने के लिए लक्ष्यत्रय का अवलोकन करने का विवेचन मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में इन शब्दों में निर्दिष्ट है-भूमध्ये सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपंतदाप्युपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् (मं०ब्रा००३० १.२.४-५)। ब्रह्मदर्शन में जिन तीन प्रकार की दर्शन प्रक्रियाओं का सहारा लिया जाता है और उनमें जिन रंग विशेषों व स्थितियों का दर्शन होता है, वे ही तीन प्रकार के दर्शन लक्ष्यत्रय के नाम से जाने जाते हैं। बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य और अन्तर्लक्ष्य-ये ही त्रिलक्ष्य (लक्ष्यत्रय) हैं। ज्योति (ब्रह्मज्योति) के दर्शन में सर्वप्रथम योगी को नासिका के अग्रभाग से चार, छः, आठ, दस और बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीला, काला, रक्त, पीत और दो रंगों के संमिश्रण जैसे रंग का आकाश

दिखाई पड़ता है, यही बाह्य लक्ष्य है—बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदश-द्वादशाङ्गुलीभिःव्योमत्वं पश्यति स तु योगी (मं० ब्रा०७० १.२.८)। मध्य लक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है—प्रातः काल में (ध्यान करने पर) सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्वालाओं के समान और उससे रहित अन्तरिक्ष-सम दिखाई पड़ता है। वह उसी के आकारवत् आकारयुक्त हो जाता है। यही मध्य लक्ष्य है—मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यं चन्द्रं वहिज्वालावलीवत्-द्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारी भवति (म०ब्रा०७०१.२.११-१२)। इसी उपनिषद् में अन्तर्लक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है कि अन्तर्लक्ष्य दीप्तिमान् ज्योति के समतुल्य है, बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा अगोचर इसे महर्षिगण ही (पूर्णतः) जान सकते हैं—अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिः स्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम् (मं०ब्रा०७० १.३.६)। अन्तर्लक्ष्य के विषय में विभिन्न विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत हैं। कोई इसे सहस्रार दल में दीप्तिमान् ज्योति के समतुल्य मानते हैं, कोई बुद्धि रूपी गुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष के रूप को अन्तर्लक्ष्य मानते हैं, कोई शीर्ष के अन्तर्गत स्थित मण्डल के बीच में स्थित पंचमुखी और उमा सहित महेश्वर का प्रशान्त रूप ही अन्तर्लक्ष्य मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है—सहस्रारे जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायांअङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके (मं०ब्रा०७० १.४.१)।

उपर्युक्त समस्त विकल्प आत्मा के ही हैं। अस्तु, उस अन्तर्लक्ष्य का जो पुरुष शुद्धात्मा दृष्टि से दर्शन करता है, वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है—उक्तविकल्पं सर्वमातैव। तलक्ष्यं शुद्धात्मदृश्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति (मं०ब्रा०७० १.४.२)। अन्तर्लक्ष्य का दर्शन कर लेने से जीव जीवन्मुक्त स्थिति की ओर अग्रसर होकर, स्वयं अन्तर्लक्ष्य होकर परमाकाश स्वरूप अखण्ड मण्डलाकार हो जाता है।

२६८. लययोग—द्र०-मन्त्रयोग।

२६९. लिङ्गः शरीर—द्र०-पुर्यष्टक।

२७०. लोक—द्र०-ज्ञानखण्ड-लोक-परलोक-समलोक।

२७१. वज्रोली मुद्रा—द्र०-मुद्रा।

२७२. वर्णाश्रम—द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुराश्रम एवं चतुर्वर्ग।

२७३. वानप्रस्थ—चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के पश्चात् तीसरा आश्रम वानप्रस्थ कहलाता है। इसमें गृहस्थ व्यक्ति परिवार की जिम्मेदारियों को निपटाकर पुत्रादि पर परिवार के दायित्व सौंप कर अगले चरण में पती सहित पवित्र जीवन जीकर आत्म कल्याण और लोक सेवा के कार्यों में अपने जीवन के पच्चीस वर्ष लगाता है। हलायुध कोश में वानप्रस्थ की परिभाषा इन शब्दों में विवेचित है—वानप्रस्थः पुं० (वनप्रस्थे भवः, अण्) वैखानसः, तृतीयाश्रमः पुत्रमुत्याद्य वनवासं कृत्वा अकृष्टपच्यफलादिभक्षयित्वा ईश्वराराधनं करोति यःसः (हला० प० ६००) अर्थात् वानप्रस्थी पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् वन में निवास करता हुआ स्वयं उत्पन्न तथा स्वयं पके फलादि का सेवन करके ईश्वराराधन करता है। आश्रम उपनिषद् मंत्र ३ में वानप्रस्थी के चार भेद बताये गये हैं—वैखानस, उदुम्बर, वालखिल्य तथा फेनप-वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति। इनमें वैखानस वानप्रस्थी वे कहलाते हैं, जो स्वयं उत्पन्न तथा पकी हुई औषधियों तथा वनस्पतियों, जो ग्रामीणों द्वारा उपेक्षित हैं, में अग्नि संचार कर उदरपूर्ति करते हुए नियमित पञ्च महायज्ञ [वानप्रस्थी के लिए नियमित पाँच यज्ञ ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन व वेदाध्यापन), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (त्राद्ध-तर्पण), अतिथि यज्ञ अथवा मनुष्य यज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व आदि-चीटीं, कीड़े, कुत्ते, गौ व मछलियों आदि को भोजन कराना) करने का विधान है।] सम्पत्र करते हुए आत्मा की साधना करते हैं—तत्र वैखानसा अकृष्ट पच्यौषधिवनस्पतिभिर्गामबहिष्कृताभिरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते (आश्रमो० ३)।

उदुम्बर वानप्रस्थी उन्हें कहते हैं, जो प्रातः उठकर जिस दिशा में भी देखें उधर जाकर उदुगरि (गूलर), बदर (बेर), नीवार और श्यामाक (साँवाँ) आदि का संग्रह करके उनमें अग्नि संचार करके पञ्च महायज्ञों की क्रियाएँ सम्पन्न करते हुए जीवन की साधना करते हैं—उदुम्बरा: प्रातरुत्थाय यां दिशमधिप्रेक्षन्तेआत्मानं प्रार्थयन्ते (आश्रमो० ३)। उल्लेखनीय है कि गूलर आदि का सेवन करने के कारण इन वानप्रस्थियों का नाम उदुम्बर पड़ा है। कुछ उपनिषदों में 'औदुम्बर' पाठ भी मिलता है।

वालखिल्य वानप्रस्थी वे कहलाते हैं, जो जटाधारण करके फटे वस्त्र और वृक्ष की छालों को शरीर का ओवरण बनाते हुए, आठ मास (मार्गशीर्ष मास से आषाढ़ मास) तक उपार्जित पृथु-फल आदि (शाक-कन्दमूलादि फल और अन्त्रों) को ग्रहण करते हुए (उन आठ मासों के अतिरिक्त अषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा के चार महीने-चातुर्मास्य तक भी वही आठ मास में उपार्जित पदार्थ ग्रहण करते हुए) कार्तिकी पूर्णिमा को सभी संचित भक्ष्य पदार्थ त्याग देते हैं अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमा के बाद फिर नया उपार्जन करके ही ग्रहण करते हैं। इस तरह वे इन संचित भोज्य पदार्थों में अग्रि संचरण करते हुए पञ्चमहायज्ञों को सम्पन्न करते हुए आत्मा की प्रार्थना (साधना) करते हैं। आश्रम उपनिषद्कार ने यह तथ्य इन शब्दों में प्रतिपादित किया है—वालखिल्य जटाधराश्वीरचर्मवल्कल-परिवृत्तः कार्त्तिक्यां पौर्णमास्यां पृथुफलमुत्सृजन्तः शेषानष्टौ ...प्रार्थयन्ते (आश्रमो० ३)। उल्लेखनीय है कि कुछ ग्रन्थों में वालखिल्य के स्थान पर बालखिल्य और बालिखिल्य पाठ भी मिलते हैं।

फेनप वानप्रस्थी के लक्षण यह हैं कि वे विक्षिप्तवत् रहते हुए, शीर्ण पर्ण-फल (अपने आप गिरे हुए पते और फल) ग्रहण कर उनमें अग्रि परिचरण करते हुए, जहाँ कहर्णी भी स्थान मिल जाये, वहीं निवास करते हुए, नियमित पञ्च महायज्ञादि क्रियाएँ सम्पन्न करते हुए आत्म साधना में निरत रहते हैं— फेनपा उन्मत्तकाः शीर्णपर्णफलभोजिनो यत्र तत्र वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा आत्मानं प्रार्थयन्ते (आश्रमो०३)। इन वानप्रस्थियों का नाम फेनप पड़ने का कारण अङ्गार प्रकाशित माइनर उपनिषद् में आश्रमो०की टिप्पणी में लिखा है— फेनपाः स्वयं पतित पर्णफलादिकं फेनो नामेति केचित् अर्थात् कुछ विद्वानों का मानना है कि स्वयं गिरने वाले पते और फलों को फेन कहते हैं। अतः इन्हें ग्रहण करने के कारण इन वानप्रस्थियों का नाम भी फेनप पड़ गया है। श्रीमद्भागवत के ३.१२. ४३ वें श्लोक की व्याख्या में फेनप उन्हें बताया गया है, जो (दूध पाते समय) बछड़े के मुख से गिरने वाले दूध के फेन से जीवनयापन करते हैं—फेनपावत्समुखगलितपयः फेनपानेन जीवन्त इति।

२७४. वार्ताक वृत्ति— द्र०-गृहस्थ।

२७५. वालखिल्य— द्र०-वानप्रस्थ।

२७६. वासनात्रय- वासना शब्द का उपयोग सामान्यतः आसक्ति अथवा विषम लिङ्गियों (स्त्री-पुरुषों) में परस्पर काम वासना की प्रगाढ़ता के अर्थ में किया जाता है; किन्तु कोश ग्रन्थों में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रतिपादित है—वासयति कर्मणा योजयति जीवमनांसीति वस-णिच-युच-टाप् (हि० वि० को० खं० २१ प०० २३०) जिसके अनेक अर्थ हैं, जैसे—प्रत्याशा, ज्ञान, संस्कार, स्मृति, हेतु, भावना, इच्छा, कामना आदि। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति अत्यधिक स्वेह या मोह के कारण उससे सम्बन्धित कोई प्रसङ्ग उपस्थित होते ही उसका संस्कार अथवा वासना जाग पड़ती है, जिससे वह तत्सम्बन्धित कार्य करने को समुद्यत हो उठता है। जैसे कोई लेखक या कवि जो नदी, सरोवर, बगीचे आदि के निकट लेख या कविता लिखने का अभ्यासी है। यदि वह कहर्णी बाहर गया हुआ है और वहाँ भी उसे ऐसा ही वातावरण मिल जाए, तो उसके अन्दर कुछ लिखने के भाव जाग्रत् होने लगते हैं; इसे ही उसका संस्कार या वासना का जागना कहेंगे। वासनाएँ तीन प्रकार की मानी गयी हैं, जिन्हें उपनिषदों में वासनात्रय के नाम से जाना जाता है। ये हैं—देह सम्बन्धी वासना, मन सम्बन्धी वासना और बुद्धि सम्बन्धी वासना। संन्यासोपनिषद् (२-२०) के वासनात्रय के अन्तर्गत देह वासना, शास्त्र वासना तथा लोक वासना का भी उल्लेख किया गया है। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् में मुमुक्षु को निर्देश दिया गया है कि वह सदगुरु से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर इहलोक और परलोक के सुखों के वास्तविक स्वरूप को समझकर एषणात्रय, वासनात्रय, ममता और अहंकारादि को वमन किए (उल्टी किए) हुए अन्न के समतुल्य समझकर मोक्ष के एक मात्र साधन ब्रह्मचर्याश्रम को पूरा करके गृहस्थ बने, तदुपरान्त वानप्रस्थी और इसके पश्चात् संन्यास आश्रम ग्रहण कर प्रव्रज्या करे—सदगुरु समीपेज्ञात्वैषणात्रय वासनात्रय ममत्वाहंकारादिकं वमनात्रमिवप्रव्रजेत् (परम० प० २)। इस मंत्र की टीका में ब्रह्मयोगी ने वासनात्रय को देहादि वासनात्रय कहकर वासना के तीनों रूपों की ओर संकेत किया है— न कदापि संसारमण्डलेदेहादि वासनात्रय ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। इस प्रकार क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और इसके पश्चात् संन्यास धारण करने के अतिरिक्त एक पथ और है कि जब कभी भी पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाये (वासनात्रय, एषणात्रय, आदि दोषों से मुक्त हो जाये), तभी प्रव्रज्या आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम ग्रहण किया जा सकता है। इस स्थिति में संन्यास ग्रहण करने के लिए क्रमशः आश्रम ग्रहण करना, व्रती (व्रतधारण करने वाला), पुनर्वती, स्नातक, अस्नातक, अग्निहोत्री अथवा उससे रहित होना आवश्यक नहीं है।

२७७. विक्षेप— द्र०-अज्ञान-आवरण।
 २७८. विज्ञान— द्र०-ज्ञानखण्ड -ज्ञान-विज्ञान।
 २७९. विज्ञानात्मा— विज्ञानात्मा शब्द वस्तुतः विशेषण सहित जीवात्मा के स्वरूप का बोधक है। इसका उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। विज्ञानात्मा शब्द का सामान्य अभिप्राय विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न जीवात्मा से है। वेदान्त के अनुसार स्थिति भेद से इस जीवात्मा की ही प्राज्ञ, विश्व और तैजस संज्ञाएँ होती हैं। १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड के परिशिष्ट के 'प्राज्ञ' प्रकरण में यह द्रष्टव्य है। इनमें स्थूल शरीर के व्यष्टि उपहित चैतन्य को विश्व कहते हैं। (यही समष्टि उपहित चैतन्य के रूप में वैश्वानर कहलाता है।) इसी विश्वसंज्ञक जीवात्मा को प्रज्ञात्मा की संज्ञा प्रदान की गई है। विराट् पुरुष (समष्टिगत वैश्वानर) ही ईश्वर की आज्ञा से व्यष्टि रूप देह में प्रविष्ट होकर बुद्धि तत्त्व में निवास करके विश्व कहलाता है। इसी विश्व को विज्ञानात्मा, चिदाभास, व्यावहारिक, जाग्रत्, स्थूल देहाभिमानी और कर्म-भू आदि कहते हैं। इस सन्दर्भ में पैङ्गलोपनिषद् में उल्लेख है—इशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत्। विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको नाम भवति (पैङ्गलो० २.६) अर्थात् व्यष्टि देह में प्रविष्ट होने पर बुद्धि में वास करके विश्व अथवा प्रज्ञात्मा कहलाता है। वेदान्त के मत में यह विराट् ही सूक्ष्म शरीर का परित्याग किये बिना स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है और विश्व के सभी शरीरों में प्रवेश करने की क्षमता के कारण ही इसे विश्व कहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए स्वामी रामतीर्थ लिखते हैं—सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति (व०सा०विद्व०खं० १७)। विषयों का ज्ञान और उपभोग जाग्रत् स्थिति में यही विश्व या विज्ञानात्मा १९ मुखों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) द्वारा करता है—जागरित स्थानों बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूल भुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः (माण्ड०३)। प्रश्नोपनिषद् में इस विज्ञानात्मा को द्रष्टा, स्पष्टा, श्रोता और घ्राता आदि कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—एव हि द्रष्टा स्पष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स पेरङ्क्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते (प्रश्नो४.९)।

२८०. विद्या-ज्ञान— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२८१. विधाता— द्र०-ज्ञानखण्ड -विधाता-धाता।

२८२. विनियोग— वि-नि-युज् और घञ् से निर्मित विनियोग शब्द के कई अर्थ हैं। जैसे—किसी फल के उद्देश्य से किसी वस्तु का उपयोग, किसी विषय में लगाना, प्रयोग, वैदिक कृत्य में मन्त्र विशेष का प्रयोग, प्रेषण, प्रवेश आदि। इन कई अर्थों में से 'वैदिक कृत्य में किसी मन्त्र के प्रयोग' के सन्दर्भ में पहले से ही गायत्री साधना करते समय विश्वामित्र और वसिष्ठ के शांप विमोचन हेतु एक विशेष मन्त्र द्वारा विनियोग किया जाता रहा है। (वर्तमान में तो युग ऋषि द्वारा गायत्री साधना को शाप मुक्त कर देने के कारण इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती)। कई उपनिषदों में किसी वस्तु या साधना प्रक्रिया के प्रयोग के अर्थ में विनियोग शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे—जाबालदर्शनोपनिषद् में प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों का विनियोग (प्रयोग) विभिन्न रोगों के निरसन हेतु निर्दिष्ट है—विनियोगान् प्रवश्यामि प्राणायामस्य सुब्रत। सर्वरोग विनिर्मुक्तो जीवेद्वृष्टशतं नरः (जा०दर्शनो० ६. २१, २३)।

२८३. विपर्यास (विपर्यय) — द्र०-अध्यारोप-अपवाद।

२८४. विभु— कोश ग्रन्थों में विभु शब्द के कई अर्थ संप्राप्य हैं, यथा—प्रभु, स्वामी, शंकर, ब्रह्म, भृत्य, विष्णु, आत्मा, जीवात्मा, ईश्वर, सर्वव्यापक, सर्वत्रगमनशील, रात, दिन, बहुत बड़ा, विस्तृत, महान् और ऐश्वर्ययुक्त आदि। वेद, पुराणों और उपनिषदों में इस जगत् में उस विराट् ब्रह्म की सर्वव्यापकता के प्रतिपादन में भी कई स्थलों पर विभु शब्द का प्रयोग मिलता है। पैङ्गलोपनिषद् में ईश्वर के ऐश्वर्य, महानता और स्वामित्व को प्रदर्शित करने के लिए ईश्वर के साथ विभु विशेषण प्रयुक्त हुआ है। पैङ्गल ऋषि ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाला विभु ईश्वर किस प्रकार जीवत्व को प्राप्त हुआ—अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीशः कथं जीवत्वमगमदिति (पैङ्गलो० २.१)। इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य जी ने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की उत्पत्ति सहित विभु ईश्वर के स्वरूप का विवेचन किया। इस प्रकार सर्वव्यापकत्व, विराट्, महान् आदि अर्थों में विभु शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।

२८५. विरज— सामान्यतः रज (धूल) रहित वस्तु को विरज कहते हैं; किन्तु आध्यात्मिक सन्दर्भों में रज अर्थात् रजोगुण

से रहत को विरज कहते हैं। परब्रह्मोपनिषद् में शौनक अङ्गिरस ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया कि क्या संसार के सभी पदार्थ उत्पन्न होने से पूर्व ब्रह्मपुर अर्थात् हिरण्यगर्भ के हृदयाकाश में विराजित हो जाते हैं? वे गरिमामय भगवान् किस तरह इन्हें विभाजित करते हैं? वे स्वयं कौन हैं? इस प्रश्न के उत्तर में महर्षि पिप्पलाद ने उस परब्रह्म को सत्य स्वरूप, विरज, (रजोगुणादि गुणत्रय रहित), निष्कल (कलातीत) और शुभ्र अक्षर स्वरूप कहा है-अथ हैनं महाशालःपरब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं विभाति सकर्म कुर्यात् (परब्रह्मो०१)। कुछ ग्रन्थों में दोषरहित (निर्दोष) व्यक्ति को भी विरज कहा गया है। इसी प्रकार जिसका रजोधर्म समाप्त हो गया हो, उसे भी विरज कहते हैं।

२८६. विवर्त— द्र०-अध्यारोप-अपवाद।

२८७. विश्व (जीवात्मा) — द्र०-ज्ञानखण्ड -वैश्वानर।

२८८. विषय भोग— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२८९. वेद— द्र० ज्ञानखण्ड -वेद-वेदान्त।

२९०. वेदमाता— द्र०-ज्ञानखण्ड -गायत्री।

२९१. वेदान्त— द्र०-वेद-वेदान्त।

२९२. वैकुण्ठ— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२९३. वैखानस— द्र०-वानप्रस्थ।

२९४. वैराग्य— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२९५. वैराग्य संन्यासी— द्र०-अवधूत।

२९६. वैश्वानर— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२९७. वैष्णवी मुद्रा— द्र०-मुद्रा।

२९८. व्यष्टि-समष्टि— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२९९. व्योम पञ्चक— सामान्यतः रिक्त स्थान को आकाश या व्योम कहते हैं। इसी अवधारणा के अनुसार घट में स्थित रिक्त स्थल को घटाकाश और मठ में स्थित रिक्त स्थान को मठाकाश तथा हृदय में स्थित रिक्त स्थान को हृदयाकाश आदि कहा जाता है; किन्तु मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में आकाश (व्योम) की इन अवधारणाओं के अतिरिक्त पाँच अन्य धारणाओं का भी उल्लेख किया गया है, जिनके समुच्चय को आकाश पञ्चक या व्योम पञ्चक कहा गया है। मं.ब्रा.उ. के चतुर्थ ब्राह्मण के प्रथम खण्ड के प्रथम मंत्र में ऋषि याज्ञवल्क्य मण्डल पुरुष (सूर्यमण्डल स्थित पुरुष) से वार्तालाप के अन्तर्गत प्रश्न करते हैं कि व्योमपञ्चक का लक्षण क्या है- अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुबूहीति। इसके उत्तर में मण्डल पुरुष ने पाँच प्रकार के आकाशों—आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश का उल्लेख किया—स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति (मं०ब्रा०उ० ४.१.२)। पाँचों प्रकार के आकाशों का पृथक्-पृथक् स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—१. आकाश— जो अन्दर और बाहर दोनों ओर से अन्धकार से पूर्ण है, वह आकाश है। २. पराकाश—जो बाह्याभ्यन्तर कालाग्नि तुल्य है, वह पराकाश कहलाता है। ३. महाकाश— बाहर और भीतर से जो अपरिमित कान्ति सदृश है, वह महाकाश है। ४. सूर्याकाश— जो आकाश बाहर और अन्दर सूर्य सदृश है, उसे सूर्याकाश कहते हैं तथा ५. परमाकाश— जो आकाश अनिर्वचनीय ज्योतिरूप, सर्वव्यापी और अतिशय आनन्द के लक्षण से युक्त है, उसे परमाकाश की संज्ञा प्रदान की गई है—स बाह्याभ्यानन्दरमन्धकारमयनिरतिशयानन्द लक्षणं परमाकाशम् (मं० ब्रा० उ० ४.१.१३)। योगी के लिए विभिन्न विषयों का ज्ञान होना आवश्यक बताया गया है— नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्। सम्यगेतत्र जानाति स योगी नामतो भवेत् (मं० ब्रा०उ० ४.१-५)।

३००. व्रती— द्र०-वासनात्रय।

३०१. शब्दब्रह्म— वेद, पुराण और उपनिषदादि आर्ष ग्रन्थों में शब्द को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। शब्द विशेष से निकलने वाली ध्वनि 'नाद' को भी ब्रह्म कहा गया है। इस प्रकार शब्द और नाद दोनों ही ब्रह्म हैं। अ, उ और म् से निर्मित

शब्द '३०' आध्यात्मिक सन्दर्भों में बहुत महत्वपूर्ण है। इसे ब्रह्म का साक्षात् रूप कहा गया है। इसीलिए प्रत्येक मन्त्र के उच्चारण के पूर्व '३०' लगाया जाता है। ओङ्कार के तीनों अक्षर अ, उ और म् तीन महाशक्तियों -त्रिदेवों का बोध कराते हैं-अकारो विष्णुरुद्धिष्ट उकारस्तु महेश्वरः। मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥

ओ३३ ही ब्रह्म है। ओ३३ ही सब कुछ है। इस तथ्य की पुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद् के १.८.१ मन्त्र में द्रष्टव्य है—
ओमिति ब्रह्म। ओमितीदः सर्वम्। समूचे वेदों में ओंकार का ही विस्तार से वर्णन है, इसीलिए वेदादि को भी शब्द ब्रह्म कहा गया है। परब्रह्म को ही शब्दब्रह्म (प्रणव) कहा जाता है। ये दोनों ही अक्षर (अविनाशी) हैं। इन दोनों में किसी एक के भी क्षीण हो जाने पर भी दूसरा अक्षर स्थिति में बना रहता है, वही वस्तुतः अक्षर (अविनाशी परब्रह्म) है। अतः विद्वान् पुरुषों के लिए उचित है कि उन्हें शान्ति हेतु अक्षर (शब्दब्रह्म या परब्रह्म) का ही चिन्तन करना चाहिए—शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन् क्षीणे यदक्षरम्। तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः (ब्रह्मबि० १६)। शब्दब्रह्म और परब्रह्म का ऐक्य इस मंत्र से स्पष्ट होता है—द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्ठातः परं ब्रह्माधिगच्छति (ब्रह्मबि० १७) अर्थात् दो विद्याएँ ही जानने योग्य हैं, प्रथम शब्दब्रह्म और द्वितीय परब्रह्म। शब्द ब्रह्म (वेद शास्त्रादि) में प्रवीण होने वाला विद्वान् परब्रह्म को जान लेता है। मैत्रायणी उपनिषद् में भी कुछ पाठ भेद से लिखे मन्त्र से इसी तथ्य की पुष्टि होती है— द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये ब्रह्माधिगच्छति (मैत्रा० ६.२२) अर्थात् शब्दब्रह्म से उत्तीर्ण होकर ओङ्कारादि शब्द से यथार्थ ज्ञान हो जाने पर साधक परब्रह्म में अधिष्ठित हो जाता है।

३०२. शाम्भवव्रत—द्र०-त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र।

३०३. शाम्भवी मुद्रा—द्र०-मुद्रा।

३०४. शालीन वृत्ति—द्र०-गृहस्थ।

३०५. शिखा-सूत्र— भारतीय संस्कृति की महानता के दो प्रतीक हैं, जिन्हें शिखा अर्थात् चोटी और सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत या जनेऊ नाम से जाना जाता है। विश्व की सर्वोच्च संस्कृति की प्रतीक होने और गायत्री की मूर्तिमान् प्रतिमा होने के कारण इसे शरीर के सर्वोच्च स्थल सिर और वहाँ स्थित सहस्रार चक्र के ऊपर धारण किया जाता है। इस महाशक्ति को सिर पर धारण करने का अर्थ है कि वेदमाता गायत्री के उच्च आदर्शों को हम स्वीकार करते हैं और उन्हें ही अपना सर्वस्व मानकर उनके निर्देशन में चलने का व्रत लेते हैं, साथ ही उनसे दिव्य तेज की कामना भी करते हैं—चिद्रूपिणि महामाये दिव्यतेजः समन्विते। तिष्ठ देवि शिखामध्ये तेजो वृद्धिं कुरुष्व मे (सं०प्र०)। शिखा सद्ज्ञान और सद्बुद्धि की भी प्रतीक है, इसीलिए हर भारतीय इसे धारण करता है, ताकि वह सद्ज्ञान और विवेक-सम्पन्न बने। शिखा के ज्ञानमयत्व का उल्लेख नारद परिव्राजकोपनिषद् में निर्दिष्ट है— अग्रेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशथारिणः (ना०परि० ३.८७)। भारतीय संस्कृति-देव संस्कृति के द्वितीय प्रतीक यज्ञोपवीत को यज्ञमय जीवन अर्थात् सत्कर्म पूर्ण, त्यागमय जीवन का चिह्न माना गया है। इसे यज्ञ और गायत्री की मूर्तिमान् प्रतिमा कह सकते हैं; क्योंकि इसमें सद्ज्ञान (गायत्री) और सत्कर्म (यज्ञ) का समुच्चय समन्वित है। गायत्री मन्त्र के नौ शब्द यज्ञोपवीत के नौ धागे, तीन व्याहतियाँ तीन गाँठें और ब्रह्मग्रन्थि प्रणव (३०) है। इस प्रकार समूचा गायत्री मन्त्र यज्ञोपवीत में समाविष्ट है। यज्ञोपवीत के ज्ञानमयत्व का भी ना०परि० में इस प्रकार उल्लेख है—ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञान यज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते (ना० परि० ३.८६)।

यज्ञोपवीत को ही सूत्र या ब्रह्मसूत्र, उपवीत, व्रतबन्ध या व्रतसूत्र भी कहते हैं। इसे परम पवित्र और तेज-बल सम्पन्न माना गया है— यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्। आयुष्मग्रं प्रतिमुञ्च शुभं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः (पा०गृ०सू० २.२.११ ना० परि० ४.३६)। इस ब्रह्मसूत्र-यज्ञसूत्र को धारण करने वाले पुरुषों के हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र प्रतिष्ठित हो जाता है—सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः (ब्रह्मो०-१०)। इस प्रकार ये शिखा और सूत्र आत्मिक उत्तरि और भौतिक समृद्धि के लिए नितान्त आवश्यक हैं, इसके सभी सूत्र इन प्रतीकों में विद्यमान हैं।

३०६. शौच-द्र०-नियम।

३०७. श्रद्धा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३०८. श्रवण —द्र०-निदिध्यासन।

३०९. श्राद्ध - तर्पण — द्र०-ज्ञानखण्ड - श्राद्ध।

३१०. श्रुति — द्र०-ज्ञानखण्ड - श्रोत्रिय।

३११. श्रोत्रिय — द्र०-ज्ञानखण्ड।

३१२. षड्ऊर्मियाँ—षड्भाव विकार — उपनिषदों में कई स्थलों पर षड्ऊर्मियों और षड्भाव विकारों का वर्णन प्राप्त होता है। साधक के विभिन्न स्तरों के अनुरूप उनकी दिनचर्या और नियम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे यति (संन्यासी) के लिए आचरणीय विभिन्न नियमों का उल्लेख करते हुए प्रजापति ब्रह्मा ने नारद से कहा कि यति को षट्कूर्मिरहित और षड्भाव विकारों से शून्य रहना चाहिए-अयत्नेन प्राप्तमाहरन् षट्कूर्मिरहितः, षट्भाव विकार शून्यः, स्वरूपानुसंधानेन वसेत् (ना०परि० ७.१)। कोशग्रन्थों में छः प्रकार की ऊर्मियाँ (तरङ्गे) वर्णित हैं- बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ। शोक मोहौ शरीरस्य जरामृत्यु षट्कूर्मियः (वाच०प० १३९३) अर्थात् भूख और प्यास प्राण से सम्बन्धित, शोक और मोह मन से सम्बन्धित तथा जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु ये शरीर से सम्बन्धित छः ऊर्मियाँ हैं। इसी प्रकार छः प्रकार के भाव विकार भी होते हैं, जिनसे संन्यासी को दूर रहने का परामर्श दिया जाता है। छः भाव विकारों का उल्लेख निरुक्तकार यास्क ने इन शब्दों में किया है- षट् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः ॥ जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्धते, उपक्षीयते, विनश्यतीति (निं० १.१.३) अर्थात् जन्म (उत्पन्न होना), अस्तित्व (विद्यमान रहना), विपरिणमन (परिवर्तित होना), विकास (बढ़ना या विकसित होना), अपक्षय (क्षीण होना) और विनाश (पूर्णतः विनष्ट हो जाना) — ये ही षट्भाव विकार हैं। संन्यासी (यति) को आत्मज्ञान प्राप्त करके इन भाव विकारों से ऊँचा उठना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ के षट्भाव इस प्रकार निर्दिष्ट हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इसी प्रकार ज्योतिष की दृष्टि से लज्जित, गर्वित, क्षुधित, तृष्णित, मुदित और क्षोभित ये षट्भाव कहलाते हैं; किन्तु उपनिषदों में जहाँ भी परमहंस, अवधूत, संन्यासी आदि को षट्भाव विकार शून्य होने का निर्देश दिया गया है, वहाँ उपर्युक्त जन्म, अस्तित्व आदि षट्भाव विकारों से ही तात्पर्य है। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् में भी अयज्ञोपवीती, अशिखी तथा सर्व कर्म परित्यागी ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजक के लक्षण बताते हुए उसे निन्दा, अमर्ष (क्रोध), सहिष्णु, षट्कूर्मिवर्जित और षट्भाव विकार शून्य होकर ज्येष्ठ-अज्येष्ठ के व्यवधान से रहित होने वाला विवेचित किया गया है- लोके परमहंस परिव्राजको दुर्लभतरः स निन्दामर्ष सहिष्णुः स षट्कूर्मिवर्जितः। षट्भाव विकार शून्यः। स ज्योष्ट्राज्येष्ठव्यवधान रहितः परमहंस परिव्राजित्युपनिषद् (परम० ८० ५)। इस प्रकार परमहंस-संन्यासी को उपर्युक्त गुणों को अपनाकर समस्त इन्द्रियों पर संयम (नियंत्रण) रखते हुए सतत ब्रह्मभाव में ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा परमहंस ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

३१३. षट्भाव विकार — द्र०-षट्ऊर्मियाँ-षट्भाव विकार।

३१४. षट्कूर्मियु — द्र०-ज्ञानखण्ड षट्कूर्मियु-षट्कर्वा।

३१५. षण्मुखी मुद्रा — द्र०-मुद्रा।

३१६. षोडश कला — द्र०-ज्ञानखण्ड।

३१७. संन्यास — द्र०-ज्ञानखण्ड - चतुराश्रम।

३१८. संन्यासी — द्र०-ज्ञानखण्ड - संन्यासी-यति।

३१९. संयम — द्र०-षट्ऊर्मियाँ-षट्भाव विकार।

३२०. संवत्सर — द्र०-ज्ञानखण्ड।

३२१. सत्य — द्र०-यम।

३२२. सदानन्द — द्र०-अद्वयानन्द।

३२३. सदगति — द्र०- सदगुरु।

३२४. सदगुरु — ज्ञानाव्जन शलाका से अज्ञान रूपी तिमिरान्धता को दूर करने वाले को गुरु शब्द से अभिहित किया गया है। इस सन्दर्भ में यह श्रूक प्रसिद्ध है- अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाव्जनं शलाकया। चक्षुरुमीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ कोशग्रन्थों में 'गु' शब्द को अन्यकार वाची और 'रु' को प्रकाशवाची माना गया है। इस मान्यता के अनुसार भी

अन्यकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला गुरु होता है। गायत्री मंत्र के उपदेष्टा को भी गुरु कहते हैं; क्योंकि प्राचीनकाल में कोई भी गुरु अपने शिष्य को सर्वप्रथम गायत्री मंत्र ही दिया करता था। इसीलिए गायत्री मंत्र को गुरुमंत्र कहा जाने लगा और गुरु को गायत्रीरूप। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर का यह श्रोक द्रष्टव्य है—नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्रीरूपिणे—सदा। यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसार संज्ञकम्॥

मनुस्मृति में गुरु की परिभाषा इस प्रकार निर्दिष्ट है— निषेकादीनि कर्मणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते (मनु० २.१४२) अर्थात् जो निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को विधिवत् कराकर अन्नादि से पालन-पोषण करता है, उसे गुरु कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार माता-पिता प्रथम गुरु हैं, तत्पश्चात् पुरोहित आदि। तप, पुण्य, ज्ञान आदि समस्त गुणों से सम्पन्न तथा शिष्य का हर प्रकार से कल्याण करने वाले को सदगुरु कहते हैं। दूसरे शब्दों में उत्तम गुण युक्त विशिष्ट गुरु को 'सदगुरु' कहते हैं। जिसके पास समस्त सदगुण, विद्वता और क्रियाशीलता (तपश्चर्या) होती है, वे ही सच्चे अर्थों में सदगुरु कहलाते हैं। तत्र सार में सदगुरु के लक्षण इस प्रकार विवेचित हैं— जो शान्त, दान्त, कुलीन, विनीत, शुद्ध भाव सम्पन्न, पवित्र स्वभाव, कार्यदक्ष, तन्त्र-मन्त्रज्ञ, शिष्य को अनुशासन में रखने तथा उन पर अनुग्रह करने आदि में समर्थ है, वही सदगुरु कहलाने योग्य है—सिद्ध तपस्वी कुशलः तन्त्रज्ञः सत्यभाषिता। निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥ शान्तो दान्तःकर्मभिः (तं०सा०सं० १.२६-२७)। बहुत जन्मों के पुण्य फल से सदगुरु की प्राप्ति होती है। वेदान्त सार में उल्लेख है कि जिन मुमुक्षुओं के शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि साधन सिद्ध हो चुके हों, उन्हें ब्रह्मनिष्ठ-श्रोत्रिय सदगुरु के पास जाकर 'तत्त्वमस्यादि' का उपदेश प्राप्त करना चाहिए। नारद परिव्राजकोपनिषद् में भी गुरु-सदगुरु के गुण निर्दिष्ट हैं। संन्यास धारण के क्रम में ब्रह्मा ने नारद से कहा कि जिस श्रेष्ठ कुलोत्पन्न और माता-पिता के आज्ञाकारी बालक का उपनयन न हुआ हो, उसका उपनयन कराकर माता-पिता उस बालक को किसी श्रोत्रिय, शास्त्रों के अनुरागी, श्रद्धावान्, गुणवान् और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न सदगुरु के पास रहने के लिए भेजें—भो नारदशद्वावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियंसदूरुमासाद्य नन्त्वा संन्यस्तुर्महतीत्युपनिषद् (ना० परि० २.२)।

सदगुरु पाकर शिष्य का जीवन धन्य हो जाता है और वह इहलोक में सब तरह समुत्रत होकर परलोक में भी सदगति प्राप्त करता है। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार— सती गतिर्यस्य अर्थात् जिसकी उत्तम विशिष्ट गति हो वह सदगति सम्पन्न कहा जाएगा। मुक्ति, निर्वाण आदि को भी सदगति माना गया है। मृत्युपरान्त जीवात्मा की उच्च लोकों में जो गति होती है, उसे ही सदगति कहते हैं। पाप से असदगति और पुण्य करने से सदगति प्राप्त होती है, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है।

वटुकोपनिषद् में परब्रह्म का एक नाम 'एक' भी बताया गया है। उस एक में ही समस्त प्राणी विलीन होते तथा एक से ही सृजित होते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणादि तीर्थों में भ्रमण करने वाले उस 'एक' ब्रह्म हेतु ही वहाँ जाते हैं और उन सभी की सदगति होती है—अथ कस्मादुच्यत तीर्थमेके व्रजन्ति तेषां सर्वेषामिह सद्गतिः (वटुको०)। इस प्रकार जो साधक सदगुरु की आज्ञा से सत्पथ पर चलते हैं, उनकी सदगति सुनिश्चित है।

३२५. सन्तोष—द्र०-नियम।

३२६. सन्धि— सन्धि शब्द का प्रयोग कई प्रयोजनों के निमित्त होता है। हिन्दी विश्वकोश सं० २३ पृ० ५५१ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रतिपादित है— सन्धानमिति-सन्-धा-कि। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सन्धि शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे राजाओं के बीच कुछ विवादों को निपाटने के लिए परस्पर कुछ समझौता कर लेना सन्धि कहलाती है। इसी प्रकार शरीर में अस्थियों के विभिन्न जोड़ों को भी सन्धि कहते हैं। व्याकरण की दृष्टि से दो वर्णों (स्वर, व्यंजन या विसर्ग) के मिलन को भी सन्धि कहते हैं। व्याकरण में इन्हें क्रमशः स्वर-सन्धि, व्यंजन सन्धि और विसर्ग सन्धि कहा जाता है। दो युगों के मध्य को भी सन्धि अथवा सन्ध्या कहते हैं। दिन और रात्रि के मिलन काल को भी सन्धि या सन्ध्या कहते हैं। सन्ध्याएँ तीन होती हैं— प्रातः काल, मध्याह्न और सायंकाल। इन्हें त्रिसन्ध्या या त्रिसन्धि भी कहते हैं। प्रत्येक सन्धि या सन्ध्या में गायत्री जप अथवा ईश्वर उपासना का विधान है। सन्धिकालों अथवा सन्ध्याओं में की गई उपासनाएँ विशेष रूप से फलित होती हैं। इसमें ध्यान सम्यक् रूप से लगता है, इसीलिए सन्ध्या शब्द की व्युत्पत्ति में यह भाव ध्वनित होता है—सन्ध्या (सं० स्त्री) सं सम्यक् ध्यायत्यस्यामिति सं+धै चिन्तने+आतश्शोपसर्गं (श०क० खं० ५ पृ० २४१)। द्विजातियों के लिए नियमित रूप से सन्ध्या करना अनिवार्य माना गया है। श्रुति में उल्लेख है— अहरहः सन्ध्यामुपासीत (ह०वि०को०खं० २३ पृ० ५५४)। आरुण्युपनिषद् में संन्यासी के कर्तव्यों के क्रम में निर्दिष्ट है कि उसे तीन सन्ध्याओं में स्नान करके समाधिस्थ होकर आत्मा में रमण करना चाहिए— त्रिसंध्यां स्नानमाचरेत् संधिं समाधावात्मन्याचरेत्

(आरुणि०२)। परमहंसोपनिषद्-२ में परमहंस के लक्षणों में उसे स्थूल शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड आदि से रहित होकर घड़मियों व अन्य कलुओं से रहित होना बताया गया है। उसी क्रम में आत्मा-परमात्मा में समभाव रखना और इनको एक ही दृष्टि से देखना उसकी संध्या बताया गया है—परगात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एक एव विभग्नः सा सन्ध्या।

३२७. सन्ध्या—द्र०-सन्धि।

३२८. समाधि—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३२९. सम्प्रसाद—विशेषतः 'सम्प्रकृ प्रसन्नता' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'सम्प्रसाद' शब्द का उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। हिंविंको० खं० २३ प० ६३३ के अनुसार सम्-प्र-घज् से निर्मित सम्प्रसाद शब्द के कई अर्थ हैं, जैसे—सम्प्रकृ प्रसाद, चित्त की प्रसन्नता, योग शास्त्र के अनुसार चित्त की निर्मलता की एक साधना विशेष, सुषुप्ति, प्रसन्नता और विश्वासादि। परब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म के ध्यान की स्थिति और उसके स्वरूप के विषय में बताते हुए उसे देवों का संप्रसाद दाता, अन्तर्यामी, असङ्ग, चैतन्य स्वरूप पुरुष कहा है—य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्य—सङ्गचिद्वृपः पुरुषः (परब्रह्मो० २)। सुबालोपनिषद् में सूक्ष्म कोश में स्वप्न के अनुभव प्रकरण में (आनन्दानुभूति के क्रम में) आत्मा को भी सम्प्रसाद कहा गया है—अथेमा.....लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान् विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शारीरं परिरक्षति (सुबालो० ४.३) अर्थात् जिस द्वितीय कोश में आत्मा जब शयन करता है, लोक और परलोक का दर्शन करता है और समस्त शब्दों को जानता है, तब उसे सम्प्रसाद कहते हैं।

३३०. सहजोली मुद्रा—द्र०-मुद्रा।

३३१. सहस्रार चक्र—द्र०-ज्ञानखण्ड-समचक्र।

३३२. सांसारिक विषय— द्र०-ज्ञानखण्ड -विषय-भोग।

३३३. सायुज्य पद—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति।

३३४. सिंहासन—द्र०-आसन।

३३५. सिद्धासन—द्र०-आसन।

३३६. सुख-दुःख— सुख-दुःख एक ऐसी अनुभूति है, जो क्रमशः अनुकूलता और प्रतिकूलता के रूप में हर कोई अपने जीवन में परिस्थितियों के अनुसार अनुभव करता है। हिंविंको० खं० २४ प० २६९ में सुख की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है— सुखयतीति सुख-अच्। जिसका अर्थ है आत्मवृत्ति अथवा मनोवृत्ति—गुण विशेष। वह अनुकूल और प्रिय वेदना, जिसकी सभी को अभिलाषा रहती है। आत्मा के २४ गुणों में सुख भी एक गुण है, जो नित्य और जन्य भेद से दो प्रकार का होता है। सांख्य और योग के मत से सुख सत्त्वगुण का धर्म है। गीता के अनुसार सुख सात्त्विक, राजसी और तामसी होता है—सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति (गी० ४.३६)। इस श्रोक में तीन प्रकार के सुखों का संकेत करके गीताकार ने अगले तीन श्रोकों ३७, ३८ और ३९ में क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस सुख की परिभाषाएँ दी हैं। सुख के विपरीत अनुभूति को दुःख कहते हैं। हिंविंको० खं० १० प० ४८७ में दुःख इन शब्दों में निर्दिष्ट है— दुर् दुष्टं खनतीति खन-उ वा दुःखयतीति दुःख अच्। इस व्युत्पत्ति से निर्मित दुःख शब्द के अर्थ—संसार, व्याधि, रोग, व्यथा, कष्ट, क्लेश आदि हैं। दुःख या क्लेश उत्पन्न होने के कई कारण हैं, जैसे— परतन्त्रता, दूसरे के अधीन रहकर जीवनयापन करना, आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट-रोग आदि), मानहानि, शत्रुता, कुलटा पती आदि।

न्याय और वैशेषिक के अनुसार दुःख को आत्मा का धर्म तथा सांख्य और वेदान्त के मत से दुःख को बुद्धि का धर्म माना गया है, दुःख भी तीन प्रकार का कहा गया है—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक दुःख के भी दो प्रकार हैं— शारीरिक और मानसिक। आधिदैविक दुःख उसे कहते हैं, जो देवता से उत्पन्न दुःख हो, जैसे— सर्दी-गर्मी, हवा, वर्षा, और वज्रपात से उत्पन्न दुःख। आधिभौतिक दुःख समस्त भूतों से उत्पन्न होने के कारण चार प्रकार का है, जैसे— जारायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज (मनुष्य, पशु-पक्षी, सर्पदंश, वनमक्षिका, स्थावर आदि) से उत्पन्न दुःख। उपनिषदों में योगी और परिव्राजक अंदि को सुख-दुःख से दूर रहने या इससे ऊँचे उठने का परामर्श दिया गया है। नारद परिव्राजक उपनिषद् (३.२७) में उल्लेख है कि जिस प्रकार प्राणविहीन देह में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार कैवल्यात्रम में रहने वाले योगी प्राण रहते हुए भी सुख-दुःख से प्रभावित नहीं होते—प्राणे गते यथा

देहः सुखदुःखं न विन्दति । तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥ गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय और पराजय में समान रहने का उपदेश दिया है- सुख दुःख समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ । ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्यसि (गी० २.३८) ।

३४८. सूक्ष्मशरीर—द्र०-पुर्यष्टक ।

३४९. सूत्रात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड-तैजस ।

३४०. सूर्य— विभिन्न ग्रहों में सूर्य महत्वपूर्ण ग्रह है । चारों वेदों में सूर्य की एक विशिष्ट देवता के रूप में स्तुति (प्रार्थना) की गई है । विराट् पुरुष के नेत्रों से सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ है- चक्षोः सूर्यो अजायत (यजु० ३१.१२) । परब्रह्म के नेत्र स्वरूप होने के कारण सूर्य को सभी का कर्मद्रष्टा विवेचित किया गया है- सूराय विश्वचक्षसे (ऋ० १.५०.२) । समस्त जीव सूर्य से ही जीवित हैं, इसी कारण सूर्य सभी का आत्मा कहलाता है । ऋग्वेद में यह तथ्य इस प्रकार उपन्यस्त है- सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च (ऋ० १.११५.१) । स्थिति भेद से सूर्य के अनेक नाम हैं, जैसे- सभी को अपने कर्म और उसके फल में स्थिर रखने के कारण सूर्य को ब्रह्म, जगत् के पालक होने के कारण सूर्य को वाम, देवीप्यमान होने से सूर्य को शुक्र और सबका प्रेरक होने से सूर्य को सविता आदि कहते हैं । आचार्य सायण ने उदित होने से पूर्व के सूर्य को सविता कहा है- उदयात् पूर्वं भावी सविता (ऋ० ५.८.१४ सा०भा०) । शतपथ ब्राह्मण में सविता को सभी देवों का पिता कहा गया है—सविता वै देवानां प्रसविता (शत०ब्रा० १.१.२.१७) निरुक्तकार यास्क ने भी सविता को प्रसविता कहकर इस तथ्य को पुष्टि की है—सविता सर्वस्य प्रसविता (निं० १०.३.३१) ।

सूर्य वस्तुतः: अग्नि का ही आकाशीय रूप है । विश्वविधान का संरक्षक होने के कारण उसका चक्र नियमित चलता रहता है, जिससे गति, प्रखरता और सृजन की सभी को प्रेरणा मिलती है । अर्थर्वशिर उपनिषद् में देवों ने भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए तेजस्विता के कारण उन्हें सूर्य रूप कहा है- यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमो नमः (अर्थर्वशिर० २) । इसी प्रकार भगवान् रुद्र के विभिन्न गुणों के कारण अन्य नामों से भी उनकी स्तुति की गई है, जैसे— उन्हें वृद्धि रूप, शान्तिरूप, पुष्टिरूप, हुतरूप (होम किए गये), अहुतरूप (बिना होम किए गये), दत्त (दिए गये), अदत्त (बिना दिए गये), सर्व-असर्वरूप, विश्व-अविश्वरूप, पर-अपर रूप और परायण रूप कहा गया है- वृद्धिस्त्वं शान्तिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम् (अर्थर्वशिर० ३) ।

३४१. सृष्टि—द्र०-ज्ञानखण्ड-सृष्टि-अतिसृष्टि ।

३४२. सोम— सोम की स्तुति का उल्लेख चारों वेदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में भी मिलता है । ऋषियों की दृष्टि में सोम एक पोषक तत्त्व है । इसका वर्णन कभी वनस्पति (सोम नामक लता) के रस के रूप में, कभी सूक्ष्म-प्रवाह के रूप में तथा कभी व्यक्तित्व सम्पत्र देव शक्ति के रूप में विभिन्न वेद मंत्रों में हुआ है । सोम की वनस्पति (सोमलता) रूप की अवधारणा के संदर्भ में यह मान्यता है कि सोमलता का उत्पत्ति-स्थल हिमाच्छादित उच्च पर्वतीय उपत्यिकाएँ हैं । सोमलता का मधुर रस दिव्य तथा अतिशय आनन्द प्रदान करने में समर्थ है- असाव्य श्वशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः (सा० ४७३) । सोमरस हरितवर्ण का होता है, जो बल-वीर्यवर्धक है । देवगण चाव से इसका पान करते हैं- पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे । मरुदध्यो वायवे मदः (सा० ४७४) । सोमरस के अन्य गुणों-बुद्धि-वृद्धि, जागृतिवृद्धि, शुक्रवृद्धि, दक्षतावृद्धि, मेधावृद्धि, तेजस्विता वृद्धि तथा मनः नियन्त्रण आदि का वर्णन सामवेद के विभिन्न मंत्रों में मिलता है । इसे साक्षात् अमृत मानकर राजा कहा गया है । सोमोऽराजामल०४ सुत (यजु० १९.७२) । सोम की सोमलता के रूप में इस स्थूल अवधारणा के अतिरिक्त दूसरी अवधारणा सूक्ष्म प्रवाह के रूप में है । परमात्म शक्तियों के ऐसे प्रवाह को, जो सर्वत्र संचरित होकर सृष्टि के सन्तुलन, विकास आदि में अपना योगदान देता है, क्रान्तदर्शी ऋषियों ने ‘सोम’ संज्ञा प्रदान की है- उच्चा ते जातमन्थसो दिवि सदभूम्या ददे । उग्रं शर्म महि श्रवः (सा० ४६७) अर्थात् हे सोमदेव ! आपके पोषक रस का उद्भव सर्वोच्च द्युलोक में हुआ । द्युलोक में होने वाले आपके उस महिमामय प्रभाव और पोषण शक्ति को पृथिवी पर रहने वाले प्राणी प्राप्त करते हैं । सोम के सन्दर्भ में तीसरी अवधारणा विश्व ब्रह्माण्ड की संरचना, विकास और विलय की समूची प्रक्रिया के नियामक के रूप में है । एक मंत्र में सोम को सूर्य का प्रकाशक कहा गया है- यद्य सूर्यमरोचयः (सा० ४९३) । स्थूल रूप में सोम (सोमलता) को वनस्पतियों का अधिपति कहा गया है- सोमं नमस्य राजानं यो यज्ञे वीरुद्धां पतिः (अर्थर्व० ३.२७.४) । दिव्य सोम के विषय में अर्थर्ववेद के एक मंत्र में एक वर्णन है कि

लेग सोम नामक जिस ओषधि का पान करते हैं, वे वास्तविक सोम को नहीं जानते; परन्तु ब्राह्मण (विद्वान् पुरुष) जिस सोम को जानते हैं, उसे कोई देहधारी मर्त्य ग्रहण नहीं कर सकता। उस सोम का पान देवगण करते हैं; क्योंकि वह (सोम) पुनः प्रबुद्ध हो जाता है। पवित्र और पवित्रकारक होने से सोम को पवमान सोम कहा गया है—पवमानो अजीजनद्विवश्चित्रं(सा० ४८४)। सामवेद में एक स्थल पर सोम को महान् जल-प्रवाहों में मिला हुआ विवेचित किया गया है—परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरुर्मावधिश्रितः(सा० ४८६)। अथर्वशिर उपनिषद् में देवों ने रुद्र भगवान् की स्तुति करते हुए उन्हें सोम कहा है— यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सोमस्तस्मै वै नमो नमः (अथर्वशिर० २)।

३४३. सोऽहं—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

३४४. स्तुति—द्र०-ज्ञानखण्ड-स्तोम ।

३४५. स्वर्ग-नरक—द्र०-ज्ञानखण्ड-पाप-पुण्य ।

३४६. स्वाहा—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

३४७. हंस—द्र०-अवधूत ।

३४८. हंस-परमहंस—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

३४९. हठयोग— भारतीय ऋषियों ने योग पर बहुत से अनुसन्धान किये हैं। योग शब्द बहुत विराट् है, जिसमें विभिन्न धाराएँ समाहित हैं। दो अंकों के जोड़ को योग कहते हैं। आत्मा और परमात्मा का मिलन भी योग के द्वारा ही सम्भव है। इसके विभिन्न प्रकार हैं, जैसे- ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, राजयोग, हठयोग आदि। हठयोग के माध्यम से (हठपूर्वक) चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करके ब्रह्म साक्षात्कार या ब्रह्म से एकाकार करते हैं। हठयोग के माध्यम से ही शरीर और नाड़ी संस्थान की शुद्धि करके शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा और व्याधिशमन करते हैं। इसके (हठयोग के) अन्तर्गत विभिन्न क्रियाएँ—नैति, धौति, वस्ति, नौली, त्राटक और कपालभाति आती हैं— धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिनौलिकिस्त्राटकस्तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् (गोरक्षसंहिता)। इसके अतिरिक्त हठयोग में विभिन्न प्रकार के प्राणायाम, आसन, बन्ध और मुद्राएँ भी समाविष्ट हैं, जिनसे चित्तवृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी करके तीनों शरीरों की शुद्धि करके आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की जा सकती है। हठयोग का शाब्दिक अर्थ भी शरीर स्थित सूर्य और चन्द्र नाड़ियों के शोधन और उनके ऐक्य को प्रतिपादित करता है— हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणोन्तुरुच्यते। सूर्याचन्द्रपसौरैक्यं हठ इत्याभिधीयते (यो० शि० १३३)। इस व्युत्पत्ति परक अर्थ में प्रथमतः 'ह' और तत्पश्चात् 'स' का अर्थ बताया गया है। जबकि हठ में 'ह' और 'ठ' वर्ण होते हैं। इस मन्त्र के साथ इसका सम्बन्ध होने से सम्भवतः ऐसा हुआ हो, अतः सर्वत्र 'ठ' के स्थान पर 'स' पाठ ही मिलता है। हठयोग के आसन, बन्ध, मुद्राओं का वर्णन अलग से उन-उन क्रमांकों पर किया गया है।

३५०. हविष्य— द्र०-ज्ञानखण्ड-हुत-प्रहृत ।

३५१. हिरण्यगर्भ—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

३५२. हुत-अहुत—द्र०-सूर्य ।

३५३. हृदय कमल—द्र०-अष्टदल कमल ।

३५४. हृदयाकाश—द्र०-परमव्योम ।



मन्त्रानुक्रमणिका - ब्रह्मविद्याखण्ड

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अंगुष्ठाभ्यां	जा०द० ६.३४	अथ कस्मात्आत्मेति	शाण्डिल्य० ३.२.३
अंगुष्ठेन निबध्नीयात्	शाण्डि० १.३.३	अथ कस्मात् ...दत्तात्रेय	शाण्डिल्य० ३.२.७
अकर्तुऽहमभोक्ता०	अध्या० ७०	अथ कस्मात्महेश्वरः	शाण्डिल्य० ३.२.५
अकर्म मन्त्ररहितं	ना०परि० ३.८	अथ कस्मातुच्यते	अथर्व० ४
अकस्मान्मुद्गर	पैंग० २.१४	अथ किमेतैर्वान्यानाम्	मैत्रे० १.२
अकारादित्रयाणाम्	शाण्डि० १.६.४	अथ कुम्भकः	शाण्डि० १.७.१३-५
अकारोकाररूपोऽस्मि	मैत्रे० ३.११	अथ खलुकुटीचको	शाट्या० ११
अक्षयोऽहम्	ब्र०वि० ८३	अथ खलु ...नासमाय	शाट्या० ३६
अक्षरत्वात्	अव० २	अथ खलु ...नैष्ठिकम्	शाट्या० २८
अखण्डाकाश रूपोऽस्मि	मैत्रे० ३.२०	अथ खलुपरिव्राजकाः	शाट्या० १९
अखण्डानन्दमात्मानम्	अध्या० २७	अथ खलु ...लब्ध्वा	शाट्या० ३२
अगोचरं	मैत्रे० १.१३	अथ गायों ह वै	कौ०ब्रा० ४.१
अग्रीषोमाभ्याम्	हंस० १२	अथ जनको ह वैदेहो	याज्ञ० १
अग्रीषोमौ पक्षावोंकारः	हंस० १४	अथ जाग्रत्स्वप्र	पैंग० २.११
अग्रेरिव शिखा	प०ब्र० १३, ब्रह्म० १२	अथ ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकं	पैंग० २.५
अग्रेरिव शिखा नान्या	ना०परि० ३.८७	अथ तुरीयातीतावधूतानाम्	तुरी० १
आन्यंशे च	जा०द० ८.६	अथ धारणाः	शाण्डि० १.९.१
अघोरं सलिलम्	प०ब्र० ७	अथ ध्यानम्	शाण्डि० १.१०.१
अच्युतोऽहम्	ब्र०वि० ८१	अथ नारदः पितामहं	ना०परि० ४.३७
अजरोऽस्म्यमरो०	अध्या० ५५	अथ नारद पितामहमुवाच	ना०परि० ६.१
अजिह्वः षण्डकः	ना०परि० ३.६२	अथ निर्वाणोपनिषद्	निर्वा० १-११
अज्ञातमपि चैतन्यम्	कं० ८० ४५	अथ परमहंसा नाम	भिक्षु० ५
अज्ञानहृदय ग्रथ्ये:	अध्या० १७	अथ परमात्मा नाम	आत्मो० १-४
अज्ञानादेव संसारो	अध्या० ५५	अथ पितामहः	प०प० १
अज्ञानान्मलिनो	जा०द० ५.१४	अथ पैङ्गलो	पैंग० २.१
अणोरणीयानहमेव	कैव० २०	अथ पैप्लादो	प०ब्र० १
अणोरणीयान्महतो	ना०परि० ९.१५	अथ पौर्णमास्याम्	कौ०ब्रा० २.९
अण्डं ज्ञानग्रिना	पैंग० ३.८	अथ प्रत्याहारः	शाण्डि० १.८.१
अण्डस्थानि	पैंग० १.११	अथ प्रोत्यायन्पुत्रस्य	कौ०ब्रा० २.११
अतः सर्वं जगत्	मं०ब्रा० ५.१.२	अथ बहूदका नाम	भिक्षु० ३
अतिवादांस्तितिक्षेत	ना०परि० ३.४२	अथ ब्रह्मविद्या ...	ब्र०वि० १
अतिसूक्ष्मां च तन्वीं	क्षुरि० ९	अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति	ना०परि० ९.१
अतीतात्र	ना०परि० ३.२५	अथ भगवाञ्छाकायन्यः	मैत्रे० १.४
अत्यन्तमलिनो	जा०द० १.२१	अथ भगवान्मैत्रेयः	मैत्रे० २.१
अत्रात्मत्वम्	अध्या० १८	अथ भिक्षूणाम्	भिक्षु० १
अत्रैते श्रोका भवन्ति	शाण्डि० ३.२.११	अथ मासि मास्य	कौ०ब्रा० २.८
अथ कदाचित्परिव्राजक	ना०परि० १.१	अथ यतेर्नियमः	ना०परि० ७.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ यदिदम्	आ०बो० १.२	अथ हैनं ब्रह्मचारिणः	जाबा० ३.१
अथ योगिनां परमहंसानां	प०हं० १	अथ हैनं भगवन्तं	ना०परि० २.१
अथ योऽस्य निरुक्तानि	शाण्ड० ३.२.९	अथ हैनं महाशालः	प०ब्र० १
अथ यो ह वै विद्यैनम्	शाण्ड० ३.२.१०	अथ हैनं शाण्डल्ये	शाण्ड० ३.१.१
अथवा कृतकृत्योऽपि	अव० २६	अथ हैनंसंप्रतिष्ठिता	सुबा० १०९
अथ वा तव	जा०द० ८.७	अथ होवाच.... ब्रह्मा	म०वा० १
अथवा परिग्राह	याज्ञ० ५	अथाङ्ग्रिरस्त्रिविधः	आत्मो १-क
अथवा सत्यमीशानं	जा०द० ९.३	अथात एकधनावरोधनम्	कौ०ब्रा० २.३
अथवैतत्परित्यज्य	जा०द० ५.१३	अथातःध्यानम्	जा०द० ९.१
अथ शैवपदं	कुण्ड० २०	अथातःपरमहंस	आरु० ४
अथ षण्डः पतितो	संन्या० २.४	अथातःपितापुत्रीयं	कौ०ब्रा० २.१५
अथ संवेश्यन् जायायै	कौ०ब्रा० २.१०	अथातः पृथिव्यादि	शारी० १
अथ संसृतिबन्ध	म०वा० ३	अथातश्वत्वार आश्रमाः	आश्र० १
अथ सनत्कुमारः	जाबालिं० २०	अथातः श्रीमद्	द्वय० १
अथ समाधिः	शाण्ड० १.११.१	अथातः संन्यासोपनिषदम्	संन्या० १.१
अथ हंसऋषिः	हंस० १०	अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः	जा०द० ८.१
अथ हंस परमहंस	हंस० ४	अथातः संप्रवक्ष्यामि	जा०द० ७.१
अथ हंसा नाम	भिक्षु० ४	अथातः ...समाधिम्	जा०द० १०.१
अथ ह जनको ह	जाबा० ४.१	अथातः सर्वजितः	कौ०ब्रा० २.७
अथ ह पैङ्गलो	पैङ्ग० १.१	अथातः सांयमत्रम्	कौ०ब्रा० २.५
अथ ह यत्परं ब्रह्म	शाट्या० ५	अथातो दैवः परिसरः	कौ०ब्रा० २.१२
अथ ह याज्ञवल्क्य... अथ ह याज्ञवल्क्यो	मं०ब्रा० २.१.१ मं०ब्रा० ४.१.१	अथातो दैवम्	कौ०ब्रा० २.४
अथ ह शाण्डल्यो	शाण्ड० २.१	अथातो निःत्रेयसादानम्	कौ०ब्रा० २.१४
अथ ह सांकृतिर्भगवन्तम्	अव० १	अथातैतद्वरं	सुबा० ४.४
अथ हैनमत्रिः प्रपञ्च	याज्ञ० ४	अथात्तरात्मा नाम	आत्मो १-ग
अथ हैनमत्रिः पृच्छामि	जाबा० ५.१	अथात्त्रमय प्राणमय ...	पैङ्ग० २.४
अथ हैनमत्रिःय एषो	जाबा० २.१	अथापञ्चीकृतमहाभूत ..	पैङ्ग० २.३
अथ हैनमथर्वाणं केनोपायेन	शाण्ड० १.४.१	अथापानात्कटिद्वन्द्वे	जा०द० ७.८
अथ हैनमथर्वाणंभगवान्	शाण्ड० ३.२.१	अथाप्यस्यारूपस्य	शाण्ड० ३.१.३
अथ हैनंक्रामतीति	सुबा० ११.१	अथाश्रमं चरमम्	शाट्या० ६
अथ हैनंगच्छन्तीति	सुबा० ९.१	अथाश्वलायनो०	कैव० १
अथ हैनंजाबालि	जाबालिं० १	अथासनदृढो योगी	शाण्ड० १.७.१
अथ हैनंदहतीति	सुबा० १५.१	अथास्य पुरुषस्य	ब्रह्म० १
अथ हैनं नारदः	ना०परि० ३.१	अथास्य या सहजाऽस्ति	शाण्ड० ३.१.५
अथ हैनंप्रपञ्च	पैङ्ग० ४.१	अथेमा दश दश	सुबा० ४.३
अथ हैनं परमेष्ठिनं	ना० परि० ८.१	अथैष ज्ञानमयेन	शाण्ड० १.३.६
अथ हैनं पितामहं नारदः	ना०परि० ५.१	अथो नाद आधारात्	हंस० ९
अथ हैनं पैङ्गलः	पैङ्ग० ३.१	अदग्धमहतम्	संन्या० २.१४
		अदृश्यं नवमे	हंस० २०

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अदृश्योऽहम्	ब्र०वि०८५	अन्योन्यस्याविरोधेन	यो०त० ६६
अद्यजातं यथा नारीम्	ना०परि० ३.६४	अपकारिणि	याज्ञ० २९
अद्ययब्रह्मरूपेण	आ०बो० २.१४	अपाणिपादो	कैव० २१
अद्यानन्द विज्ञान	ब्र०वि० ८९	अपाणिपादो जवनो	ना०परि०९.१६
अद्वैत भावना	मैत्रे० २.१०	अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन	जावा० ६.३३
अद्वैतोऽहम्	ब्र०वि० ८८	अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं	शाण्ड० १.७.१३
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु	शाण्ड० १.७.१२	अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनि	यो०त० १२१
अध्यस्तस्य	अध्या०५८	अपानाख्यस्य	जा०द० ४.३१
अध्यात्मरतिरासीनो	ना०परि० ३.४४	अपानात्रिषादा	सुबा० २.१
अध्यापिता ये गुरुम्	शाद्या० ३८	अपानो वर्तते	जा०द० ४.२७
अनन्तकर्म शौचम्	पैङ्ग० ४.२४	अपापमशठम्	ना०परि० ३.७४
अनन्तानन्द संभोगा	संन्या० २.४०	अपूर्वमपरं	जा०द० ४.६०
अनाख्ययेमिदं गुह्यम्	हंस० ३	अप्रमत्तः कर्म भक्तिज्ञान ..	ना०परि० ३.७७
अनात्मकमसतुच्छम्	आत्मो० ९	अप्राणममुखम्	सुबा० ३.२
अनादाविह संसारे	अध्या० ३७	अव्यिवद्धृतमर्यादा	ना०परि० ५.३७
अनास्थायाम्	शाण्ड० १.७.२७	अभयं सर्वभूतेभ्यो	ना०परि० ५.४३
अनाहतस्य शब्दस्य	मं०ब्रा० ५.१४	अभिपूजितलाभांश्च	ना०परि० ५.३४
अनिन्द्यं वै व्रजेत्	ना०परि० ५.३९	अभिशस्तं च पतितम्	संन्या० २.९२
अनिर्वच्यम्	यो०त० ७	अभेददर्शनम्	मैत्रे० २.२
अनुज्ञाप्य गुरुंश्वेष	ना०परि० ६.३३	अभ्यासकाले	शाण्ड० १.७.५
अनुभूतिं विना	मैत्रे० २.२२	अभ्यासात्रिविकारं	मं०ब्रा० १.२.१३
अनेन ज्ञानमाप्नोति	कैव० २६	अमानित्व	शारी० ९
अनेन विधिना	ना०परि० ३.५२	अमावास्या	जा०द० ४.४३
अन्तःकरण प्रतिबिम्बित	पैङ्ग० २.१०	अमरीं यः पिबेत्	यो०त० १२८
अन्तःकरणसम्बन्धात्	कं०रु० ४४	अमुना वासना जाले	अध्या० ३९
अन्तः पूर्णो बहिः	मैत्रे० २.२७	अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः	आत्म० २६
अन्तर्याम्यहम्	ब्र०वि० ८४	अमृतत्वं समाप्नोति	क्षुरि० २५
अन्तर्लक्ष्यं	शाण्ड० १.७.१४	अमृतेन तुसस्य	पैङ्ग० ४.१३
अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिः	मं०ब्रा० १.३.६	अयं ते योनिरृत्यियो	ना०परि० ३.७८
अन्तर्लक्ष्यं विलीन	शाण्ड० १.७.१५	अयं हृदि स्थितः	पं०ब्र० ४१
अन्तः शरीरे निहितो	अध्या० १	अयने द्वे च	ब्र०वि० ५५
अन्तः शरीरे... एको	सुबा० ७.१	अयमेव महाबन्धः	यो०त० ११५
अन्तः शरीरे ...शुद्धः	सुबा० ८.१	अयमेव महावेधः	यो०त० ११७
अन्तःसङ्ग परित्यागी	ना०परि० ६.४१	अयाचितं यथालाभम्	ना०परि० ५.३१
अन्तःस्थं मां	जा०द० ४.५८	अरजस्कोऽतमस्को	ब्र०वि० ८७
अन्तःस्थानीन्द्रियाणि	ना०परि० ३.२६	अर्धमात्रा परा	ब्र०वि० ४०
अन्त्रपानपरे	संन्या० २.११४	अर्धोन्मीलितलोचनः	शाण्ड० १.७.१६
अन्यदीये तृणे	जा०द० १.११	अलयमानस्तनयः	याज्ञ० २४
अन्यानथाष्टौ	शाद्या० २३	अलम्बुसा	जा०द० ४.८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अलाभे न विषादी	ना०परि० ५.३३	अहंकारो ममत्वं च	ना०परि० ४.६
अल्पमूत्रपुरीषश्च	यो०त० ५७	अहं ब्रह्मेति	अध्या० ५०
अल्पमृष्टाशनाभ्यां	जा०द० १.१९	अहं ब्रह्मेति नियतम्	पैङ्ग० ४.२५
अल्पाहारो यदि	यो०त० १२४	अहं मनुष्यः	अव० २०
अवधूतः	संन्या० २.२९	अहं ममेति	मैत्र० २.८
अवधूतस्त्वनियमः	ना०परि० ५.१७	अहमस्मि परश्चास्मि	मैत्र० ३.१
अवबोधैकरसोऽहं	आ०बो० २.४	अहमेवाक्षरं ब्रह्म	ना०परि० ३.२०
अवष्ट्रभ्य धराम्	शाण्ड० १.३.१०	अहमेवास्मि	मैत्र० ३.२
अवस्थात्रितातीतम्	पं०ब्र० १८	अहिंसा नियमेष्वेका	यो०त० २९
अवायुरप्यनाकाशो	ब्र०वि० ८६	अहिंसा सत्यमस्तेय....अक्रोधो	शारी० ८
अविचारकृतो बन्धो	पैङ्ग० २.१८	अहिंसा सत्यमस्तेय....अनौद्धत्य	ना०परि० ४.१०
अविद्याकार्यहीनो	ब्र०वि० ९०	अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य	जा०द० १.६
अव्यक्तलिङ्ग	ना०परि० ५.५०	अहेयमनुपादेयम्	मैत्र० १.१४
अव्यक्तलेशाज्ञान	पैङ्ग० २.९	अहो ज्ञानमहो	अव० ३५
अशब्दमस्पर्शमरुपम्	पैङ्ग० ३.१२	अहो पुण्यमहो	अव० ३४
अशब्दोऽहम्	ब्र०वि० ८२	आकाशधारणात्स्य	यो०त० १०२
अशरीरं शरीरेषु	ना०परि० ९.१७	आकाशवत्कल्पविदूरगः	कुण्ड० १६
अशरीरं शरीरेषु महान्तः	जा०द० ४.६२	आकाशवत् सूक्ष्मशरीरः	पैङ्ग० ४.१८
अशुभाशुभ संकल्पः	संन्या० २.६५	आकाशवद्वायुसंज्ञस्तु	कं०रु० १८
अष्टाक्षर समायुक्तम्	पं०ब्र० १४	आकाशंशस्तथा	जा०द० ८.५
असङ्गोऽहमनङ्गोऽहम्	अध्या० ६९	आकाशे वायुमारोप्य	यो०त० ९९
असत्कल्पो विकल्पोऽयम्	अध्या० २२	आकुञ्चनेन	शाण्ड० १.७.३६ ख
असत्यत्वेन	आत्म० ५	आगच्छ गच्छ	ना०परि० ४.७
असद्वा इदमग्र	सुबा० ३.१	आचिनोति हि	द्वय० ३
असंशयवताम्	मैत्र० २.१६	आजानोः पायुपर्यन्तम्	यो०त० ८८
असावादित्यो	म०वा०	आज्यं रुधिरमिव	संन्या० २.९७
अस्तेयं नाम	शाण्ड० १.१.७	आतिथ्य श्राद्धयज्ञेषु	ना०परि० ६.७
अस्ति चर्म नाडी...	शारी० ५	आतुरकालः	ना०परि० ३.५
अस्थिस्थूणं	ना०परि० ३.४६	आतुरकुटीचक्योः	ना०परि० ५.२२
अस्थिस्त्वावादिरूपोऽयम्	कं०रु० २१	आतुरेऽपि क्रमे वापि	ना०परि० ३.७
अस्त्वेहो गुरुशुश्रूषा	ना०परि० ४.११	आतुरेऽपि च संन्यासे	ना०परि० ३.६
अस्मिन् ब्रह्मपुरे	पं०ब्र० ४०	आतुरो जीवति	ना०परि० ५.१८
अस्त्वैव जपकोट्यां	हंस० १६	आतुरो जीवति ..शूद्रस्त्री	संन्या० २.७४
अहं कर्त्ताऽस्म्यहं	शारी० १०	आत्मतापरते	संन्या० २.६६
अहङ्कारग्रहान्मुकः	अध्या० ११	आत्मतीर्थम्	जा०द० ४.५०
अहंकारमेवाप्येति	सुबा० ९.१३	आत्मनेऽस्तु	संन्या० २.४७
अहंकारसुतम्	मैत्र० २.१२	आत्मन्यनात्मभावेन	जा०द० १.१२
अहंकारादिदेहान्तम्	आ०बो० २.३०	आत्मन्यात्मानमिडया	शाण्ड० १.७.४८
अहंकारोऽध्यात्मम्	सुबा० ५.८	आत्मवत् सर्वभूतानि	ना०परि० ४.२१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
आत्मविद्यातपोमूलं	ना०परि० ९.१३	आस्यनासिकयोः	जा०द० ४.२६
आत्मसंज्ञः शिवः	आत्मो० १-ड	आस्यनासिका ...	शाण्ड० १.४.१३
आत्मस्वरूप ...	जा०द० ६.५०	आस्येन तु	संन्या० २.९६
आत्मानमन्विच्छेत्	ना०परि० ३.१२	आस्येन तु यदाहारं	ना०परि० ५.३८
आत्मानमपि दृश्वा	आ०बो० २.१८	आहारस्य च भागौ	संन्या० २.७७
आत्मानमरणिम्	ब्रह्म० १८	आहिताग्निर्विरक्त.....	ना०परि० ३.१०
आत्मानमरणिं कृत्वा	कैव० ११	आहदयादभुवोर्मध्यम्	यो०त० ९५
आत्मानमात्मना	ब्र०वि० २९	इच्छाद्वेषमुत्थेन	संन्या० २.४६
आत्मानं चेद्	शाट्या० २४	इडया ...निरोधयेत्	जा०द० ६.२७
आत्मानं रथिनम्	पैङ्ग० ४.३	इडया प्राणमाकृष्य	जा०द० ५.७
आत्मानं सच्चिदानन्दम्	जा०द० ९.५	इडया वायुमारोप्य	यो०त० ४१
आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो	जा०द० १.८	इडया वेदतत्त्वज्ञस्तथा	जा०द० ६.२८
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्	पैङ्ग० ४.५	इडयास्थितम्	जा०द० ६.३
आदावग्निमण्डलं	मं०ब्रा० २.१५	इडा तु सव्यनासान्तम्	जा०द० ४.१९
आदित्यवर्णम्	म०वा० ८	इडादिमार्गद्वयं	शाण्ड० १.७.३६-ड
आदित्या रुद्रा	सुबा० ६.३	इडापिङ्गलयोर्मध्ये	शाण्ड० १.७.४१
आंदिमध्यान्तहीनो	ब्र०वि० ९१	इडाया: कुण्डली ...	जा०द० ४.४६
आदौ विनायकम्	शाण्ड० १.५.२	इतस्ततशाल्यमानो	आत्म० १८
आनन्दत्वात्र	आ०बो० २.३१	इति य इदमधीते	अव० ३६
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य	आ०बो० २.२९	इत्थं वाक्यैस्तथाऽर्थ०	अध्या० ३३
आनन्दमन्तर्निजम्	मैत्र० १.१६	इत्यनेन मन्त्रेणाग्निम्	ना०परि० ३.७९
आनन्दयति	कं०र० ३०	इत्युक्तस्तान्स	ना०परि० १.२
आनन्दामृतरूपो	ब्र०वि० ९२	इत्येतद्ब्रह्म	पं०ब्र० २९
आनन्दाविर्भवो	जा०द० ६.३५	इत्येवं चिन्तयन्विक्षुः	संन्या० २.७३
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं	अव० १०	इत्येवां त्रिविधो	ब्र०वि० ५.२
आभूमध्यात्	यो०त० ९८	इत्येवां सत्यमित्युपनिषद्	शाण्ड० ३.२.१५
आरब्धकर्मणि	अव० २१	इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयम्	पैङ्ग० ४.२२
आरभ्य चासनं	जा०द० ५.५	इदं मृष्टमिदम्	ना०परि० ३.६३
आरभ्यकर्मणि	यो०त० २०	इदं यज्ञोपवीतम्	ब्रह्म० १५
आरभ्य चासनं	आ०र० १	इदं यज्ञोपवीतम् तु	प०ब्र० १७
आरुणिः प्रजापते	संन्या० २.५	इन्द्रवज्रमिति	क्षुरि० १३
आरुषपतितापत्यम्	अध्या० ३१	इन्द्रियाणां निरोधेन	ना०परि० ३.४५
आलम्बनतया भाति	याज्ञ० ९	इन्द्रियाणां प्रसंगेन	ना०परि० ३.३६
आशाम्बरो	प०हं० ४	इन्द्रियाणि	पैङ्ग० ४.४
आशाम्बरो न नमस्कारो	ना०परि०५.४७	इह तेनाप्यज्ञानेन	स्व० १ ख
आशीर्युक्तानि कर्मणि	मैत्र० ३.९	ईशः पञ्चीकृत ...	पैङ्ग० ३.६
आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि	संन्या० २.९८	ईशाज्ञया मायोपाधिर ...	पैङ्ग० २.८
आसनं पात्रलोपश्च	जा०द० ३.१३	ईशाज्ञया विराजो	पैङ्ग० २.६
आसनं विजितं	जा०द० ४.९	ईशाज्ञया सूत्रात्मा	पैङ्ग० २.७
आसां मुख्यतम्			

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ईशाधिष्ठितावरण	पैङ्ग० १.५	ऋतुक्षौरं कुटी	ना०परि० ७.४
ईशानं परमम्	पं०ब्र० १९	ऋतुरस्म्यार्तवो	कौ०ब्रा० १.६
ईशानोऽस्मि	ब्र०वि० ९३	ऋतुसन्धौ मुण्डयेत्	शाट्या० २२
ईश्वरत्वमवाप्नोति	ब्र०वि० २५	एक एव चरेत्रित्यम्	ना०परि० ३.५३
ईश्वरो जीवकलया	याज्ञ० १३	एक एव हि	ब्र०बि० १२
ईहानीहामयैरन्तर्या	संन्या० २.४५	एक एवात्मा	ब्र०बि० ११
ईहितानीहितैः	संन्या० २.६७	एक तत्त्वदृढाभ्यासात्	शाण्ड० १.७.२८
उक्तविकल्पं	मं०ब्रा० १.४.२	एकं पादम्	शाण्ड० १.३.४
उक्थं ब्रह्मेति ह स्माह	कौ०ब्रा० ६	एकमेवाद्वितीयम्	मैत्रे० २.१५
उच्चैर्जपश्च	जा०द० २.१६	एकरात्रंनगरे	ना०परि० ४.१४
उच्चैर्जपादुपांशुश्च	जा०द० २.१५	एकरात्रं ...पत्तने	ना०परि० ४.२०
उड्यानाख्यो हि	यो०त० १२०	एकवारं प्रतिदिनम्	यो०त० ६८
उत्तमा तत्त्वचिन्तैव	मैत्रे० २.२१	एकवासा ... चरेत्	ना०परि० ४.१७
उत्तरं त्वमनस्कम्	मं०ब्रा० १.३.४	एकवासा-संवसेत्	ना०परि० ३.३१
उत्थानं च	जा०द० ६.४४	एकश्वरेन्महीमेतां	ना०परि० ५.५२
उत्पत्तिस्थिति	यो०त० १८	एकसंख्याविहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.७
उदान ऊर्ध्वगमनं	जा०द० ४.३२	एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म	ना०परि० ३.६०
उदान संज्ञो	जा०द० ४.२९	एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न	ना०परि० ३.५९
उद्गारादिगुणः	जा०द० ४.३३	एकात्मके परे	अध्या० २५
उद्गीथमेतत्परमं तु	ना०परि० ९.७	एकान्त ध्यानयोगाच्च	शाण्ड० १.७.२९
उद्घृतोऽस्मि	संन्या० २.४८	एकान्तं मदमत्सर्यम्	संन्या० २.१०४
उम्मीलित ...	शारी० १५	एकीभूतः सुषुमस्थः	ना०परि० ८.१५
उपस्थमेवाप्येति	सुबा० ९.२०	एकेन लोहमणिना	पं०ब्र० ३६
उपस्थानेन	संन्या० २.८७	एकेनैवतु पिण्डेन	पं०ब्र० ३५
उपस्थोऽध्यात्मम्	सुबा० ५.१४	एको देवः सर्वभूतेषु	ब्रह्म० १६
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव	आत्म० २१	एकोनविंशति मुखः	ना०परि० ८.१५
उभयमपि मनोयुक्तम्	मं०ब्रा० १.३.२	एकोभिर्कुर्यथोक्तम्	ना०परि० ३.५६
उल्काहस्तो यथा	ब्र०वि० ३६	एको वशी	ब्रह्म० १७
ऊर्णनाभिर्यथा	ब्रह्म० २०	एकोऽहमविकलोऽहम्	आ०बो० २.६
ऊर्ध्वनालमधोबिन्दु	यो०त० १३८	एतच्छुतृष्ट्यम्	ना०परि० ४.४
ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटी ...	ना०परि० ७.३	एतञ्ज्ञेयं नित्यमेव	ना०परि० ९.१२
ऊर्ध्वान्मायः	निर्वा० १२-२४	एततु परमम्	ब्र०वि० ४५
ऊर्ध्वरेतम्	जा०द० ९.२	एतद्वै ब्रह्म दीप्यते	कौ०ब्रा० २.१३
ऊर्ध्वे सात्त्विको	शारी० १२	एतद्वै सत्येन	सुबा० ३.३
ऊर्ध्वेरुपरि विप्रेन्द्र	जा०द० ३.५	एतत्रिवर्णादर्शनं	निर्वा० ६१
ऊर्ध्वमध्ये	क्षुरि० १४	एतस्माज्ञायते प्राणो	कैव० १५
ऋग्वेदो गार्हपत्यम् च पृथिवी	ब्र०वि० ४	एतस्मिन्वसते	ब्र०वि० १९
ऋग्वेदो गार्हपत्यम् च मन्त्राः	पं०ब्र० ६	एतां विद्याम्	सुबा० ७.२
ऋजुकायः	यो० त० ३६	एतां विद्यामपात्तरतमाय	अध्या० ७१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
एतानि सर्वथा	यो०त० ५८	ऐक्यत्वानन्द	ना०परि० ८.१०
एते गुणः प्रवर्तने	ब्र०वि० ५८	ऐहिकामुष्मिकक्रातसिद्ध्यै	अव० १२
एते च नियमाः	जा०द० २.२	ओं तस्य निश्चिन्तनम्	आ०प० १
एते विश्वाः	यो०त० ७६	ओं भूः स्वाहेति	संन्या० २.८
एतेषां ...तत्त्वतः	यो०त० २८	ओं सत्यमित्युपनिषद्	पैङ्ग० ४.३२
एतेषां...समासतः	यो० त० २१	ओतानुज्ञात्रनुज्ञात्....	ना०परि० ८.२०
एभिः क्रमैस्तथाऽन्यैश्च	शाण्ड० १.७.३६-क	ओमिति ब्रह्म । ओमित्येक..	ना०परि० ८.२
एवं कृत्वा हृदये	हंस० १३	ओमित्येकाक्षरम्	ब्र०वि० २
एवं च धारणाः	यो०त० १०३	ओमित्येव	शाण्ड० १.७.३४
एवं चिरसमाधिः ..	मं०ब्रा० ५.१.९	कटिसूत्रं च कौपीनम्	ना०परि० ३.९१
एवं ज्ञानेन्द्रियाणाम्	यो०त० ७२	कति वर्णाः	पं०ब्र० २
एवं तत्त्वलक्ष्यदर्शनात्	मं०ब्रा० ४.१.४	कथनं कुत्सनम्	संन्या० २.१०५
एवं त्रिपुट्याम्	मं०ब्रा० २.३.१	कदोपशान्तमननो	संन्या० २.६८
एवं द्वारेषु सर्वेषु	यो०त० १४१	कनीयसि भवेत्	शाण्ड० १.७.३
एवं नाडीस्थानम्	शाण्ड० १.४.१४	कपालं वृक्षमूलानि	ना०परि० ३.५४
एवं भवेद्वटावस्था	यो०त० ८०	करणोपरमे जाग्रत्	पैङ्ग० २.१२
एवं मासत्रयाभ्यासानान्नाडी	यो०त० ४४	कर्तुत्वमद्य	आ०ब्र० २.२२
एवं मुमुक्षुः सर्वदा	ना०परि० ७.११	कर्पूरमनले	शाण्ड० १.७.२१
एवं यः सततम्	शाण्ड० ३.२.१४	कर्मणा बध्यते	संन्या० २.११७
एवं विदित्वा	कैव० २४	कर्मण्यधिकृताब्राह्मणादयः	ब्रह्म० १३
एवं शुभाशुभैर्भवैः	क्षुरि० २०	कर्मण्यधिकृता ये तु	ना०परि० ३.८८
एवं षण्मासाभ्यासात्सर्व	शाण्ड० १.७.४७	कर्मण्यधिकृता...लौकिकेऽपि	प०ब्र० १४
एवं स एव	मं०ब्रा० २.४.३	कर्मत्यागात्र	मैत्र० २.१७
एवं समभ्यसेन्त्रित्यम्	जा०द० ६.१०	कर्मसंन्यासोऽपि	ना०परि० ५.८-९
एवं सहजानन्दे	मं०ब्रा० २.१.८	कर्मेन्द्रियाणि	पैङ्ग० २.१६
एवं सूक्ष्माङ्गनि	मं०ब्रा० १.१.११	कल्पसूत्रे तथा	जा०द० २.१२
एवं हंसवशान्मनो	हंस० १५	कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमम्	ना०परि० ९.१९
एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन	मं०ब्रा० १.४.४	कांस्यघटानिनादस्तु	ब्र०वि० १२
एवमभ्यसतस्तस्य	जा०द० ६.४३	कामं कामयते यावद्	ना०परि० ८.१४
एवमभ्यासयुक्तस्य	जा०द० ९.६	कामक्रोधभयम्	यो०त० १२
एवमभ्यासात्तन्मयो	मं०ब्रा० १.२.१४	कामः क्रोधस्तथा	ना०परि० ३.३३
एवममनस्काभ्यासेनैव	मं०ब्रा० ५.१.८	कामक्रोधौ तथा	ना०परि० ५.५९
एवमुक्त्वा	पं०ब्र० ३३	कामनामा किंरातेन	याज्ञ० २०
एवमुक्त्वा स भगवान्	जा०द० १०.१३	काम्यानि	जा०द० ७.५
एवमेतान् लोकान्	सुबा० १०.२	कायिकादिविमुक्तोऽस्मि	मैत्र० ३.२२
एष सर्वज्ञ एष	सुबा० ५.१५	कायेन मनसा वाचा	जा०द० १.१७
एष सर्वेश्वरश्चैष	ना०परि० ८.१७	कायेन वाचा	जा०द० १.१३
एषोऽसौ परमहंसो	हंस० ७	कालत्रयमुपेक्षित्या	संन्या० २.४३
एषो ह देवः	अर्थर्व० ५	कालमेव प्रतीक्षेत	ना०परि० ३.६१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
कालः स्वभावो	ना०परि० ९.२	क्षरं प्रधानममृताक्षरम्	ना०परि० ९.१०
कालान्तरोपभोगार्थम्	संन्या० २.१०१	क्षिसोऽवमानितोऽसद्दिः	ना०परि० ५.५४
काषायवासाः सततं	ना०परि० ५.६१	क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिः	ना०परि० ३.७५
किं तत्त्वं को जीवः	जाबालिं २	क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि	क्षुरि० १
किं वा दुःखमनुः	कुण्डि० ८	खमध्ये कुरु	शाण्डि० १.७.१९
किं हेयं किमुपादेयं	अध्या० ६७	खल्वहं ब्रह्मसूत्रम्	आरु० ३
कुटीचक ...अधिकारः	ना०परि० ७.८	खेगतिस्तस्य	यो०त० ७५
कुटीचक..देवार्चनम्	ना०परि० ७.७	गच्छंस्तिष्ठनुपविशञ्जयानो	कुण्डि० २८
कुटीचक...प्रणवः	ना०परि० ७.९	गत्वा योगस्य	यो०त० १२२
कुटीचकबहूदकहंसानाम्	ना०परि० ५.१९	गर्जिति गायति	सुबा० ६.६
कुटीचक... श्रवणम्	ना०परि० ७.१०	गवामनेकवर्णानाम्	ब्र०बि० १९
कुटीचकस्यैकात्रम्	ना०परि० ७.५	गान्धारायाः	जा०द० ४.१७
कुटीचकः शिखा	ना०परि० ५.१३; संन्या० २.२४	गुदमवष्ट्याधारात्	हंस० ६
कुटीचका नाम	भिक्षु० २	गुदादद्वयङ्गुलादूर्ध्वम्	शाण्डि० १.४.५
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च	ना०परि० ३.३२	गुरुणा चोपादिष्टोऽपि	जा०द० २.११
कुण्डिकां चमसम्	कं०रु० ५	गुरुभक्तिसमायुक्तः	द्वय० २
कुरुक्षेत्रम्	जा०द० ४.४९	गुरुभक्तिः सत्यमार्गा..	मं०ब्रा० १.१.४
कुहोः कुद्देवता	जा०द० ४.३८	गुरुरेव परः कामः	द्वय० ६
कूटान्ता हंस एव	ब्र०वि० ६३	गुरुरेव परं ब्रह्म	द्वय० ५
कूर्पराग्रे मुनिश्रेष्ठ	जा०द० ३.१०	गुरुरेव परो धर्मो	शाट्या० ३९
कूर्मोऽङ्गानीव	क्षुरि० ३	गुरुरेव हरिः	ब्र०वि० ३१
कृतकृत्यतया	अव० २९	गुरुशिष्यादिभेदेन	आत्मो० ३
कृत्स्नमेतच्चित्रम्	अव० ८	गुरुणां च हिते	ना०परि० ६.३०
कृशत्वं च शरीरस्य	यो०त० ४६	गुल्फौ तु	जा०द० ३.७
के पश्चव इति	जाबालिं १२	गुल्फौ तु वृषणस्याधः	शाण्डि० १.३.८;
केवलोऽहं कविः	ब्र०वि० ९४	गुशब्दस्त्वन्धकारः	जा०द० ३.६-१
केशकज्जलधारिण्यो	याज्ञ० १८	गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि	द्वय० ४
को जीवति नरो जातु	कं०रु० २९	गुह्यादगुह्या	कुण्डि० ९
को वा मोक्षः	जा०द० २.४	गृहस्था अपि	म०वा० २
कौपीनयुगलम्	ना०परि० ३.२८	गृहस्थो ब्रह्मचारी...अलौकिका	आश्र० २
क्रमेण लभते ज्ञानम्	यो०त० २२	गृहस्थो ब्रह्मचारी...भिक्षुकः	ब्र०वि० ४९
क्रमेण सर्वमध्यस्य	ना०परि० ५.५	गोत्रादिचरणम्	संन्या० २.१०८
क्रमेण सर्वमध्यस्य..देहमात्रा	संन्या० २.२१	गोधूममुद्रशाल्यत्रम्	यो०त० ४९
क्रियानाशाद्वच्चिन्तानाशो	अध्या० १२	गोवालसदृशम्	अव० ५
क्रुद्ध्यन्तं न	ना०परि० ३.४३	गोप्याद्गोप्यतरम्	पं०ब्र० ५
क्र गतं केन	अध्या० ६६	ग्रन्थमध्यस्य मेधावी	ब्र०वि० १८
क्र शरीरं अशेषाणां	ना०परि० ४.२६	ग्रस्त इच्युच्यते	आत्म० १६
क्षणात् किञ्चिदधिकम्	यो०त० १२५	ग्रामादग्निमाहत्य	याज्ञ० ३, जाबा० ४.३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ग्रामान्ते निर्जने	ना०परि० ४.१६	चैत्यवर्जित	संन्या० २.३७
ग्राहग्राहकसंबन्धे	संन्या० २.५८	छिद्रेशांडीशतम्	क्षुरि० १९
घटमध्ये यथा दीपो	यो०त० १४२	छिन्द्यते ध्यानयोगेन	क्षुरि० १८
घटवद्विविधाकारम्	ब्र०बि० १४	छेदन चालनदोहैः	शाण्ड० १.७.४२ ख
घटसंवृतमाकाशम्	ब्र०बि० १३	जगज्जीवनम्	संन्या० २.१६
घटाकाशं महाकाशः	अध्या० ७	जगत्तावदिदम्	संन्या० २.३०
घटाकाशमिवात्मानम्	पैङ्ग ४.२०	जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव	आत्म० २
घृतमिव पयसि	ब्र०बि० २०	जडया कर्णशक्तुल्या	संन्या० २.३१
घृतं श्वभूतसदृशम्	संन्या० २.९३	जन्मपल्वलमत्यानाम्	याज्ञ० २१
घृतसूपादि	संन्या० २.९५	जपस्तु द्विविधः	जा० ८० २.१३
चक्री लिङ्गी च पाषण्डी	ना०परि० ३.४	जरामरणरोगादि	ब्र०बि० २४
चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टिं	जा०द० १.९	जरायुजाण्डजादीनाम्	ना०परि० ५.५८
चक्षुश्च द्रष्टव्यम्	सुबा० ६.२	जराशोक समाविष्टम्	ना०परि० ३.४७
चतुरङ्गुलमायामविस्तारम्	जा०द०४.४	जलेन श्रमजातेन	शाण्ड० १.७.४
चतुर्थश्चतुरात्मापि	ना०परि० ८.१९	जले वापि	कुण्ड० २४
चतुर्विंशतिरव्यक्तम्	शारी० २०	जाग्रति प्रवृत्तो	मं०ब्रा० २.४.२
चतुष्कला समायुक्तो	ब्र०बि० १८	जाग्रत्स्वप्न..तुरीया..	शारी० १४
चत्वारिंशत्संस्कार	संन्या० २.१	जाग्रत्स्वप्न ...मूर्छा	पैङ्ग० २.१५
चरेन्माधूकरम्	संन्या० २.८९	जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि	कैव० १७
चर्मखण्डं द्विधा ...	ना०परि० ४.२९	जाग्रन्निन्द्रान्तः	मं०ब्रा० २.३.२
चलनदृष्ट्या	मं०ब्रा० १.२.९	जातं मृतमिदम्	मैत्र० २.४
चित्तमध्यात्मम्	सुबा० ५.९	जातस्य ग्रहरोगादि	याज्ञ० २५
चित्तमन्तर्गतम्	जा०द० ४.५४	जानु प्रदक्षिणीकृत्य	यो०त० ४०
चित्तमूलो विकल्पोऽयम्	अध्या० २६	जान्वन्तम्	जा०द० ८.४
चित्तमेव हि	मैत्र० १.९	जायन्ते योगिनो	यो०त० ४५
चित्तमेव हि संसार-	शाट्या० ३	जायाभ्रातृसुतादीनाम्	ना०परि० ४.९
चित्तमेवाप्येति	सुबा० ९.१४	जिह्वा ...जिह्वामूले	जा०द० ६.२६
चित्तशुद्धिः	ना०परि० ५.६२	जिह्वा.... पिबेत्सततम्	जा०द० ६.२५
चित्तशुद्धिकरम्	मैत्र० २.९	जिह्वा यद्रसम्	यो०त० ७१
चित्तस्य हि प्रसादेन	मैत्र० १.१०	जिह्वा वायुम्	शाण्ड० १.७.१३-४
चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि	मैत्र० ३.१०	जिह्वाऽध्यात्मम्	सुबा० ५.४
चित्तैककरणा	पैङ्ग० २.१३	जिह्वामेवाप्येति	सुबा० ९.४
चित्रो ह वै	कौ०ब्रा० १.१	जीर्ण कौपीनवासाः	ना०परि० ६.२८
चिदात्मनि सदानन्दे	अध्या० ९	जीवति वागपेतो	कौ०ब्रा० ३.३
चिदानन्दोऽस्म्यहम्	ब्र०बि० ९५	जीवतो यस्य	अध्या० १६
चिदिहास्तीति	याज्ञ० ३२	जीवदवस्था प्रथमम्	ना०परि० ६.४
चिरकालम्	शाण्ड० १.७.३५	जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः	पैङ्ग० ३.११
चुबुकं हृदि	यो०त० ११३	जीवः पञ्चविंशकः	मं०ब्रा० १.४.३
चेतनं चित्तरिक्तम्	संन्या० २.६१	जीवाः पशवः	जाबालि० १३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ज्ञाज्ञो द्वावजावीशनीशा	ना०परि० ९.९	ततः शुष्कवृक्षः...	मं० ब्रा० ३.१.४
ज्ञातं येन निजम्	यो०त० १७	ततः संवत्सरस्यान्ते	ना०परि० ६.३२
ज्ञात्वा देवं मुच्यते	ना०परि० ९.११	ततो जलादभयम्	यो०त० ९१
ज्ञात्वा स्वम्	अध्या० २	ततोऽधिकतराभ्यासाद्	यो०त० ५३
ज्ञात्वैवं मनोदण्डम्	ना०परि० ५.६६	ततोऽपि धारणाद्वायोः	यो०त० ५२
ज्ञानं शरीरं वैराग्यम्	ना०परि० ६.२	ततो भवेद्वटावस्था	यो०त० ६५
ज्ञान दण्डो धृतो	ना०परि० ५.२९	ततो भवेद्राजयोगो	यो०त० १२९
ज्ञाननेत्रं समादाय	ब्र०बि० २१	ततो भेदाभावात्	मं०ब्रा० २.३.५
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः	शाट्या० १७	ततो रक्तोत्पलाभासम्	क्षुरि० १०
ज्ञानयोगनिधिम्	शाण्डि० ३.२.१३	ततो रहस्युपाविष्टः	यो०त० ६३
ज्ञानयोगपराणाम्	जा०द० ४.५६	ततो विज्ञान आत्मा	कं०रु० २३
ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा	ना०परि० ३.८६	तत्कुर्यादविचारेण	ब्र०वि० २८
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा	ब्रह्म० ११	तत्त्वज्ञानं गुहायाम्	स्व०१-ग
ज्ञानशिखिनो..ज्ञानमीरितम्	प०ब्र० १२	तत्त्वमसीत्यहम्	पैङ्ग० ३.४
ज्ञानशौचं	जा०द० १.२२	तत्त्वमार्गे यथा	यो०त० १३१
ज्ञानसंहार	प०ब्र० १२	तत्प्रकारः कथमिति	जाबालि० १८
ज्ञान स्वरूपम्	जा०द० ६.४९	तत्र-तत्र परंब्रह्म	पैङ्ग० ४.२८
ज्ञानामृतरसो	जा०द० ६.४८	तत्र देवास्त्रयः	ब्र०वि० ३
ज्ञानामृतेन तुसस्य	जा०द० १.२३	तत्र नाडी सुषुप्ता	क्षुरि० ८
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य	अध्या० ५९	तत्र परमहंसा	याज्ञ० ६
ज्ञानोदयात्पुरा०	अध्या० ५३	तत्र परमहंसा नाम	जाबा० ६.१
ज्ञेयं सर्वप्रतीतम्	शाण्डि० १.७.१२	तत्र पारोक्ष्यशबलः	पैङ्ग० ३.३
ज्ञेयवस्तु	शाण्डि० १.७.२३	तत्र प्रथमो जीवो	व०सू० ३
ज्वरा॒ः सर्वे	शाण्डि० १.७.५१	तत्र सुषुप्ता	शाण्डि० १.४.१०
ज्वलिता अतिदूरेऽपि	याज्ञ० १९	तत्सर्वम्	शाण्डि० ७.४
तं दृष्ट्वा शान्तमनसम्	ना०परि० ४.३६	तत्सूत्रं विदितम्	प०ब्र० ८
तं पञ्चशतान्यप्सरसाम्	कौ०ब्रा० १.४	तथा चरेत वै योगी	ना०परि० ५.५७
तं पश्चाद्विबलिम्	पैङ्ग० ४.८	तथाऽज्ञानावृतो	आ०बो० २.२७
होवाचाजातशत्रुः	कौ०ब्रा० ४.१९	तथानन्दमयश्चापि	कं०रु० २६
तच्चानन्दसमुद्रमग्ना	मं०ब्रा० २.५.३	तथाप्यानन्दभुक्	ना०परि० ८.१६
तच्छान्त्रैत्युद्धिधा॒	मं०ब्रा० २.१.१०	तथाभ्रान्तैद्विधा	जा०द० १०.४
तञ्जानप्लवाधिरूढेन	मं०ब्रा० २.१.३	तथा मनोमयो	कं० रु० २५
तञ्जानम्	जाबा० १६	तथाऽस्थूलमनाकाशम्	जा०द० ९.४
तत उ ह बालाकि	कौ०ब्रा० ४.१८	तथेति मण्डलपुरुषः	मं०ब्रा० ३.१.२
ततः कण्ठान्तरे	क्षुरि० १५	तथैव ब्रह्मविच्छेषः	आत्म० २२
ततः कृशवपुः	शाण्डि० १.७.१३-६	तथैव विद्वात्रमते निर्ममो	आत्म० ११
ततः पवित्रम्	पैङ्ग० ४.१७	तथैवोपाधिविलये	आत्म० २३
ततः प्राणमयो	कं०रु० २२	तदण्डं समभवत्तत्	सुबा० १.३
ततः शरीरे लंघु	शाण्डि० १.५.४	तदधिकारी न भवेद्यदि	प०प० ३ ख

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तदनुनित्यशुद्धः	मं०ब्रा० ३.१.६	तपः संतोषमास्तिक्यम्	जा०द० २.१
तदन्त्यं विषुवं	जा०द० ४.४५	तपसा प्राप्यते	मैत्र० १.६
तदपेक्षया इन्द्रादयः	मं०ब्रा० २.५.४	तपेद्वर्षसहस्राणि	पैङ्ग० ४.२१
तदभ्यासात्	मं०ब्रा० २.१.९	तपो विजितचित्तसु	क्षुरि० २१
तदभ्यासेन	कुण्ड० १८	तमसः साक्ष्यहम्	ब्र०वि० ९६
तदलक्षणम्	ना०परि० ८.२३	तमादि मध्यान्त ...	कैव० ७
तदाकाराकारी	मं०ब्रा० १.२.१२	तमाराध्य जगत्राथम्	यो०त० ३
तदाद्यं विषुवम्	जा०द० ४.४४	तमुवाच हृषीकेशो	यो०त० ४
तदानीमात्मगोचरा वृत्तयः	पैङ्ग० ३.५	तमेकस्मिन् त्रिवृतं	ना०परि० ९.४
तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः	मं०ब्रा० २.२.१	तमेतमात्मानम्	कौ०ब्रा० ४.२०
तदा विवेकवैराग्यम्	यो०त० १३०	तमेव धीरो विज्ञाय	शाट्या० २५
तदाहुः किं तदासीत्	सुबा० १.१	तमेवात्मानम्	ना०परि० ८.७
तदुत्तरायणम्	जा०द० ४.४१	तमो हि शारीर प्रपञ्चं	म०वा० ४
तदुपायं लक्ष्यत्रय	मं०ब्रा० १.२.५	तयोर्मध्ये वरम्	क्षुरि० १७
तदु होवाच	मं०ब्रा० २.१.२	तर्जन्यग्रोन्मीलित ...	मं०ब्रा० १.२.७
तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिम्	या०ज्ञ० २	तर्हि कर्म ब्राह्मणः	व०सू० ७
तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः	ना०परि० ३.९०	तर्हि को वा ब्राह्मणो	व०सू० ९
तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपं	ना०परि० ५.२४	तर्हि जातिब्राह्मणः	व०सू० ५
तदेव कृतकृत्यत्वम्	अव० १३	तर्हि ज्ञानं ब्राह्मणः	व०सू० ६
तदेव निष्कलं ब्रह्म	ब्र०वि० ८	तर्हि देहो ब्राह्मणः	व०सू० ४
तदश्ने तिस्रो	मं०ब्रा० २.१.६	तर्हि धार्मिको ब्राह्मणः	व०सू० ८
तद्वेके प्राजापत्यामेवेष्टि	जा०बा० ४.२	तल्लक्ष्यं नासाग्रं	मं०ब्रा० २.१.७
तद्वित्त्वा कण्ठमायाति	क्षुरि० ११	तल्यं परिपूर्णे	मं०ब्रा० ५.१.३
तद्यथेति । दुष्टमदनाभाव ...	ना०परि० ५.३	तल्लयाच्छुद्धाद्वैत ...	मं०ब्रा० ५.१.६
तद्यथेति दुष्टनुश्रविक ...	संन्या० २.१९	तस्मात्खेचरी	शाण्ड० १.७.१७-१
तद्योगं च द्विधा	मं०ब्रा० १.३.१	तस्मात्तमः संजायते	सुबा० १.२
तद्वूपवशगा नार्यः	यो०त० ६१	तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी	कुण्ड० ६
तद्वूपेण सदा	पं०ब्रा० ३८	तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसा	जा०द० १.२५
तद्वद् ब्रह्मविदोऽप्यस्य	आत्म० ८	तस्मात्सर्वप्रयत्नेन..मोक्षापेक्षी	प०ब्र० १९
तद्वांश्शुरादि	मं०ब्रा० २.४.६	तस्मात्सर्वप्रयत्नेन..योगमेव	यो०त० ८१
तद्विद्याविषयम्	कं०रु० १४	तस्मादद्वैतमेवास्ति	जा०द० १०.३
तद्विप्रासो विपन्यवो	पैङ्ग० ४.३१	तस्मादन्यगता वर्णा	ना०परि० ६.१८
तद्विष्णोः परमम्	पैङ्ग० ४.३०	तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो	ना०परि० ४.३४
तनुपञ्जरमध्यस्थ	शाण्ड० १.४.७	तस्मादेतत्त्वम्:	कं०रु० ३७
तन्त्रिरासस्तु	मं०ब्रा० १.२.२	तस्माद्वेष विनाशार्थं	यो०त० १४
तन्मध्ये	जा०द० ४.५	तस्मान्मनो विलीने	हंस० २१
तन्मध्ये जगलीनं	मं०ब्रा० २.१.४	तस्मिन्निरोधिते	शाण्ड० १.७.२५
तन्मध्ये नाभिः	शाण्ड० १.४.६	तस्मिन् मरुशुक्तिकास्थाणुः	पैङ्ग० १.३
तपः सन्तोष....	शाण्ड० १.२.१	तस्मै नमो	पं०ब्र० ३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तस्मै स होवाच पिता	कैव० २	तेषु प्राणादयः	जा०द० ४.२५
तस्य दास्यं सदा	ब्र०वि० २७	त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो	ना०परि० ६.५
तस्य न कर्मलेपः	मं०ब्रा० २.२.३	त्यक्त्वा लोकांश्च	ना०परि० ४.१
तस्य निश्चिन्ता	मं०ब्रा० २.२.५	त्यक्त्वा विष्णोलिङ्गम्	शाट्या० १९
तस्य प्रियम्	अव० ४	त्यक्त्वा सर्वात्रमान्धीरो	शाट्या० ३०
तस्य ब्रह्मा बिभेति	सुबा० १.५	त्यज धर्ममधर्मम्	संन्या० २.१७
तस्य शिष्यो मुनिकरः	जा०द० १.१	त्रयोऽग्रयश्च	यो० त० १३५
तस्याष्टधा	हंस० ८	त्रिकोणं मनुजानाम्	जा०द० ४.२
तस्यै तस्य महतो	सुबा० २.२	त्रिचतुर्वासरम्	जा०द० ५.१०
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि	कं०रु० १९	त्रिचतुस्त्रिचतुः	शाण्ड० १.५.३
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे	अध्या० ३४	त्रिदण्डं कमण्डलुम्	जा०बा० ६.२
तारं ज्योतिषि	शाण्ड० १.७.१७	त्रिदण्डं वैष्णवम्	शाट्या० १०
तारं संयमात्	शाण्ड० १.७.५२	त्रिदण्डमुपवीतं च	शाट्या० ७
तालुमूलगताम्	शाण्ड० १.७.३०	त्रिपुण्ड्रं भस्मना	जाबालि० २२
तावदेव निरोद्धव्यम्	ब्र०वि० ५	त्रियक्षं वरदं रुद्रम्	यो०त० ९३
तितिक्षाज्ञानः-	ना०परि० ५.२७	त्रिशङ्खवत्रमोकारम्	ब्र०वि० ७४
तिलमध्ये यथा	यो०त० १३७	त्रिंशत्परांस्त्रिंशत्	शाट्या० ३४
तिलेषु च यथा	ब्र०वि० ३५	त्रिष्वणस्तानम्	ना०परि० ७.२
तिलेषु तैलम्	ब्रह्मा० १९	त्रिषु धामसु यद्भोगयम्	कैव० १८
तिष्ठतो ब्रजतो वापि	ना०परि० ३.३६	त्रिसन्ध्यं शक्तिः	शाण्ड० १३
तिष्ठन्ति परितस्तस्याः	जा०द० ४.६	त्वक् चर्ममांस ...	आत्मो० १-ख
तीर्थानि तोयपूर्णानि	जा०द० ४.५२	त्वग्धायात्मम्	सुबा० ५.५
तीर्थे दाने	जा०द० ४.५७	त्वद्भांसरक्तबाषाम्बु	याज्ञ० १५
तीर्थे स्वपचगृहे	पैङ्ग० ४.७	त्वद्भांसरसधिर ...	ना०परि० ४.२५
तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा	ना०परि० ५.२६	त्वचमेवाप्येति	सुबा० ९.५
तुरीयातीतो गोमुखः	ना०परि० ५.१६	त्वचा क्षणविनाशिन्या	संन्या० २.३२
तुरीयातीतो गोमुखवृत्या	संन्या० २.२८	त्वमेवाहं न	मं०ब्रा० ३.२.२
तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि	मैत्र० ३.६	दक्षिणं सव्यगुल्फेन	शाण्ड० १.३.५
तुष्णाक्रोधोऽनुतम्	ना०परि० ४.५	दक्षिणायनमित्युक्तम्	जा०द० ४.४२
तुष्णारञ्जुगणम्	संन्या० २.५४	दक्षिणेतरपादम्	जा०द० ३.६
तृष्णा लज्जा	यो०त० १३	दक्षिणेऽपि	जा०द० ३.४
तेजसीव तमो यत्र	अध्या० २४	दग्धस्य दहनम्	पैङ्ग० ४.१०
तें ध्यान योगानुगता	ना०परि० ९.३	दण्डं तु वैष्णवम्	संन्या० २.१३
तेन सर्वमिदम्	यो०त० १३६	दण्डभिक्षां च यः	ना०परि० ६.११
तेनेदं निष्कलम्	ब्र०वि० १७	दण्डात्मनोऽस्तु	संन्या० २.१५
तेनेष्वा स नरो	ब्र०वि० ५४	दत्तात्रेयो महायोगी	जा०द० १.१
तेभिधर्यायिमिदं	प०ब्र० १६	दन्तमूलात्तथा	जा०द० ७.६
ते वर्णात्मिकाः	शाण्ड० १.६.२	दम्भाहंकारनिर्मुक्तो	ना०परि० ३.३५
तेषां मुक्तिकरम्	यो०त० ५	दशभिः प्रणवैः	शाट्या० १४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
दशलक्षणकम्	ना०परि० ३.२३	धन्योऽहं...तृसर्मे	अव० ३३
दारमहत्य	कुण्ड० २	धन्योऽहं ...दुःखम्	अव० ३१
दिनद्वादशकेनैव	यो०त० १०६	धन्योऽहं नित्यम्	अव० ३०
दिने दिने च	यो०त० ३४	धन्योऽहं ...सम्पन्नम्	अव० ३२
दिवं जाग्रन्तकम्	ना०परि० ६.३	धर्ममेघमिमं प्राहुः	अध्या० ३८
दिवा न पूजयेद्विष्णुम्	शाण्ड० १.७.३८	धाता पुरस्ताद्	म०वा० ९
दीपाकारं महादेवम्	ब्र०वि० २३	धातुबद्धं महारोगम्	मैत्र० २.५
दीर्घप्रणव संधानम्	यो०त० २७	धातुस्त्रीलौल्यकादीनि	यो०त० ३१
दूरयात्राम्	ना०परि० ३.७२	धामन्त्रयनियन्तारम्	पं०ब्र० १३
दृश्यं तं दिव्यरूपेण	ब्र०वि० ७८	धारयित्वा यथाशक्ति	यो०त० ३९
दृश्यदर्शनयोर्लीनम्	संन्या० २.३४	धारयेत्पञ्च	यो०त० ८७
देवार्चनस्नानशौच...	अव० २७	धारयेत्पञ्च घटिका वहिनासौ	यो०त० ९४
देवा ह वै भगवन्तम्	कं०रु० १	धारयेत्पूरितम्	जा०द० ६.८
देवा ह वै स्वर्गम्	अथ० १	धारयेद्वृद्धिमान्त्रित्यम्	जा०द० ८.८
देशकालविमुक्तोऽस्मि	मैत्र० ३.१९	धारयेन्मनसा	शाण्ड० १.७.४४-क
देहमध्यम्	जा०द० ४.३	धृतिः क्षमा	ना०परि० ३.२४
देहमध्ये शिखिस्थानम्	शाण्ड० १.४.४	धैर्यकन्था	निर्वा० २५-३६
देहशोत्तिष्ठते	जा०द० ६.१८	ध्यातृध्याने परित्यज्य	अध्या० ३५
देहस्थः सकलो	ब्र०वि० ३३	ध्यात्वा मध्यस्थ	पैङ्ग० ३.९
देहस्य पञ्चदोषा भवन्ति	मं०ब्रा० १.२.१	ध्यायेत् इडया	शाण्ड० १.६.५
देहातीतं तु तम्	ब्र०वि० ४३	ध्यान विस्मृतिः	मं०ब्रा० १.१.१०
देहावभासकः साक्षी	आ०बो० २.१९	न कर्मणा न प्रजया	अव० ६
देहे ज्ञानेन	पैङ्ग० ४.१६	न कर्मणा न प्रजया..चान्येनापि	कं०रु० १३
देहेन्द्रियेष्वंहंभावः	अध्या० ४५	न कर्मणा न प्रजया..धनेन	कैव० ३
देहेस्वात्ममतिम्	जा०द० ७.१३	न किंचिदत्र पश्यामि	अध्या० ६८
दैन्यभावात्	संन्या० २.११३	न कुर्यात् वदेत्	ना०परि० ५.५१
दैवेन नीयते देहो	आ०त० १९	नकाद्वारशोपवासः	संन्या० २.८०
द्रव्यार्थमन्त्र वस्त्रार्थं	मैत्र० २.२०	नगरं नहिः कर्तव्यं	ना०परि० ३.५७
द्रष्टरश्वेत् कल्पयन्तु	अव० १७	न च विद्या न चाविद्या	आ०त० ४
द्रष्टदर्शन दृश्यात्	अध्या० २३	न जगत्सर्वद्रष्टास्मि	मैत्र० ३.१४
द्रष्टदर्शनदृश्यानि	मैत्र० २.२९	न जातु कामः	ना०परि० ३.३७
द्वादशाङ्गुलं पर्यन्ते	शाण्ड० १.७.३२	न नटादि प्रेक्षणं द्यूतम्	ना०परि० ३.६९
द्वाविमौ न विरज्येते	ना०परि० ६.३४	न तच्छब्दः न किं शब्दः	स्व० १-घ
द्विरात्रं न वसेदग्रामे	ना०परि० ४.१५	न तत्र देवा	ब्रह्म० ३
द्विसप्ति सहस्रणि	ब्र०वि० ११	न तस्य दुर्लभम्	यो०त० ५१
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां	क्षुरि० ७	न तस्य विद्यते	ना०परि० ४.३०
द्वे विद्ये वेदितव्ये	ब्र०बि० १७	न तीर्थसेवी नित्यम्	ना०परि० ३.७३
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य	शाण्ड० १.७.२४	न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो	मैत्र० २.२३
धनवृद्धा वयोवृद्धा ...	मैत्र० २.२४		

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
न दण्डं न शिखाम्	प०ह० २	नाडीभ्याम्	शाण्ड० १.७.४९
न दण्डधारणेन न	ना०परि० ५.२८	नाडी शुद्धिमवाप्रोति	जा०द० ५.११
न दर्शयेच्च	यो०त० ५६	नात्मने बोधरूपस्य	ना०परि० ६.१५
नदीपुलिनशायी स्यादेवाश्वागारेषु	कुण्ड० १९	नात्यर्थं सुखदुःखाभ्याम्	कं० रु० ८
न देशं नापि कालम्	आत्म० ७	नात्युच्छ्रुतम्	यो०त० ३५
न नभो घटयोगेन	अध्या० ५२	नादाभिव्यक्तिरित्येतत्	जा०द० ५.१२
न नाशयेद्बुधो	ना०परि० ६.४०	नानात्मभेदहीनोऽस्मि	मैत्र० ३.८
न निरोधो न चोत्पत्तिः	अव० १२	नाना मार्गेस्तु	यो०त० ०६
न निरोधो न ...बद्धो	ब्र०वि० १०	नानोपनिषदभ्यासः	शाट्या० १६
न निरोधो न ..साधकः	आत्म० ३१	नात्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञम्	ना०परि० ९.२२
न पाणिपादचपलो	याज्ञ० २७	नापुत्राय प्रदातव्यम्	ब्र०वि० ४७
न पुण्यपापे	कैव० २३	नापृष्ठः कस्यचिद्	संन्या० २.१२१
न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदम्	अध्या० ४६	नाभिकन्दादधः	जा०द० ४.११
नभस्तं निष्कलम्	ब्र०वि० २०	नाभिकन्दे	जा०द० ७.१२
नमस्तुभ्यं परेशाय	संन्य० २.४९	नाभिकन्दे समौ	ब्र०वि० २२
न मे देहेन	कुण्ड० १५	नाभिदेशात्समाकृष्य	जा०द० ७.७
न मे भोग स्थितौ	संन्य० २.५१	नाभिस्थाने स्थितम्	ब्र०वि० १५
नमोऽस्तु मम	याज्ञ० ३०	नाभेस्तिर्यग्धोर्ध्वम्	शाण्ड० १.४.८
न रात्रौ न च	ना०परि० ४.१९	नामगोत्रादि	ना०परि० ४.२
नवचक्रं षडाश्वारं	मं०ब्रा० ४.१.५	नामादिभ्यः परे	याज्ञ० १२
नवद्वारमलस्त्रावम्	मैत्र० २.६	नारायणाद्वा	सुबा० १२.१
नवमं परित्यज्य	हंस० १७	नारायणोऽहम्	कुण्ड० १७
न वाचं विजिज्ञासीत	कौ०ब्रा० ३.८	नार्चनं पितृकार्यं	ना०परि० ६.३८
न वायु स्पर्शदोषेण	संन्य० २.९०	नाविरतो दुश्चरितान्	ना०परि० ९.२१
न विधिर्न निषेधश्च	ना०परि० ६.१९	नावृतिर्ब्रह्मणः	आत्म० २८
न शिष्याननुबधीत	ना०परि० ५.४९	नावेदविन्मनुते	शाट्या० ४
नष्टे पापे	जा०द० ६.४६	नाशौचं नाग्रिकार्यम्	पैङ्ग० ४.९
न सन्ति मम	आ०बो० २.२५	नासच्छास्त्रेषु	ना०परि० ५.४८
न सन्नासन्न	प०ब्र०४	नासाया गन्धजडया	संन्या० २.३५
न संभाषेत्स्त्रियम्	ना०परि० ४.३	नासाग्रे अच्युतम्	ब्र०वि० ४२
न साक्षिणं	कुण्ड० २३	नासाग्रे वायुविजयम्	शाण्ड० १.७.४४-ख
न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तम्	ना०परि० ८.२२	नासाग्रे शशिभृद्	जा०द० ५.६
न स्नानं न जपः	ना०परि० ६.३७	नासाऽध्यात्मम्	सुबा० ५.३
न सृशामि	आ०बो० २.२८	नासामेवायेति	सुबा० ९.३
न हि प्रज्ञाऽपेता	कौ०ब्रा० ३.७	नित्यतृसो ...	आत्म० १३
न ह्यन्यतरतो रूपम्	कौ०ब्रा० ३.९	नित्यमध्यासयुक्तस्य	यो०त० १२३
नागः कूर्मश्च	जा०द० ४.२४	नित्यः शुद्धो	मैत्र० १.१५
नागादिवायावः	जा०द० ४.३०	नित्यः सर्वगतो	जा०द० १०.२
नाडीपुञ्जम्	जा०द० ४.६१	नित्यानुभवरूपस्य	अव० २४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नित्योऽहम्	ब्र०वि० १७	नैवाददीत पाथेयम्	संन्या० २.१११
निद्राभयसरीसृपं	मं०ब्रा० १.२.३	नैवाप्रज्ञं	ना०परि० ८.२२
निद्राया लोकवार्तायाः	अध्या० ५	नैवेह किंचनाग्र	सुबा० ६.१
निद्रालस्ये	शारी० ११	नैषोऽन्यकरोऽयमात्मा	म०वा० ५
निपीड्य सीवनीम्	जा०द० ३.८	न्यायार्जितधनं आन्ते	जा०द० २.७
निमीलनादि	जा०द० ४.३४	पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः	ब्र०वि० ६७
नियमः स्वान्त ...	निर्वा० ४८-६०	पञ्चकृत्य नियन्तारं	पं०ब्र० २१
निरंशध्यान ...	संन्या० २.६९	पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ताः	ब्र०वि० ६८
निरवधिनिज बोधोऽहम्	आ०बो० २.७	पञ्चधा वर्तमानम्	पं०ब्र० २७
निरस्तविषयासङ्गम्	ब्र०बि० ४	पञ्चपादब्रह्मणो	पं०ब्र० ५
निरुद्ध्य पूरयेत्	यो०त० ३७	पञ्चब्रह्मिदम्	पं०ब्र० २६
निरुद्ध्य वायुना	जा०द० ६.४२	पञ्चब्रह्मात्म ...	पं०ब्र० २३
निर्गुणं निष्क्रियम्	अध्या० ६३	पञ्चब्रह्मात्मकम्	पं०ब्र० २८
निर्द्वन्द्वो नित्य	ना०परि० ४.१३	पञ्चब्रह्मोप	पं०ब्र० ३२
निर्ममो निरहङ्कारो निरपेक्षो	ना०परि० ३.७६	पञ्चमे स्वते	हंस० १९
निर्ममो निरहङ्कारः सर्वसङ्ग	ना०परि० ६.२३	पञ्चयज्ञा वेदशिरः	शाट्या० १२
निर्ममोऽमननः	संन्या० २.३६	पञ्चसप्तगृहाणाम्	संन्या० २.७९
निर्मानश्नानहंकारो	ना०परि० ५.४४	पञ्चस्तोतोऽम्बुं	ना०परि० ९.५
निर्भावं निरहंकारम्	संन्या० २.५३	पञ्चाक्षरमयम्	पं०ब्र० ३०
निर्भेदं परमाद्वैतम्	कं०र० ३१	पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्र ..	मं०ब्रा० २.४.१
निर्विकल्पमनन्तं च	ब्र०बि० ९	पञ्चाशत् स्वर ..	पं०ब्र० १६
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा	अध्या० ४४	पञ्चाशद्वर्ण ...	पं०ब्र० ८
निर्विकारो नित्यपूतो	ब्र०वि० ९८	पञ्चीकृतमहाभूत ...	पैङ्ग० ३.७
निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो	आ०बो० २.१२	पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता	शाट्या० ८
निष्कलं निर्मलम्	यो०त० ८	पदं तदनुयातोऽस्मि	संन्या० २.७१
निष्कलः सकलो	ब्र०बि० ३८	पद्मसूत्र निभा	ब्र०बि० १०
निष्कले निष्क्रिये	आत्म० ३०	पद्माद्यासनस्थः	शाण्ड० १.६.३
निष्क्रम्य वनमास्थाय	ना०परि० ५.४२	पद्मासनस्थ ...	यो०त० ५५
निष्क्रियोऽस्मि	कुण्ड० २५	पद्मासनस्थितो	यो०त० ५४
निः स्तुतिर्निर्नमस्कारो	ना०परि० ६.४२	पयः स्वावानन्तरं	मं०ब्रा० ३.१.५
निस्त्रैगुण्यपदोऽहं	आ०बो० २.५	परतत्त्वं विजानाति	ना०परि० ६.१४
निहितं ब्रह्म	कं०र० १५	परब्रहणि लीयेत	यो०त० १०८
नीरुजश्च युवा	संन्या० २.११२	परमहंसः शिखा ..करपात्रेक	संन्या० २.२७
नेत्रोगा	जा०द० ६.३१	परमहंसः शिखा ...करात्रा	ना०परि० ५.१५
नेत्रस्थं जागरितम्	ब्रह्म० २१,	परमहंसादित्रयाणाम्	ना०परि० ५.२०
नैव चिन्त्यं न	ना०परि० ५.२५	परमात्मदृष्ट्या	मं०ब्रा० ३.१.३
नैवमात्मा प्रवचन ...	ब्र०बि० ६	परमात्मनि यो रक्तो	ना०परि० ३.१८
नैव सव्यापसव्येन	सुबा० ९.१६	परमात्मपदम्	यो०त० ९
	संन्या० २.८१		

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
परमानन्दपूर्णोऽहम्	अब० १४	पुनश्च जन्मान्तर कर्म	कैव० १४
परम्ब्रह्मानुसंदध्यात्	ना०परि० ८.९	पुनः सकथम्	जाबालि० ८
परस्त्रीपुरपराङ्मुखः	याज्ञ० ७	पुनः सकुतस्त्वया	जाबालि० ४
परहंसाश्रमस्थो	ना०परि० ४.२४	पुनः स .. तदुपासन ...	जाबालि० ९
परामृतोऽस्यहम्	ब्र०वि० १००	पुनः स ...तेनाथ	जाबालि० ६
परिपूर्णपराकाशमग्रमनाः	मं०ब्रा० ३.२.१	पुनः स ... तेनेशानादिति	जाबालि० ७
परिपूर्णमनाद्यन्तम्	अध्या० ६१	पुनः स ... भगवन्	जाबालि० १०
परिव्राजका अपि	आश्र० ४	पुनः स ...विभूति	जाबालि० १७
परिव्राज्यं गृहीत्वा	शाद्या० ३१	पुनः स ...षडाननादिति	जाबालि० ५
परेणैवात्मनश्चापि	ना०परि० ३.२	पुनः स ...सद्योजात ...	जाबालि० १९
पर्वताग्रे नदीतीरे	जा०द० ५.४	पुनस्तज्ज्ञान ...	जा०द० ६.३८
पवित्रं स्नानशाटीम्...अतोऽति	कुण्ड० १०	पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया	यो०त० ३८
पवित्रं स्नानशार्टीं ..वेदांश्च	कं०र० ६	पुरुष एवेदम्	सुबा० ६.७
पश्यन्ति देहिवम्भूढाः	आत्म० १७	पुरुषः परमात्माऽहम्	ब्र०वि० १९
पांसुना च प्रतिच्छन्न	ना०परि० ५.४०	पुष्पवत्सकलम्	ब्र०वि० ३७
पाणिपात्रश्वरन्येगी	ना०परि० ५.३६	पूजितो वन्दितश्चैव	ना०परि० ३.१९
पात्री दण्डी युग ...	शाद्या० २०	पूरककुम्भक ...	मं०ब्रा० १.१.६
पादमेवाप्येति	सुबा० ९.८	पूरकान्ते	शाण्ड० १.७.११
पादस्योपरि	क्षुरि० १२	पूरयेत्सर्वमात्मानम्	क्षुरि० ४
पादाङ्गुष्ठगुल्फ ...	शाण्ड० १.८.२	पूरयेदनिलम्	जा०द० ७.११
पादादिजानुपर्यन्तम्	यो०त० ८५	पूरितं धारयेत्	जा०द० ६.४
पादावध्यात्मम्	सुबा० ५.१२	पूर्वभागे	जा० द० ४.१८
पायुमेवाप्येति	सुबा० ९.९	पूर्वभागे हृष्ठोलिङ्गम्	ब्र०वि० ८०
पायुरध्यात्मम्	सुबा० ५.१३	पूर्वं चोभयमुच्चार्य	ब्र०वि० ५६
पारिव्राज्यं गृहीत्वा	शाद्या० ३१	पूर्वं पूर्वम्	जा०द० ६.१५
पाथिर्वं वायुमारोप्य	यो०त० ८६	पूर्वं यः कथितो	यो०त० ६७
पार्ण्णि वामस्य	यो०त० ११२	पूर्वविद्वित्संन्यासी	ना०परि० ४.३८
पावनी परमोदारा	संन्या० २.६०	पूषाधिदेवता	जा०द० ४.३६
पाशं छित्वा	क्षुरि० २२	पूषा यशस्विनी	जा०द० ४.१५
पाषाण लोहमणि	मैत्रे० २.२६	पूषा वामाक्षिपर्यन्ता	जा०द० ४.२०
पिङ्गलायां	जाबा० ४.४०	पृथिवी वा अन्नम्	सुबा० १४.१
पितामहं पुनः प्रच्छ	ना०परि० ३.८०	पृष्ठमध्यस्थिते नास्था	जा०द० ४.१०
पुण्यायतनचारी	ना०परि० ५.४५	प्रकाशयन्तमन्तः स्थम्	ऐङ्ग० ३.१०
पुत्रे मित्रे कलत्रे	जा०द० १.१६	प्रगलितनिजमायोऽहम्	आ०बो० २.१
पुनः पिङ्गलयापूर्यमात्रैः	जा०द० ६.७	प्रज्ञया वाचम्	कौ०ब्रा० ३.६
पुनः पिङ्गलयापूर्यं वह्नि	जा०द० ५.९	प्रज्ञातोऽहम्	ब्र०वि० १०१
पुनःपुनः सर्वा ...	मं०ब्रा० २.३.७	प्रणवेन	जा०द० ६.४१
पुनर्जन्म निवृत्यर्थम्	प०ब्र० ७	प्रतर्दनो ह वै	कौ०ब्रा० ३.१
पुनर्यतिविशेषः	ना०परि० ५.२१	प्रतिगृह्य यतिशैतान्	संन्या० २.११५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
प्रतिग्रहं न	ना०परि० ४.८	प्राणे गते यथा	ना०परि० ३.२७
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा	ना०परि० ५.३०	प्राणे गलित संवित्तौ	शाण्ड० १.७.३१
प्रत्यगभित्रपरोऽहम्	आ०बो० २.२	प्राणे बाह्यानिलम्	जा०द० ८.२
प्रत्यगात्मतया	कं०रु० ४१	प्राणो ब्रह्मेति... कौषीतकिः	कौ०ब्रा० २.१
प्रत्यगात्मानम्	कं०रु०१६	प्राणो ब्रह्मेति... पैङ्गः	कौ०ब्रा० २.२
प्रत्यगानन्दम्	आ०बो० १.१	प्रातः काले च	संन्या० २.८५
प्रत्यगेकरसम्	अध्या० ६२	प्रातर्मध्यन्दिने	शाण्ड० १.७.२
प्रत्याहारः	जा०द० ७.९	प्रातर्मध्यन्दिने सायम्	यो०त० ४३
प्रत्याहारः समाख्यातः	जा०द० ७.१४	प्रातः स्नानोपवास ...	यो०त० ४८
प्रत्याहारो	जा०द० ७.३	प्राप्य चान्ते	ना०परि० ६.३१
प्रत्याहारो धारणा	यो०त० २५	प्रारब्धं सिद्ध्यति	अध्या० ५६
प्रथमाभ्यासकाले	यो०त० ३०	प्रारब्धकर्म	पैङ्ग० ४.६
प्रथमे चिञ्चिणीगात्रम्	हंस० १८	प्रारब्धकल्पनायस्य	अध्या० ५७
प्रदातव्यमिदम्	ब्र०वि० ४८	प्रियाप्रिये	आत्म० १५
प्रपञ्चमखिलम्	संन्या० २.११९	प्रियेषु स्वेषु	ना०परि० ३.५१
प्रपञ्चाधारस्तपेण	आ०बो० २.१३	प्रोवाच तस्मै	पं०ब्र० ४
प्रमाता च प्रमाणम्	कं०रु० ४२	बन्धमुद्रा कृता येन	ब्र०वि० ६९
प्रमादिनो बहिश्चित्तः	याज्ञ० ११	बन्धो जालंधराख्योऽयं	यो०त० ११९
प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायाम्	अध्या० १४	बलादाहरणं	जा०द० ७.२
प्रलपन्विसृजन्	संन्या० २.६३	बहिरन्तश्च सर्वत्र	ना०परि० ५.६३
प्रवृत्तिर्द्विविधा	संन्या० २.१२०	बहिरन्तश्चोपवीती	प०ब्र० १८
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म	ना०परि० ३.१६	बहिः प्रपञ्च	प०ब्र० २०
प्रसन्नं सामवेदः.....	पं०ब्र० ११	बहिर्लक्ष्यं	मं०ब्रा० १.२.६
प्रस्वेदजनको	जा०द० ६.१४	बहिः सूत्रम् त्यजेद्विद्वा०	ना०परि० ३.८४;
प्राणदेवताश्वत्त्वाः	प०ब्र० २	ब्रह्म०९	
प्राणयात्रा निमित्तं च	ना०परि० ५.३५	बहिः सूत्रम् त्यजेद्विप्रो	प०ब्र० १०
प्राणश्चित्तेन	जा०द० ६.१७	बहिस्तीर्थात्परम्	जा०द० ४.५३
प्राणसंयमनेनैव	जा०द० ६.१२	बहूदकः शिखा	संन्या० २.२५
प्राणान्संधारयेत्	क्षुरि० ५	बाल्येन तिष्ठासेत्	सुबा० १३.१
प्राणापानयोरैक्यं	मं०ब्रा० २.२.२	बाल्येनैव हि	शाट्या० २६
प्राणापानसमानो	शाण्ड० १.४.१२	बाह्यं चिन्ता	शाण्ड० १.७.२०
प्राणापानसमायोगः	शाण्ड० १.६.१	बाह्यं प्राणं	जा०द० ६.२२
प्राणायामं ततः:	यो०त० ३२	बाह्यात् प्राणं	शाण्ड० १.७.४३
प्राणायामक्रमम्	जा०द० ६.१	बिन्दुनादसमानयुक्तम्	जा०द० ५.८
प्राणायामसुतीक्ष्णेन	क्षुरि० २४	बुद्धिकर्मेन्द्रिय ...	शारी० १६
प्राणायामस्तथा	जा०द० १.५	बुद्धिमेवायेति	सुबा० ९.१२
प्राणायामेन	जा०द० ६.१६	बुद्धिरध्यात्मम्	सुबा० ५.७
प्राणायामैकनिष्ठस्य	जा०द० ६.२०	बुद्धेरेव गुणावेतौ	आत्म०२९
प्राणिनां देहमध्ये	ब्र०वि० ६०	बुद्धोऽहम्	ब्र०वि० १०२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
बुद्बुदादिविकारा०	आ०बो० २.१५	भावाभावविहिनोऽस्मि	मैत्रे० ३.५
बुधो बालकवत्	ना०परि० ५.५३	भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन	संन्या० २.८६
बृहद्रथो वै नाम	मैत्रे० १.१	भिक्षादिवैदलम्	कुण्ड० १३
बृहस्पतिरुवाच	जाबा० १.१	भिक्षार्थमटनम्	ना०परि० ३.६५
ब्रह्मक्षत्रिय वैश्यशूद्रा	व०स० २	भूतं भव्यं भविष्यत्	ना०परि० ८.६
ब्रह्मचर्यं समाप्य	संन्या० २.२२	भूतानां त्रयमप्येतत्	ना०परि० ८.१८
ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही	ना०परि० ५.६	भूमिरापोऽनलो	यो०त० ८४
ब्रह्मचर्यात्रमे क्षीणे	कुण्ड० १	भूस्तेआदिर्मध्यम्	अथ० ३
ब्रह्मचर्येण	कं०रु० ९	भेदः सर्वत्र	पं०ब्र० ३९
ब्रह्मचर्येण संन्यस्य	ना०परि० ५.७	भैक्षाशनं च मौनित्वम्	ना०परि० ५.६०
ब्रह्मचारी वेदमधीत्य	कं०रु० ३	भैक्षण वर्तयेन्नित्यं	संन्या० २.७८
ब्रह्मणः प्रलयेनापि	यो०त० १०४	भ्रमन्तो योनि जन्मानि	यो०त० १३४
ब्रह्मणो हृदयस्थानम्	ब्र०वि० ४१	भ्रष्टबीजोपमा	संन्या० २.५९
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा	अध्या० ४३	भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा	यो०त० ११८
ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो	आ०बो० १.३	भ्रूमध्ये	शाण्ड० १.७.३३
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष	आत्म० २५	भ्रूमध्ये सच्चिदानन्द ...	मं०ब्रा० १.२.४
ब्रह्मभावे मनश्चारम्	जा०द० १.१४	भ्रूयगमध्यबिले	मं०ब्रा० १.३.३
ब्रह्मभूतात्मनः	कं०रु० १७	मकारं तु	जा०द० ६.९
ब्रह्मरन्धं गते	जा०द० ६.३६	मकारस्त्वग्रिसंकाशो	ब्र०वि० ८
ब्रह्मविज्ञानलाभाय	ना०परि० ६.२६	मकारे च भ्रूवोर्मध्ये	ब्र०वि० ७०
ब्रह्मव्यतिरिक्तम्	ना०परि० ५.११	मकारे लभते	यो०त० १३९
ब्रह्मस्थाने तु नादः	ब्र०वि० ७६	मकारे संस्थितो	ब्र०वि० ७२
ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः	ब्र०वि० ५१	मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च	ना०परि० ३.७१
ब्रह्माण्डस्योदरे	कं०रु० २०	मध्यदेशे परम्	ब्र०वि० ६६
ब्रह्मादिलोक-पर्यन्ताद्विरक्त्या	जा०द० २.६	मध्यलक्ष्यं तु	मं०ब्रा० १.२.११
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम्	अध्या० १९	मध्यस्थ कुण्डलिनी	शाण्ड० १.४.९
ब्रह्मानन्दे निमग्रस्य	आ०बो० २.१७	मन एव मनुष्याणाम्	ब्र०वि० २, शाद्या० १
ब्रह्मामृतम्	मैत्रे० २.३	मन एव आप्येति	सुबा० ९.११
ब्रह्मणोऽस्य मुखम्	सुबा० १.६	मनः संकल्प रहित ...	संन्या० २.८४
भगन्दरं च	जा०द० ६.४५	मनसा मनसि	संन्या० २.५२
भगवञ्छरीरमिदम्	मैत्रे० १.३	मनसा वाथ	ना०परि० ३.११
भगवन् कथमयोपवीत ..	प०प० ५	मनुष्यो वापि यक्षो	यो०त० ११०
भगवन् ब्रह्मप्रणवः	प०प० ४	मनोऽध्यात्मम्	सुबा० ५.६
भगवन्बूहि मे योगम्	जा०द० १.३	मनोनिरोधिनी	निर्वा० ३७-४८
भगवन् सर्व धर्मज्ञ	हंस० १	मनोऽप्यन्यत्र	ब्र०वि० ४४
भवन्ति सुखिनो	कं०रु० ३४	मनोबुद्धिः	शारी० ४
भस्मोद्भूलित ...	शाण्ड० ३.२.१२	मनोबुद्धिरहकारः	शारी० १७
भावतीर्थं परम्	जा०द० ४.५१	मनो हि द्विविधम्	ब्र०वि० १
भावयन्ननसा	ना०परि० ५.६५	ममेति बध्यते	पैङ्ग० ४.२६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
मयैव चेतनेनेमे	संन्या० २.३८	मौनं योगासनम्	ना०परि० ४.२३
मयैवैताः	संन्या० २.३९	यं यं वापि	ना०परि० ५.२३
मयेव सकलं जातम्	कैव० १९	य इदमर्थर्वशिरो	अथ० ७
मरुदभ्यसनम्	शाण्ड० १.७.३७	य एको देवः	शाण्ड० २.५
मलं संवेद्यमुत्सृज्य	संन्या० २.६४	य एतदथर्वशिरो	म० वा० १२
महामुद्रा महाबन्धो	यो०त० २६	य एतदुपनिषदम्	पैङ्ग० ४.२९
मांसपाञ्चालिकायास्तु	याज्ञ० १४	य एवं निर्बीजम्	सुबा० ९.१५
मांसासृक्पूयविष्णुपूत्र	ना०परि० ४.२७	य एवं विदित्वा	ना०परि० ९.१४
मांसासृक्पूयविष्णमूत्रसायु	ना०परि० ३.४८	यजुर्वेदोऽन्तरिक्षम्	ब्र०वि० ५
माता पिता भ्राता	सुबा० ६.४	यज्ञेन यज्ञमयजन्त	म०वा० १०
मातापित्रोर्मलोद्भूतम्	अध्या० ६	यज्ञोपवीतम्	ब्रह्म० ५
मातृसूतकसंबन्धम्	मैत्र० २.७	यतीनां तदुपादेयम्	याज्ञ० ३३
मायति प्रमदाम्	ना०परि० ६.३५	यते: संव्यवहाराय	संन्या० २.१००
माधूकरम्	संन्या० २.८३	यतो निर्विषयस्यास्य	ब्र०बि० ३
मानावमानहीनोऽस्मि	मैत्र० ३.४	यतो वाचो निवर्तन्ते....बुधः	ब्रह्म० २२
मा भव ग्राह्य भावात्मा	मैत्र० २.२८	यतो वाचो निवर्तन्ते...भावतः	कं०रु० ३६
मायया मोहिताः	पं०ब्र० २४	यतो वाचो निवर्तन्ते ..यत्केवलं	शाण्ड० २.४
मायामात्रविकास ...	आ०बो० २.२०	यत्किंचिदपि हीनोऽस्मि	मैत्र० ३.१७
मायाविद्ये विहायैव	अध्या० ३२	यत्तत् तत्पुरुषम्	पं०ब्र० १५
मायोपाधिर्जगद्योनिः	अध्या० ३०	यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा	कैव० १६
मायोपाधिविनिर्मुक्तम्	कं०रु० ४३	यत्र ज्योतिरजस्म्	आ०बो० १.८
मारुतं मरुतां स्थाने	यो०त० ९६	यत्र यत्र मृतो ज्ञानी	पैङ्ग० ४.१९
मारुते मध्यसंचारे	शाण्ड० १.७.१०	यत्र लोका न लोका	ब्रह्म० २
मा शोचीरात्मविज्ञानी	शाण्ड० २.६	यत्र सुसा जनाः	याज्ञ० ३१
माषमात्राम्	कुण्ड० १९	यत्रास्तमितशायी	ना०परि० ५.४१
माषापूपादि	संन्या० २.९४	यत्रैष जगदाभासो	अध्या० १०
मासभात्रम्	जा०द० ६.२९	यत्सत्यं विज्ञानम्	शाण्ड० ३.१.४
मासमेकम्	शाण्ड० १.७.५०	यथा जले जलम्	पैङ्ग० ४.१५
मिताहरो	शाण्ड० १.१.१३	यथा जातरूपधरा	याज्ञ० ८
मित्रादिषु समो	ना०परि० ६.२९	यथा जातरूपधरो	जाबा० ६.३
मुदितामुदिताख्योऽस्मि	मैत्र० ३.१६	यथोनिरिस्थनो	मैत्र० १.७
मुनिः कौपीनवासाः	ना०परि० ४.३१	यथा निर्वाणकाले	क्षुरि० २३
मुमुक्षुः परहंसाख्याः	ना०परि० ६.२५	यथाऽपकृष्टम्	अध्या० १५
मूलाधारादारभ्य	मं०ब्रा० १.२.६	यथा मूढो यथा	यो०त० ७७
मृता मोहमयी	मैत्र० २.१३	यथा रज्जौ निष्क्रियायाम्	आत्म० २७
मृद्वावलाबूफलपर्णपात्रम्	शाट्या० २१	यथा रविः सर्वरसान्	अव० ९
मेद्रादुपरि निक्षिप्य	जा०द० ३.९	यथा वद्वायुचेष्टाम्	जा०द० ४.१२
मेरुशृङ्गतोल्लसिगंगा	याज्ञ० १६	यथा वा चित्त ...	यो०त० ७३
मोक्षदस्तु परम्	ब्र०वि० ५३	यथा सिंहो	शाण्ड० १.७.६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यथेष्ठधारणात्	शाण्ड० १.७.८	यस्मिन्विलोयते	ब्र०वि० १३
यथेष्ठधारणाद्वायोः	यो०त० ५०	यस्मिन्शान्तिः	नांपरि० ३.२१
यथेष्ठमेव	यो०त० १११	यस्य देवे परा भक्तिः	शाट्या० ४०
यथैनमवमन्यन्ते	नांपरि० ६.८	यस्य नाहंकृतो	संन्या० २.५५
यदा तु विदितम्	नांपरि० ३.१७	यस्य वर्णश्रिमाचारो	नांपरि० ६.१६
यदा न कुरुते	नांपरि० ३.२२	यस्य वाङ्मनसी शुद्धे	नांपरि० ३.३९
यदा पश्यति	जा०द० १०.१२	यस्य त्रिवण	पं०ब्र० ३४
यदा पिङ्गलया	जा०द० ४.४७	यस्य संकल्पनाशः	मं०ब्रा० २.३.६
यदा मनसि चैतन्यं	जा०द० १०.९	यस्य स्त्री तस्य	याज्ञ० २३
यदा मनसि वैराग्यम्	मैत्र० २.१९	यस्यैतानि सुगुप्तानि	नांपरि० ३.१४
यदा मनसि संजातं	नांपरि० ३.१२	यस्यैवम्	जा०द० १०.८
यदा यात्युन्मनीभावः	पैङ्ग० ४.२७	यस्सकृदुच्चारणः	द्वयो० ७
यदा सर्वाणि... समाधिस्थो	जा०द० १०.११	याज्ञवल्क्यो महामुनिः	मं०ब्रा० ३.१.१
यदा सर्वाणिस्वात्मन्येव	जा०द० १०.१०	याज्ञवल्क्यो ह वै	मं०ब्रा० १.१.१
यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यम्	कं०रु० २७	याममात्रं तु यो	यो०त० १२६
यदि वा कुरुते	नांपरि० ३.२९	यावच्छोपाधि	पैङ्ग० ४.११
यदृच्छालाभतो	जा०द० २.५	यावद्वा शक्यते	जा०द० ६.५
यद्यच्छृणोति	यो०त० ७०	याऽस्य प्रथमा रेखा	जाबालि० २१
यद्युत्तरोत्तराभावे	अध्या० २९	युक्तं युक्तम्	शाण्ड० १.७.७
यन्न सन्तं न चासन्तम्	नांपरि० ४.३३	यूनश्च परदारादि	यज्ञा० २६
यन्मनस्त्रिजगत्	मं०ब्रा० ५.१.५	ये च संतानजा	संन्या० २.११
यन्मायया मोहित०	मैत्र० २.२५	येऽत्राधिकारिणो	अव० १६
यः पिता स पुनः	यो०त० १३३	येन केन प्रकारेण	जा०द० ३.१२
यमनियमयुतः	शाण्ड० १.५.१	येन केन आसनेन	शाण्ड० १.३.१३
यमनियमासनाभ्यास ...	शाण्ड० १.३.१५	येन प्रकोशते	पं०ब्र० २५
यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः	जा०द० ५.३	येन भूचरसिद्धिः	यो०त० ५९
यमेवैष विद्याच्छुच्चिम ..	शाट्या० ३७	येन मार्गेण	शाण्ड० १.७.३६-ग
यः शतरुद्रियमधीते	कैव० २५	येन सम्यक्मरिज्ञाय	संन्या० २.५७
यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो	नांपरि० ६.१३	येन सर्वमिदम्	पं०ब्र०९, ब्रह्म० ८
यशस्विन्या	जा०द० ४.३७	येन सर्वमिदम्	नांपरि० ३.८३
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये	जा०द० ४.१६	येन सर्वमिदं प्रोतम्	ब्रह्म० ८
यः शृणोति सकृदापि	मैत्र० ३.२५	येनार्थवन्ति तं किम्	आत्म० १०
यस्तु द्वादशसाहस्रम्	संन्या० २.१२३	येनावृतं सर्वमिदम्	नांपरि० ९.२०
यस्माजातो	यो०त० १३२	येनासनं विजितम्	शाण्ड० १.३.१४
यस्मात्सर्वमाप्नोति	शाण्ड० ३.२.४	योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि	यो०त० १
यस्मात् सुदुश्वरम्	शाण्ड० ३.२.८	योगध्यानं सदा	ब्र०वि० ५९
यस्मान्महत ईशः	शाण्ड० ३.२.६	योगयज्ञः सदैका०	शाट्या० १५
यस्मिन् गृहे विशेषेण	नांपरि० ६.१२	योगी कुम्भकनास्थाय	यो०त० ६९
यस्मिन्त्रिदमोतम्	शाण्ड० २.३	योगो हि ज्ञानहीनस्तु	यो०त० १५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
योगो हि बहुधा	यो०त० १९	वर्णं रक्म्	पं०ब्र० १७
योऽग्नौ रुद्रो	अथ० ६	वर्णाश्रमं सावयं	मैत्र० १.१८
योऽतीत्यः स्वात्रमान्	नां०परि० ६.१७	वर्णाश्रमाचारयुता	मैत्र० १.१७
योनिं वामेन	शाण्ड० १.३.७	वर्षाभ्योऽन्यत्र	संन्या० २.१९
योऽन्तः शीतलया	संन्या० २.५६	वहिस्त्रिकोणम्	यो०त० १५
यो भवेत्पूर्वसंन्यासी	याज्ञ० १०	वाक्याणिपाद...	शारी० ३
योऽयमत्रमयः	कं०र० २४	वाक्यमप्रतिबद्धं	अध्या० ४०
यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णान्	अव० ३	वाक्सिद्धिः कामरूपत्वं	यो०त० ७४
यो वै रुद्रः स भगवान्	अथ० २	वाग्ध्यात्मम्	सुबा० ५.१०
रथ्यायां बहुवस्त्राणि	संन्या० २.११८	वागेवास्या	कौ०ब्रा० ३.५
रसनाद्वायुमाकृष्ण	शाण्ड० १.७.४५	वागदण्डः कर्मदण्डश्च	नां०परि० ६.९
रसना पीड्यमानेयम्	ब्र०वि० ७३	वागदण्डे मौनम्	संन्या० २.११६
रागं द्वेषं मदम्	नां०परि० ३.७०	वाचमेवाप्येति	सुबा० ९.६
राग द्वेष वियुक्तात्मा	नां०परि० ३.३४	वाचिकोपांशुरुचैश्च	जां०द० २.१४
रागाद्यपेतम्	जां०द० २.८	वातजाः पितजा	जां०द० ६.३०
रागाद्यसंभवे	जां०द० ६.५१	वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां	नां०परि० ५.४६
राजवार्तादि	नां०परि० ३.५८	वानप्रस्था अपि	आश्रमो० ३
रिपौ बद्धे स्वदेहे	याज्ञ० २८	वामदेवम्	पं०ब्र० १०
रुद्रग्रन्थिर्भृत्यर्मध्ये	ब्र०वि० ७१	वामपादपार्णिं	शाण्ड० १.७.४२-घ
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या	यो०त० ४२	वामपादमूलेन	शाण्ड० १.७.४२-ग
लक्ष्यालक्ष्य विहीनो	मैत्र० ३.१३	वामाङ्गेन	यो०त० ११४
लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां	मं०ब्रा० १.३.५	वामांसदक्षकट्यन्तम्	पं०ब्र० १५
लब्धात्मा जिह्व्या	संन्या० २.३३	वायुना गतिमावृत्य	यो०त० ११६
लभते योगयुक्तात्मा	यो०त० १४०	वायुना सह चित्तम्	यो०त० ८२
लभ्यते यदि	यो०त० १२७	वायुपरिचितो	यो०त० ८२
लययोगश्चित्तलयः	यो०त० २३	वायुभक्षोऽम्बुभक्षो	कुण्ड० ४
लवणं सर्षपम्	यो०त० ४७	वारिवत्स्फुरितं	यो०त० १०
लिङ्गदेहगता	आ०बो० २.२४	वायुस्तेजस्तथा	ब्र०वि० १४
लिङ्गे सत्यपि	नां०परि० ४.३२	वारुणे वायुमारोप्य	यो०त० ८९
लीनवृत्तेरनु०	अध्या० ४२	वासनानुदयो भोग्ये	अध्या० ४१
लोकत्रयेऽपि कर्तव्यम्	जां०द० १.२४	विक्षेपो नास्ति	अव० २३
लोकवद्वार्याऽसक्तो	कुण्ड० ७	विचार्यं सर्वधर्मेषु	हंस० २
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा	अध्या० ३	विचित्रा शक्तयः	संन्या० २.४२
वक्त्रेण सीत्कार	शाण्ड० १.७.१३-३	विजानाति तदा तस्य	कं०र० ३३
वक्रं सूर्चीं प्रवक्ष्यामि	व०सू० १	विज्ञात ब्रह्मतत्त्वस्य	अध्या० ४८
वत्सराद्विहविद्वान्स्यात्	जां०द० ६.११	विज्ञानोऽस्मि	मैत्र० ३.३
वमनाहारवद्यस्य	मैत्र० २.१८	विज्ञेयोऽक्षरं तन्मात्रो	पैङ्ग० ४.२३
वर्जयित्वा	यो०त० ६२	विदित्वा स्वात्मरूपेण	कं०र० ३९
वर्णत्रयात्मकाः	जां०द० ६.२	विद्याभ्यासे प्रमादो	संन्या० २.१०३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
विद्वान्स्वदेश ..	मैत्रे० २.११	वेदतत्त्वार्थ विहितम्	क्षुरि० २
विधिवत्प्राण....	शाण्ड० १.७.९	वेदलौकिक मार्गेषु	जा०द० २.१०
विधूमे च प्रशान्ताग्रे	ना०परि० ६.१०	वेदशास्त्राणि	ब्र०वि० ३०
विधूमे सत्रमूसले	संन्या० २.११	वेदादेव विनिर्मोक्षः	जा०द० १.१८
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्सन्यास ...	ना०परि० ३.९	वेदान्त विज्ञान ...	कैव० ४
विना प्रमाण सुषुत्वम्	आत्मो० ६	वेदान्ताभ्यास निरतः	ना०परि० ६.२७
विनायकं	जा०द० ६.४०	वेदैरनेकैरहमेव वेदो	कैव० २२
विनियोगान्प्रवक्ष्यामि	जा०द० ६.२१	वेदोक्तेन ...कृच्छ्र	जा०द० २.३
विपरीतं ब्रह्मचर्यम्	कं०रु० ११	वेदोक्तेन ..विना	जा०द० १.७
विपर्यस्तो निदिध्यासे	अव० १९	वेदोऽहमागमान्तैरा०	आ०बो० २.८
विभक्तो ह्ययमादेशो	ना०परि० ८.२१	वैराग्य संन्यासी	संन्या० २.१८
विभेदजनके	जा०द० ४.६३	वैराग्यस्य फलम्	अध्या० २८
विमुक्तोऽहम्	ब्र०वि० १०३	व्यवहारो लौकिको	अव० २५
विरक्तः प्रव्रजेष्ठीमान्सरक्तस्तु	ना०परि० ३.१३	व्याघ्र बुद्ध्या	अध्या० ५४
विरक्तस्य तु	जा०द० ६.४७	व्यात्तवक्त्रो	शाण्ड० १.३.६
विरज्य सर्वभूतेभ्यः	ना०परि० ६.२०	व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये	जा०द० ४.२८
विरलत्वं व्यवहतेरिष्टम्	अव० २२	व्यावृत्तानि परम्	कं०रु० ३८
विराट् प्रणवः	ना०परि० ८.३	व्रतं नाम	शाण्ड० १.२.११
विविक्तदेशे च	कैव० ५	व्रतयज्ञतप ...	संन्या० २.७
विविदिषासंन्यासी	ना०परि० ४.३९	शक्तिमध्ये मनः	शाण्ड० १.७.१८
विवेकयुक्तिबुद्ध्याऽहम्	आ०बो० २.११	शङ्खिनी नाम	जा०द० ४.२२
विशीर्णान्यमलान्येव	ना०परि० ३.३०	शतं कुलानां प्रथमम्	शाट्या० ३३
विश्वजित्रथमः पादः	ना०परि० ८.१२	शनैः पिङ्गलया	जा०द० ६.६
विश्वधिकोऽहम्	ब्र० वि० १०४	शब्दकाललयेन	मं०ब्रा० २.२.४
विश्वाय	कुण्ड० १४	शब्दमयावृतो यावत्	ब्र०वि० १५
विश्वोदराभिधा	जा०द० ४.२३	शब्दस्पृशरूप	शारी० ६
विश्वोदराभिधायास्तु	जा०द० ४.३९	शब्दस्पृशश्श	शारी० १९
विषं चैवायुधम्	संन्या० २.१०७	शब्दस्पृशादियो	मैत्रे० १.५
विषयव्यावर्तन ...	मं०ब्रा० १.१.८	शब्दाक्षरं परम्	ब्र०वि० १६
विषयानन्दवाङ्गा	आ०बो० १६	शरीरं तावदेव	जा०द० ४.१
विषयी विषयासक्तो	ब्र०वि० ५०	शरीरस्थं प्राणम्	शाण्ड० १.४.३
विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो	मं०ब्रा० १.१.७	शरीरान्तर्गताः	शाण्ड० १.३.१२
विषुवायन कालेषु	जा०द० ४.५५	शरीर्यप्यशरीर्येष	आत्म० १४
विष्टितो मूत्रितो	ना०परि० ५.५५	शाटीद्वयम्	ना०परि० ७.६
विष्णुं ध्यायतु	अव० २८	शाण्डल्यो ह चा	शाण्ड० १.१.१
विष्णुर्नाम महायोगी	यो०त० २	शास्त्रज्ञानात्पुण्य ...	संन्या० २.२०
विष्णुलिङ्गं द्विधा	शाट्या० ९	शास्त्रज्ञानात्पुण्यलोक	ना०परि० ५.४
वीरध्वाने वानाशके	जाबा० ५.२	शिखाज्ञानमयी	ब्रह्म० १४
वृत्तयस्तु तदानीयमप्यज्ञाता	अध्या० ३६	शिखा ज्ञानमयी	ना०परि० ३.८९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
शिखा ज्ञानमयी यस्य	शाट्या० १८	संधिश्व विग्रहो	संन्या० २.१०६
शिखा तु दीप	ब्र०वि० ९	संन्यस्तमिति	शाट्या० ३५
शिरोमध्यगते	जा०द० ६.३७	संन्यस्याग्रिम्	कं०रु० ४
शिरोरोगा	जा०द० ६.३२	संन्यासभेदैराचारभेदः	ना०परि० ५.२
शिव एव स्वयम्	आत्मो० २०	संन्यासं पातयेद्यस्तु	संन्या० २.३
शिवमात्मनि	जा०द० ४.५९	संन्यासः षड्विधो...कुटीचको	ना०परि० ५.१२
शिष्याणाम्	संन्या० २.१०२	संन्यासिनम्	संन्या० २.९
शिष्याश्व	यो०त० ७८	संन्यासे निश्चयम्	संन्या० २.२
शीतोष्णाहार ...	मं०ब्रा० १.१.३	संपीड्य सीविनीम्	शाण्ड० १.३.९
शीर्षोपरि	मं०ब्रा० १.२.१०	सम्पूर्णकुभवद्वायोर्धारणम्	जा०द० ६.१३
शुचौ देशे सदा	ना०परि० ४.१८	संप्रत्यवसितानाम्	संन्या० २.६
शुद्धज्ञानामृतम्	ब्र०वि० ४६	संभाषणं सह	ना०परि० ६.३६
शुद्धमानसः	पैङ्ग० ४.१२	संभूतैर्वायु	कुण्ड० २१
शुद्ध स्फटिकसंकाश घृत..	यो०त० १००	संमाननं परां हानिं	ना०परि० ५.५६
शुद्धस्फटिक संकाशम्	यो०त० ९०	संमानाद्ब्राह्मणो	ना०परि० ३.४०
शुद्धोऽहमद्वयोऽहम्	आ०बो० २.९	संयुक्तमेकताम्	आत्म० २४
शुद्धोऽहमान्तरोऽहम्	आ०बो० २.१०	संयुक्तमेतत्क्षरम्	ना०परि० ९.८
शून्येष्वेवावकाशेषु	ना०परि० ६.६	संविभज्य	कुण्ड० ३
शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते	अव० १८	संशान्तसर्वसंकल्पा	मैत्र० २.३०
शोकमोह विनिर्मुक्तम्	आ०बो० १.५	संसारदोषदृष्ट्यैव	ना०परि० ६.२८
श्मशानेषु दिगन्तेषु	याज्ञ० १७	संसारमेव निःसारम्	ना०परि० ३.१५
श्रद्धालुमुक्तिमार्गेषु	ना०परि० ६.२१	स आगच्छतील्यम्	कौ०ब्रा० १.५
श्री पर्वतं शिरः स्थाने	जा०द० ४.४८	स एतं देवयानं	कौ०ब्रा० १.३
श्रुत्या यदुक्रम्	ब्र०वि० ३२	स एतेन प्रज्ञेनात्मना	आ०बो० १.७
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च	ना०परि० ३.३८	स एव माया	कैव० १२
श्रोत्रमध्यात्मम्	सुबा० ५.२	स एव लययोगः	यो०त० २४
श्रोत्रं त्वक्वक्षुषी	शारी० १८	स एव संसारतारणाय	मं०ब्रा० २.४.४
श्रोत्रमेवाप्येति	सुबा० ९.२	स एव सर्वम्	कैव० ९
श्रोत्रादीनि	शारी० २	स एष जगतः	कं०रु० १२
श्रोत्रियन्नम्	संन्या० २.८२	सकले सकलो	ब्र०वि० ३९
षट्संख्या अहोरात्र	हंस० ११	सकारं च हकारम्	ब्र०वि० १६
षट्डिवकारविहीनोऽस्मि	मैत्र० ३.१८	स खल्वेवं यो	आरु० ५
षण्ठोऽथ विकलोऽप्यन्थो	ना०परि० ३.३	सखा मा गोपायेति	संन्या० २.१२
षष्ठि कुलान्यतीतानि	संन्या० २.१०	सगुणं ध्यानमेतत्	यो०त० १०५
संकल्पादपम्	संन्या० २.७०	सच्चिदानन्दमात्रोऽहम्	ब्र०वि० १०९
संकल्पादिकं	मं०ब्रा० २.४.५	स तं होवाच साधु	जाबालि० ३
संकल्पोऽध्यवसायश्च	कं०रु० १०	स तज्जो बालोन्मतः....	मं०ब्रा० ५.१.७
संत्यजेत्सर्वकर्माणि	ना०परि० ६.३९	स तमुवाच यथा	जाबालि० १५
संदिग्धः सर्वभूतानां	ना०परि० ४.३५	स तेन पृष्ठः सर्वम्	जाबालि० ११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स तेषां सत्त्वांशम्	पैङ्ग० १.९	सर्वदेवमयम्	पं०ब्र० २०
सत्कर्मपृथिपाकतो	पैङ्ग० २.१७	सर्वदेवस्य मध्यस्थो	ब्र०वि० ६२
सत्त्वमथास्य	प०ब्र० ३	सर्वपरिपूर्ण तुरीयातीत	मं०ब्रा० २.५.१
सत्त्वसमष्टित	पैङ्ग० १.१०	सर्वपापविनिर्मुक्तः	जा०द० ६.१९
सत्यं ज्ञानमनन्तम्	जा०द० २.९	सर्वपापानि	जा०द० ७.१०
सत्यज्ञानं सात्त्विकम्	शारी० १३	सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि	मैत्र० ३.२१
सत्यमित्युपनिषत्	जाबालि० २३	सर्व भावान्तरस्थाय	संन्या० २.४१
सत्यासत्यादिहीनोऽस्मि	मैत्र० ३.२३	सर्वभूतस्थमात्मानम्	कैव० १०
सत्समृद्धं स्वतः	अध्या० ६४	सर्वभूतस्थमेकम्	आ०ब्र० १.४
सदा समाधिं कुर्वीत	ब्र०वि० ६५	सर्वभूतस्थितं देवम्	ब्र०वि० ७७
सदा साक्षिस्वरूप ...	जा०द० १०.५	सर्वभूतहितः	ना०परि० ३.५५
सदगुरुसमीपे	प०प० २	सर्वभूतधिवासं च	ब्र०वि० २२
सद्गूप्तं परमं ब्रह्म	कं०र० ३२	सर्वभूतान्तरात्मा	ब्र०वि० १०५
सन्ध्ययोद्वाहाणः	शाण्ड० १.७.४६	सर्वकार्णायसम्	पं०ब्र० ३७
स पञ्चभूतानाम्	पैङ्ग० १.८	सर्व पञ्चात्मकम्	पं०ब्र० ३१
स पुनस्तम्	जाबालि० १४	सर्व सत्यं परम्	जा०द० १.१०
स ब्रह्मा भूतान्तरम्	मं०ब्रा० ४.१.२	सर्वरोगनिवृत्तिः	जा०द० ६.२४
स ब्रह्मा स शिवः	कैव० ८	सर्वरोगविनिर्मुक्तो	जा०द० ६.२३
समग्रीवशिरः कायः	जा०द० ३.३	सर्वलोकस्तुतिपात्रः	मं०ब्रा० २.५.२
समदुःखसुखः	ना०परि० ५.६४	सर्वलोकात्मकः	अव० १५
समस्तसाक्षी सर्वात्मा	ब्र०वि० १०७	सर्वलोकेषु	यो०त० १०९
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या	अध्या० ६०	सर्व विघ्रहरे	यो०त० ६४
समाधिः समतावस्था	यो०त० १०७	सर्ववेदान्त सिद्धान्तसारम्	कं०र० ४७
समाधौ मृदित ...	मं०ब्रा० २.३.४	सर्वव्यापारमुत्सृज्य	यो०त० ७९
समासकं यथा चित्तम्	शाट्या० २, मैत्र० १.११	सर्वव्यापिनमात्मानम्	ब्रह्म० २३
समुद्रे लीयते	जा०द० १०.७	सर्वशरीरेषु	मं०ब्रा० १.१.९
समुन्तरशिरः पादो	जा०द० ३.११	सर्वस्य धातारम्	ना०परि० ९.१८
समुन्तरशिरः पादो	शाण्ड० १.३.११	सर्वाक्षरमयः	ना०परि० ८.५
सम्यक्कथय मे	जा०द० ५.१	संवाजीवे सर्वसंस्थे	ना०परि० ९.६
स यदा प्राणेन	सुबा० ४.२	सर्वात्मकोऽहम्	कुण्ड० २६
स यदा०ऽस्माच्छरीरात्	कौ०ब्रा० ३.४	सर्वाधारः परम्	ना०परि० ८.४
सरस्वती	जा०द० ४.२१	सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः	ब्र०वि० ११०
सरस्वती कुहूश्वेव	जा०द० ४.१४	सर्वान्कामान्परित्यज्य	प०हं० ३
सर्वकारणमव्यक्तम्	जा०द० ८.९	सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः	ब्र०वि० १०६
सर्वज्ञेशो	पैङ्ग० १.१२	सर्वायुधधृताकारम्	यो०त० १०१
सर्वत्रपूर्वरूपो	मैत्र० ३.१२	सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि	मैत्र० ३.१५
सर्वत्र सर्वतः	अध्या० १३	सर्वेषां दोषरत्नानाम्	याज्ञ० २२
सर्वदा समरूपोऽस्मि	मैत्र० ३.२४	सर्वेषां प्राणिं	स्व० १-क
सर्वदुष्टप्रशमनम्	पं०ब्र० ९	सर्वेषामेव गन्धानाम्	सुबा० १३.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सर्वेषामेव पापानाम्	संन्या० २.११२	स होवाच..स्तनयितौ	कौ०ब्रा० ४.५
सर्वेषु कालेषु	प०प० ३-ग	स होवाच..स्थूल..	पैङ्ग० २.२
सर्वेषु देहेषु	हंस० ५	स होवाचाकाशं	मं०ब्रा० ४.१.२
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम्	कं०रु० ४६	स होवाचाथर्वा अथेदं	शाण्ड० १.४.२
सविषयं मनो बन्धाय	मं०ब्रा० ५.१.१	स होवाचाथर्वा यस्माच्च	शाण्ड० ३.२.२
संव्यद्विक्षिणनाडीस्थो	शाण्ड० १.७.४०	स होवाचाथर्वा	शाण्ड० २.२
सव्येतरेण	जा०द० ६.३९	स होवाचाथर्वा सत्यम्	शाण्ड० ३.१.२
सव्ये दक्षिणगुल्कम्	शाण्ड० १.३.२	सांकृति..नाडी	जा०द० ५.२
सशरीरं समारोप्य	ना०परि० ८.८	सांकृते..योगम्	जा०द० १.४
सशिखं वपनम्	ब्रह्म० ६, प०ब्र० ६, ना०परि० ३.८१	सा कालपुत्रपदवी	ना०परि० ३.४९
सशिखान्केशान्	कं०रु० २	साक्ष्यनपेक्षोऽहम्	आ०बो० २.३
स संन्यासः षड्विधो	संन्या० २.२३	सात्त्विकराज ...	शारी० ७
स साध्वसाधुकर्म्याम्	कं०रु० ४०	सा त्याज्या	ना०परि० ३.५०
सह तैत्तैव	कुण्ड० ५	साधयन्वन्वक्रुप्तभानि	ब्र०वि० ७५
सहस्रभानुमच्छुरिता	म०वा० ७	साधुभिः पूज्यमाने०	अध्या० ४७
सहस्रमेकम्	ब्र०वि० ७९	सात्रिध्ये विषयाणां	ना०परि० ३.६८
सहस्ररे जलज्योति	मं०ब्रा० १.४.१	सा पुनर्विकृतिम्	पैङ्ग० १.४
स होवाच..अमानित्वादि	पैङ्ग० ४.२	सामवेदस्तथा	ब्र०वि० ६
स होवाच ..आकाशे	कौ०ब्रा० ४.६	सा शक्तिर्येन	शाण्ड० १.७.३६-घ
स होवाच..आदर्शे	कौ०ब्रा० ४.१०	सा सत्यता सा शिवता	संन्या० २.६२
स होवाच..आदित्ये	कौ०ब्रा० ४.२	सा हि वाचामगम्य	संन्या० २.४४
स होवाच एवैषोऽग्नौ	कौ०ब्रा० ४.८	सिंहासनं भवेत्	जा०द० ३.६-३
स होवाच एवैषोऽप्सु	कौ०ब्रा० ४.९	सिंहे वा योगिना	यो०त० ६०
स होवाच ...चन्द्रमसि	कौ०ब्रा० ४.३	सिद्धमन्त्रम्	संन्या० २.८८
स होवाच...छाया ..	कौ०ब्रा० ४.१३	सुखदुःखैः समायुक्तम्	यो०त० ११
स होवाच..तत्त्वमसि	पैङ्ग० ३.२	सुखम् ह्यवमतः	ना०परि० ३.४१
स होवाच..दक्षिणेऽक्षन्	कौ०ब्रा० ४.१६	सुखाद्यनुभवो	अध्या० ४९
स होवाच नारायणः	मं०ब्रा० १.१.२	सुखासनवृत्ति ...	मं०ब्रा० १.१.५
स होवाच प्राणोस्मि	कौ०ब्रा० ३.२	सुखासनसमाख्यं	जा०द० ३.२
स होवाच..प्राज्ञ ..	कौ०ब्रा० ४.१५	सुखासनस्थो	शाण्ड० १.७.१३-१
स होवाच..प्रति..	कौ०ब्रा० ४.११	सुखी भवति सर्वत्र	कं०रु० २८
स होवाच ये वै	कौ०ब्रा० १.२	सुजीर्णोऽपि	संन्या० २.१०९
स होवाच ..वायौ	कौ०ब्रा० ४.७	सुलभश्चायमत्यन्तम्	संन्या० २.५०
स होवाच..विद्युति	कौ०ब्रा० ४.४	सुषिरो ज्ञानजनकः	शाण्ड० १.७.३९
स होवाच...शब्दः	कौ०ब्रा० ४.१२	सुषुप्तिसमाध्योः	मं० ब्रा० २.३.३
स होवाच ...शारीरः	कौ०ब्रा० ४.१४	सुषुप्ता तु परे	क्षुरि० १६
स होवाच ...सदेव	पैङ्ग० १.२	सुषुप्ता पिङ्गला	जा०द० ४.७
स होवाच..सव्येऽक्षन्	कौ०ब्रा० ४.१७	सुषुप्तायाः शिवो	जा०द० ४.३५
		सुषुप्तायाः सव्यभागे	शाण्ड० १.४.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सुष्टुलिसम्	यो०त० ३३	स्वरूपभूत आनन्द.	कं०र० ३५
सूक्ष्मभुक् चतुरात्माथ	ना०परि० ८.१३	स्वरूपानुसंधान ..	संन्या० २.७५
सूचनात्सूत्रम्	ना०परि० ३.८२	स्वरेण सन्ध्येयोगम्	ब्र०वि० ७
सूचनात्सूत्रमित्याहः	ब्रह्म० ७	स्वल्पोऽपि बोधो	आ०बो० २.२९
सूत्रमन्तर्गतम्	ब्रह्म० १०, प०ब्र० ११	स्वव्यतिरिक्तम्	संन्या० २.७६
सूत्रमन्तर्गतं येषाम्	ना०परि० ३.८५	स्वस्तिकं गोमुखम्	जा०द० ३.१
सूर्यमण्डलमध्येऽथ	ब्र०वि० ७	स्वस्तिक गोमुख ...	शाण्ड० १.३.१
सूर्यस्य ग्रहणम्	ब्र०वि० ५७	स्वस्थ क्रमेणैव	प०प० ३
सूर्यालोकपरिस्पन्द..	शाण्ड० १.७.२६	स्वस्वरूपजः	ना०परि० ९.२३
सेवाभिः परितोष्णैनम्	ना०परि० ६.२२	स्वात्मनैव	आत्म० १२
सोऽग्रे भूतानाम्	सुबा० १.४	स्वात्मन्यारोपित ...	अध्या० २१
सोऽत्ते वैशानरो	सुबा० २.४	स्वात्मन्येव सदा	अध्या० ४
सोमसूर्यद्युमोर्ध्ये	शाण्ड० १.७.४२-क	स्वात्मवत्सर्वभूतेषु	जा०द० १.१५
सोऽविमुक्तः कस्मिन्	जाबा० २.२	स्वानुभूत्या स्वयम्	अध्या० ६५
सोऽहमर्कः परम्	म० वा० ११	स्वेनावृतं सर्वमिदं	ना०परि० ९.२०
सोऽहं ब्रह्म	जा०द० १०.६	स्वैरं स्वैरविहरणम्	अव० ७
सौबालबीज ...	सुबा० १६.१	हंस एव परम्	ब्र०वि० ६१
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य	ना०परि० ४.२८	हंस ज्योतिरनूपम्यम्	ब्र०वि० ६४
स्थानत्रयव्यतीतेऽहम्	ब्र०वि० १०८	हंसविद्यामृते	ब्र०वि० २६
स्थानानि स्थानिभ्यो	सुबा० ५.१	हंसः शुचिषद्वसुः	ना०परि० ५.१०
स्थावरं जग्नमम्	संन्या० २.११०	हंस हंसेति यो	ब्र०वि० ३४
स्थिरमात्मदृढम्	क्षुरि० ६	हंसो जटाधारी	ना०परि० ५.१४,
स्थूलदेहगता	आ०बो० २.२३		संन्या० २.२६
स्नानं त्रिष्वरणं प्रोक्तम्	ना०परि० ४.२२		जा०द० ८.३
स्नानं पानम् .. नदीपुलिशायी	कं०र० ७		सुबा० ९.७
स्नानं पानम्...स्तूयमानो	कुण्ड० १२		सुबा० ५.११
स्नष्टकामो जगद्योनि	पैङ्ग० १.७		जा०द० ३.६-२
स्वच्छतोर्जितता	संन्या० २.७२		ना०परि० ३.६७
स्वदेहमलनिर्मोक्षो	जा०द० १.२०		पैङ्ग० १.६
स्वदेहस्य	कुण्ड० २२		सुबा० २.३
स्वप्रेऽपि यो हि	ना०परि० ५.३२		आ०बो० १.६
स्वप्रे स जीवः	कैव० १३		मैत्र० १.१२
स्वप्रकाशचिदानन्दम्	ब्र०वि० २१		कैव० ६
स्वप्रकाशमधिष्ठानम्	अध्या० ८		पैङ्ग० ४.१४
स्वप्रकाशे परानन्दे	आ०बो० २.२६		सुबा० ४.१
स्वप्नसङ्गमुदासीनम्	अध्या० ५१		शाण्ड० १.७.१३-२
स्वपुखेन	जा०द० ४.१३		मैत्र० २.१४
स्वयेव सर्वतः	कुण्ड० २७		ब्रह्म० ४
स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः	अध्या० २०		ना०परि० ४.१२
स्वयोनावृपशान्तस्य	मैत्र० १.८		

॥ इति मन्त्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥